श्री धर्मकल्पद्रुम

तृतीय खण्ड

SRI DHARMA KALPADRUMA

Vol. III

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA
AS THE BASIS OF
All Religion and Philosophy

श्री स्वामी दयानन्द विरचित

प्रकाशक-
श्री भारत धर्म महामण्डल
महामण्डल भवन, लहुराबीर, वाराणसी के
शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित
चतुर्थ संस्करण
2005

श्री धर्मकल्पद्रुम
तृतीय खण्ड
श्री स्वामी दयानन्द विरचित

ॐ तत्सत्

श्री धर्मकल्पद्रुम

तृतीय खण्ड

Sri Dharma Kalpadruma

Vol. III

An Exposition of Sanatan Dharma

As the Basis of

All Religion and Philosophy

प्रकाशक–

श्री भारत धर्म महामण्डल, वाराणसी

के शास्त्र प्रकाश विभाग द्वारा
प्रकाशित

चतुर्थ संस्करण

सन् २००५ ई. मूल्य - १५०/-

ॐ तत्सत्

श्री धर्मकल्पद्रुम

तृतीय खण्ड

Sri Dharma Kalpadruma

Vol. III

An Exposition of Sanatan Dharma

As the Basis of

All Religion and Philosophy

प्रकाशक–

श्री भारत धर्म महामण्डल, वाराणसी

के शास्त्र प्रकाश विभाग द्वारा
प्रकाशित

चतुर्थ संस्करण

सन २००५ ई.   मूल्य - १५०/-

प्रकाशक--
काशी
श्री भारत धर्म महामण्डल
के शास्त्र प्रकाशक विभाग द्वारा
प्रकाशित

मुद्रक :
प्रभा प्रेस,
चौकाघाट, वाराणसी
फोन- (०५४२)-२२०२२३७, मो०-९८३८९२७०९५

श्री भारतधर्म महामण्डल

हिन्दू जाति की यह भारतवर्ष व्यापी महासभा है। सनातन धर्म के प्रधान-प्रधान धर्माचार्य इसके संरक्षक हैं। इसके कई श्रेणी के सभ्य तथा अनेक शास्त्रसभाएँ हैं। हिन्दू नर-नारी मात्र इसके साधारण सभ्य हो सकते हैं। सूर्योदय इसका मासिक पत्र है। इसके अतिरिक्त समाज हितकारी कोष निर्माण की योजनाधीन है।

पत्र व्यवहार का पता
प्रधानमंत्री
श्री भारतधर्म महामण्डल
प्रधान कार्यालय
महामण्डल भवन
लहुराबीर, वाराणसी

श्री विश्वनाथो जयति ।

श्री धर्मकल्पद्रुम

(तृतीय खण्ड सम्बन्धीय विज्ञापन)

श्री भगवान् की कृपा से श्रीधर्मकल्पद्रुम का तीसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। प्रथम खण्ड में प्रथम काण्ड की साधारण धर्म सम्बन्धीय सात शाखाएँ और द्वितीय काण्ड की वेद और शास्त्र सम्बन्धीय आठ शाखाएँ प्रकाशित हुई हैं। दूसरे खण्ड में विशेष धर्म की चार शाखाएँ प्रकाशित हुई हैं। अब इस तृतीय खण्ड में विशेष धर्म के आर्य जाति तथा अनार्यजाति से उसकी विशेषता, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म, प्रवृत्ति और निवृत्तिधर्म और आपद्धर्म नामिका पाँच शाखाएँ और चतुर्थ काण्ड के साधनमार्ग की भक्ति और योग और मन्त्रयोग नामिका दो शाखाएँ प्रकाशित हुई हैं। इसी प्रकार से आठ काण्डों में पूर्ण यह बृहत् ग्रन्थ कई खण्डों में प्रकाशित होगा।

पूजनीय ग्रन्थकर्त्ता का यह विचार है कि सर्वलोक-हितकर साधारण धर्म और विभिन्न अधिकारियों के उपयोगी विशेष धर्म और वेद और शास्त्रोक्त सब धर्मसिद्धान्त और धर्मजिज्ञासुओं के जानने योग्य सब विज्ञान इस बृहत् ग्रन्थ में विभिन्न विभिन्न शाखाओं में इस प्रकार से प्रकाशित किये जायं कि जिससे धर्मजिज्ञासुओं का सब अभाव एक ही पुस्तक के द्वारा दूर हो सके, सनातन धर्म के सर्वलोकहिंतकारी स्वरूप में साधारण लोगों की जो जो शङ्काएँ हो सकती हैं उनकी पूरी मीमांसा इस बृहत ग्रन्थ में रहे, धर्म शिक्षा के लिये यह बृहत् ग्रन्थ आधाररूप हो और धर्मवक्ता, धर्मशिक्षक एवं आचारवान् धार्मिक के लिये समान रूप से यह बृहत् ग्रन्थ मार्गदर्शक हो।

किस प्रकार की शाखाओं से इस बृहत् ग्रन्थ का प्रत्येक काण्ड पूर्ण है सो तीनों खण्डों की विषय-सूची से पाठकवर्गों को विदित होगा और कैसे-कैसे विषयसमूह इस बृहत ग्रन्थ में दिये जायेंगे सो माननीय ग्रन्थकारजी ने प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में प्रकाशित किया है। इन सब विषयों को विचार कर इस बृहत् ग्रन्थ के सम्पूर्ण प्रकाशित होने से पूर्व यदि कोई महानुभाव और चिन्ताशील सज्जन भविष्यत् खण्डों में प्रकाशित होने वाले विषयों में न्यूनाधिक करने के लिये कोई शुभ प्रस्ताव रखेंगे तो उसे सादर ग्रहण किया जायेगा।

निवेदक
चीफ सेक्रेटरी– शास्त्र प्रकाशन विभाग,
श्रीभारत धर्म महामण्डल,
महामण्डल भवन, लहुराबीर, वाराणसी

***

भूमिका

श्रीधर्मकल्पद्रुम

तृतीय खण्ड

श्रीधर्मकल्पद्रुम तृतीय खण्ड का यह चतुर्थ संस्करण है। तीनों संस्करण बहुत पहले समाप्त हो चुके थे। श्री भारत धर्म महामण्डल सदृश विराट् सनातन संस्था है। इसके उद्देश्यों की पूर्ति में कभी-कभी अप्रत्याशित विघ्न उपस्थित होते रहते हैं। परिणामत: इसके उद्देश्य भी बाधित हो जाते हैं। श्री भारत धर्म महामण्डल के संस्थापक महर्षि स्वामी ज्ञानानन्द जी सरस्वती और उनकी योग्यतम शिष्या श्रीमती विद्या देवी जी के सत्प्रयास से इस सर्वजन प्रिय संस्था का उत्कर्ष समस्त भूमण्डल में अपनी पराकाष्ठा पर था। इसकी पुष्टि के लिये जो संस्थाएँ बनायी गयी थीं, वे अपना ही उद्देश्य पूरा करने से विरत हैं। इस परिस्थिति में भी श्री भारत धर्म महामण्डल अन्य विभागों के साथ ही प्रकाशन विभाग का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने के लिये अग्रसर है।

यह ग्रन्थ 'यथा नाम तथा गुण:' की उक्ति के अनुसार सचमुच भारतीय ज्ञान-विज्ञान का कल्पद्रुम ही है। कल्पवृक्ष की छाया में बैठने वाला अपनी मनोकामनाओं की तत्काल पूर्ति से प्रसन्न हो उठता है। इस महान् ग्रन्थ के स्वाध्याय से भारतीय संस्कृति, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान, शास्त्रों, उपनिषदों, पुराणों, तन्त्रों, आगमों में वर्णित विश्व विज्ञान के सनातन रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। साधारण धर्म से लेकर शास्त्रोक्त धर्म सिद्धान्तों की व्याख्या से यह महान ग्रन्थ परिपूरित है। इस एक ग्रन्थ के आठों भागों के अध्येता की सारी धर्म जिज्ञासायें शान्त हो सकती हैं, यह निश्चय है।

इस ग्रन्थ को इसी उद्देश्य से 'धर्मकल्पद्रुम' संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसमें प्रकाशित सभी निबन्ध द्रुम की शाखाएँ हैं। प्रथम खण्ड में प्रथम काण्ड साधारण धर्म संबंधी सात शाखायें प्रकाशित हैं।

उसी में दूसरे काण्ड की वेद शास्त्र सम्बन्धी आठ शाखायें प्रकाशित हैं। दूसरे खण्ड में विशेष धर्म की चार शाखायें प्रकाशित हैं। इस तृतीय खण्ड विशेष धर्म को आर्य जाति, समाज और नेता, राजा और प्रजा, प्रवृत्ति और निवृत्ति एवम आपद्धर्म नामक शाखायें तथा साधना मार्ग की भक्तियोग और मन्त्रयोग नामक दो शाखायें अर्थात् कुल मिला कर ५+२ = सात शाखायें प्रकाशित हैं। इस तरह काण्ड और शाखाओं के सन्दर्भ में खण्डों और अध्यायों को बाँटा गया है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस तीसरे खण्ड में सात निबन्ध हैं, जो विशेष धर्म और साधना में विशेष उपयोगी धर्ममार्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह खण्ड बहुत पहले ही अनुपलब्ध था। इसके महत्व को ध्यान में रख कर श्री भारतधर्म महामण्डल की प्रकाशन समिति ने यह निर्णय लिया है कि, इस अनुपमेय महाग्रन्थ के इस खण्ड के प्रकाशन की तत्काल व्यवस्था की जाय। इसी निर्णय का यह सुपरिणाम है कि यह खण्ड प्रकाशित हो सका।

द्रुम, काण्ड और शाखाओं में बँटे पूरे ग्रन्थ को आधुनिक साहित्य शैली में निबन्धात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है। ये निबन्ध जिन विषयों से सम्बन्धित हैं, उनका निबन्ध के साथ ही उल्लेख होना चाहिए था किन्तु लेखक की इच्छा के अनुसार उन्हें काण्डों और शाखाओं में बाँटने की शैली अपनायी गयी थी। मेरी दृष्टि से स्वाध्यायशील अध्येता के ऊपर यह एक अनपेक्षित उत्तरदायित्व आ पड़ता है कि वह यह भी स्मरण रखे कि यह निबन्ध किस काण्ड की किस शाखा का है? यह अनपेक्षित है। निबन्धों से स्वयं यह जानकारी मिल जानी चाहिए कि उनका कथ्य क्या है? लेखक अपनी लेखन कला में सफल हुआ है या नहीं? आदि।

निबन्ध साहित्य की वह विधा है, जिसके द्वारा उद्देश्य का आकलन क्रमिक रूप से होता रहता है। वर्ण्यवस्तु की विषय निष्पत्ति का निरन्तर विकास निबन्ध शैली का एक विशिष्ट गुण है। विशेष रूप से आध्यात्मिक निबन्धों में भारतीयता की आभा का भास्वर रूप भी साथ ही साथ भासित होते रहना भी लेखन शैली का एक गुण है। आगे खण्डों में प्रकाशित इन निबन्धों का एक महान उद्देश्य यह भी है कि भारतीय जन जन धर्म की धारिका शक्ति के विविध आयामों से भली प्रकार से परिचित हो सके, तदनुकूल अपनी आचार पद्धति, अपनी

भाषा और अपनी संस्कृति साथ ही राष्ट्र की अस्मिता को पहचान कर भारतीयता की आत्मा की आभा का साक्षात्कार करे।

जिस समय ये निबन्ध लिखे गये थे, उस समय देश परतन्त्र था। परतन्त्रता की पीड़ा से सारा राष्ट्र व्यथित था। एक हजार साल के यवन शासन और जजिया कर का मारा यह देश विदेशी षड्यन्त्रों से जकड़ा अपनी पुरातनता को विस्मृत कर अपनी संस्कृति, भाषा, आचार और जीवन पद्धति से कोसों दूर हो रहा था। श्री भारत धर्म महामंडल के मन्त्रद्रष्टा महर्षि श्री ज्ञानानन्द जी ने इसे अनुभव किया और अपने योग्यतम पट्टशिष्य स्वामी दयानन्द को इस दुःखद, पीड़ाप्रद पक्ष से परिचित करा कर श्री धर्मकल्पद्रुम जैसे प्रत्यक्ष धर्म ग्रन्थ किन्तु वास्तविक रूप से राष्ट्र की आत्मा को जगाने वाले जागरण ग्रन्थ को लिखने की प्रेरणा दी। परिणाम स्वरूप यह महान कार्य आकार ग्रहण कर सका।

श्री भारत धर्म महामण्डल द्वारा प्रकाशित और प्रसारित इस सारस्वत अध्यवसाय से राष्ट्र की आत्मा का अभिमान उदित हुआ। राष्ट्र की चेतना जाग उठी और राष्ट्र आज स्वतन्त्रता के आनन्द से ओतप्रोत है। श्री भारत धर्म महामण्डल प्रसन्न है। संस्कृत और संस्कृति के पक्षधरों ने भारत माता की आत्मा को अपने बलिदानों से अभिनन्दित किया। हमें यह प्रसन्नता है और इस बात पर गर्व है कि, इस ग्रन्थ ने भारतीय आत्मा को उत्साह सम्पन्न किया। सामाजिकता के सूत्र में आध्यात्मिकता की मणियों को पिरो कर जनजन में सनानत वैदिक आदर्शों के माध्यम से जागरण का सनातन पुरातन सन्देश दिया। राष्ट्र को आत्मिक उत्कर्ष की ओर अग्रसर किया। जन जन को जगाया, उद्बोधित और प्रोत्साहित किया। पूर्व पुरुषों के आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। यह ग्रन्थ नहीं, जागृति का मन्त्र है। यह महामण्डल का राष्ट्र को सारस्वत अवदान है। वैदिक आगमिक बौद्धिक अनुसन्धियों के स्वाध्याय के सारे सन्दर्भ इस महनीय ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। आज की अराजक सामाजिकता को आत्म-अनुशासन का सन्देश लेकर स्वामी दयानन्द की आत्मा का यह उदात्त उदय सराहनीय है।

इस ग्रन्थ खण्ड में सात निबन्ध संगृहीत किये गये हैं। १. आर्य जाति, २. समाज और नेता, ३. राजा और प्रजा, ४. प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म, ५. आपद्धर्म, ६. भक्ति और योग और ७. मन्त्र योग। ये सभी निबन्ध सप्तक, अपने आप में पूरे और निबन्ध की कसौटी पर खरे

उतरते हैं। भूमिका, विषय के प्रस्तुतीकरण, विषय का उपस्थापन, निबन्ध विधान, उदाहरणों और दृष्टान्तों से विषय का समर्थन, प्रतिपादन की शैली, उद्देश्य की सिद्धि और प्रभाव सभी दृष्टियों से निराले और अनुपम निबन्धों का यह महान संग्रह कहा जा सकता है।

जिस समय इनका प्रथम प्रकाशन हुआ था, उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ इनके नितान्त अनुकूल थीं। आर्य जाति के अस्तित्व के ऊपर चतुर्दिक प्रहार हो रहा था। आर्यों का देश भारतवर्ष है, इसी पर अँगुलियाँ उठायी जा रही थीं। जैसे आर्य इस देश में आकर यहाँ अधिकार कर इस देश के भाग्यविधाता बन गये थे, उसी तरह अंग्रेज भी यहाँ आये। इस देश पर हिन्दुओं की तरह इसाइयों और यवनों का समान अधिकार है आदि कुतर्कों के द्वारा देश के मानस में भ्रान्ति के बीज बोये जा रहे थे। इसका सशक्त निराकरण आवश्यक था। श्री भारत धर्म मण्डलके विचारकों की दृष्टि इस समाधान की ओर गयी और आर्य जाति नामक निबन्ध अस्तित्व में आया।

इसी प्रकार सामाजिकता के उत्कर्ष के लिये, उन्नयन के लिये कैसे उन्नायक पुरुषों की आवश्यकता है? यह एक तात्कालिक प्रमुख बिन्दु था, समाज और नेता इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये लिखा गया था।

इसी तरह परतन्त्रता से प्रताड़ित भारतीय मानसिकता की परितृप्ति के लिये राजा कैसा होना चाहिए और प्रजा का धर्म क्या है? इस पर विचार करना तथा सामान्य जनता में यह सन्देश जाना जरूरी था कि, जनता के आचरण का स्तर क्या और कैसा होना चाहिए। शास्त्र कहता है कि, राजा में पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु-सहायक और अनर्थ करने पर अनुशासन का स्वभाव होना चाहिए। पिता और माता की तरह वात्सल्य, स्वदेश और स्वराष्ट्र का अभिमान रखने वाला ही प्रजा का रंजन कर सकता है, विदेशी राजा कदापि नहीं, इस राष्ट्रीय भावना से भावित सन्देश श्री भारत धर्म महामण्डल के मनीषी स्वामी दयानन्द जी ने इस निबन्ध के माध्यम से दिया था।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के दोनों पन्थ जीवन को भौतिक समृद्धि तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये आवश्यक माने जाते हैं। दुर्योधन कहता था– मैं धर्म के पथ का जानकार हूँ किन्तु इस पथ पर मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। इसी तरह मैं भी जानता हूँ किन्तु अधर्म से मेरी निवृत्ति नहीं होती। इस वाक्य में प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्बन्ध धर्म और अधर्म से है– यह

परिलक्षित होता है। समाज के जीवन्त स्वरूप की रक्षा के लिये इनका कैसा स्वरूप हो- इस निबन्ध में इन विषयों पर विचार किया गया है।

आपत्ति के समय किस धर्म के आचरण से जीवन निरापद रह सकता है? यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। उस समस्या के समाधान के लिये शास्त्रों ने आपद्धर्म की व्यवस्था की है। महर्षि विश्वामित्र के उद्धरणों द्वारा इस विषय पर विचार किया गया है।

योग और मन्त्र योग भारतीय आत्मा के उत्प्रेरक हैं। इनका सन्निवेश कर ज्ञान संग्रह को महनीयता का आधार प्रदान किया गया है।

भारतीय आत्मा के उत्प्रेरक ये दोनों निबन्ध भारतीय मनीषा के मर्म का उद्घाटन करते हैं। भक्ति जहाँ जीवन की रागात्मिका वृत्ति का परिष्कार कर भगवत्सान्निध्य प्रदान करती है, वहीं योग और मन्त्र आत्मा एवं परमात्मा में साक्षात्कार का रहस्य दर्शन प्रस्तुत करते हैं। इस लिये इस खण्ड को महनीय बनाने के लिये इस संग्रह में स्थान देना परम आवश्यक था।

इस दृष्टियों की पूर्ति में इस ग्रन्थ का नाम भी सहायक बनता है। वस्तुत: धर्म स्वयं कल्पद्रुम होता है। इस कल्पतरु की छाया जिसके जीवन पर पड़ जाती है, वह धन्य हो जाता है।

महामहोपाध्याय श्रीयुत् सीताराम शास्त्री हमारी प्रकाशन समिति के अध्यक्ष हैं। श्री राय गिरीश चन्द्र, श्री यमुना प्रसाद तिवारी, श्री रामजन्म राय, श्री कृष्ण तिवारी, रेजिडेन्ट सेक्रेटरी इसके प्रमुख सदस्य हैं। इन लोगों की सत्प्रेरणा से धन की उपलब्धि हो सकी। श्री श्रीकृष्ण तिवारी के विशेष अनुरोध पर ही श्री महामाया ट्रस्ट के प्रशासक ने रुके हुए अनुदान स्वीकृत कर प्रकाशन की कठिनाइयों का निराकरण कर दिया। इस तरह श्री महामण्डल प्रकाशन समिति और महामाया ट्रस्ट के उभय सहयोग से श्री धर्मकल्पद्रुम का यह खण्ड प्रकाशित है।

** प्रात: स्मरणीय महामण्डल के संस्थापक श्री ज्ञानानन्द जी को समर्पित **

इति शम्।

'महामहोपाध्याय, शैवदर्शनाचार्य'

डॉ० परमहंस मिश्र 'तन्त्रवाचस्पति'

चीफ सेक्रेटरी

श्री भारत धर्म महामण्डल

लहुराबीर, वाराणसी

अध्यक्ष- आर्यावर्त विद्वत्परिषद्

श्री धर्मकल्पद्रुम

तृतीय खण्ड की चतुर्थ आवृत्ति की विषय-सूची

राजा और प्रजाधर्म–

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म–

आपद्धर्म–

***

ॐ तत्सत् ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम

तृतीय खण्ड

आर्य्यजाति

(अनार्य जाति से आर्य्य जाति की विशेषता)

अनादि कालसे भारतमाता के पवित्र हृदयमें विराजमान आर्य्यजातिका गौरव भारत की इस वर्त्तमान दीन दशा में भी निष्पक्ष उदार जनों के हृदय में प्रतिष्ठित है, जिसकी पवित्र ज्योति वर्त्तमान काल में भी सिन्धु जल में प्रतिबिम्बित होकर उसकी शोभा वृद्धि कर रही है और भारत के भविष्यत् भाग्य गगन में ध्रुव तारे की ज्योति की नाईं मधुर आशा का सञ्चार करा रही है। इसलिये पुण्यश्लोक आर्यजाति का लक्षण और स्वरूप, आदिवास भूमि, प्राचीनता, अनार्य जाति से विशेषता तथा सर्व्वाङ्गीण पूर्णता पर विचार करना प्रत्येक भारतजननी के सुपुत्र का कर्त्तव्य है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। परन्तु यहाँ यह अवश्य हृदयङ्गम करना चाहिए कि जिस प्रकार धर्म्म और रिलीजन ये दोनों शब्द एक नहीं हो सकते, उसी प्रकार हमारे शास्त्रोक्त आर्य्य शब्द और पाश्चात्य एरियन शब्द ठीक एक अर्थ वाचक नहीं हैं। आर्य जाति के लक्षण के विषय में शास्त्र में अनेक प्रमाण मिलते हैं। कर्म मीमांसा में कहा गया है–

उभयोपेताऽऽर्य्यजातिः।

तद्विपरीताऽनार्य्या।

जो जाति चतुर्वर्ण धर्म्म और चतुराश्रम धर्म से युक्त है वही आर्य जाति है। वर्णाश्रम धर्म्म विहीन जाति अनार्य्य जाति है। इसके सिवाय धात्वर्थ और गुणानुसार भी आर्य जाति के अनेक लक्षण होते हैं।

यथा– गमन या व्याप्ति अर्थक 'ऋ' धातु से ण्यत् प्रत्यय द्वारा आर्य शब्द के बनने के कारण वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने आर्य जाति का यही लक्षण किया है कि जो जाति पृथ्वी के अनेक स्थानों में जाकर अपनी कीर्ति ध्वजा की स्थापना करती थी, वही आर्य जाति है। इस विषय में महाभारत में भी प्रमाण मिलता है। यथा–

म्लेच्छाश्चाऽन्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ।

आर्याश्च पृथिवीपालाः ।

पूर्व काल में बहुत प्रकार की अनार्य जाति को युद्ध में परास्त करके जो जाति पृथ्वी की अधिपति हो गई थी, वही आर्य जाति है। यास्क मुनि ने अपने प्रणीत निरुक्त ग्रन्थ में कहा है–

आर्य ईश्वरपुत्रः ।

ईश्वर-पुत्र को आर्य कहते हैं। इस प्रकार आर्य जाति का लक्षण वर्णन करके उल्लिखित 'वीरता' के अतिरिक्त आध्यात्मिक पूर्णता का भी प्रमाण आर्य जाति के लिये प्रदर्शित किया है। तदनुसार किसी किसी ने 'ऋ' धातु का अर्थ इस प्रकार भी वर्णन किया है। यथा–

अर्तुं सदाचरितुं योग्यः इति आर्यः ।

इस लक्षण के अनुसार न्याय पथ पर चलने वाली, सदाचारशील, कर्त्तव्यपरायण जाति ही आर्य जाति है। ऐसा सिद्ध होता है। रामायण के द्वितीय काण्ड में लिखा है–

योऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा ज्येष्ठेन भामिनि ।

इस प्रकार कह कर महर्षि वाल्मीकि ने आर्य शब्द के उपर्युक्त लक्षणों का ही निर्देश किया है।

स्मृति में आर्य जाति का निम्न लिखित लक्षण वर्णन किया है–

'कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्य - मनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ।'

वर्णाश्रमानुकूल कर्त्तव्यपरायणता, अकर्त्तव्यविमुख, आचारवान् पुरुष ही आर्य है। अतः उपर्युक्त समस्त लक्षणों को मिला कर यह सिद्धान्त हुआ कि जो जाति सदाचार सम्पन्न, सकल विषयों में अध्यात्म लक्ष्य युक्त, दोषरहित और चतुर्वर्ण तथा चतुराश्रम धर्म परायण है वही जाति आर्य्य जाति कहला सकती है। भारतभूमि इस प्रकार से

सर्वगुणालंकृत आर्य्य जाति की ही प्राचीन निवास भूमि है जिसके लिये ऋग्वेद के प्रथम, तृतीय, चतुर्थ आदि मण्डलों में आर्य जाति की गुण कथा वर्णित की गई है। यथा– ऋग्वेद के तृतीयाष्टक के प्रथमाध्याय में लिखा है–

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्यायेति ।

वामदेव ऋषि ने स्वरूपस्थित होकर कहा कि "मैंने प्रजापति रूप होकर आर्य अङ्गिरा को भूमिदान किया और इन्द्र रूप होकर यज्ञ करने वाले मनुष्यों को वृष्टिदान किया।" इस प्रकार भगवान् के निःश्वास रूपी अनादि वेद में भी आर्य जाति की गौरवकथा देखने में आती है।

आर्य्य जाति का आदि निवास स्थान भारतवर्ष है या नहीं इस विषय में आज कल बहुत मतभेद हो रहे हैं। अपने देश में विदेशी बनना केवल धर्म और शास्त्र विरुद्ध ही नहीं है, अधिकन्तु युक्ति और बुद्धिमत्ता से भी विरुद्ध है। अतः इस विषय पर विचार किया जाता है। आर्य्यजाति भारत वर्ष की आदि जाति है या नहीं, इस विषय में ऐतिहासिक लोगों की जितनी कल्पनाएँ देखने में आती हैं उन सबों को प्रधानतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथमतः वे लोग कहते हैं कि आर्यगण मध्य एशिया में कास्पियन् ह्रद के पास पहले कहीं रहा करते थे और वहाँ से ही क्रमशः भारत वर्ष में आये हुए हैं। इस प्रकार की कल्पना के मूल में उन्होंने तीन युक्तियाँ बताई हैं। यथा ऋग्वेद संहिता में ऐसे अनेक नद, नदी तथा नगर के नाम मिलते हैं जिनके स्थान मध्य एशिया में कहे जा सकते हैं। द्वितीय युक्ति यह है कि आर्य्य गण शास्त्रों में श्वेताङ्ग पुरुष करके वर्णित किये गये हैं और मध्य एशिया के लोग श्वेत वर्ण के होते हैं। तृतीयतः आर्यों के उपास्य अनेक देव देवियों के नाम के साथ उक्त प्राचीन महा देश की प्राचीन जातियों के अनेक उपास्य देव देवियों के नाम का मेल देखने में आता है; जिससे यह प्रमाण होता है कि मध्य एशिया के एक ही प्रदेश से भिन्न भिन्न प्रदेशों में जाकर आर्य्य गण बसे थे। ऐतिहासिक पुरुषों की द्वितीय कल्पना यह है कि आर्य्य लोग उत्तर मेरु से क्रमशः दक्षिण की ओर अग्रसर होकर अन्त में भारत में आये हैं। इसके लिये युक्ति यह है कि वेद में दीर्घ काल व्यापी रात्रि तथा दिन का उल्लेख है और उत्तर मेरु में छः महीने का दिन और छः महीने की

रात्रि होती है। और जेन्दाभेस्ता नामक ग्रन्थ में लिखा है– "आर्यों का स्वर्ग उत्तर मेरु में ही था, वहाँ पर वर्ष भर में एक ही बार सूर्य का उदय होता था। पश्चात् बरफ तथा शीत के अधिक होने के कारण वह स्थान जब वास करने योग्य न रहा तो आर्य्य लोग उसे त्याग कर दक्षिण देश की ओर आए।" ऐतिहासिक पुरुषों की तृतीय कल्पना यह है कि जर्मनी के पास किसी स्थान मे आर्य लोग रहते थे। क्योंकि भाषा पर विचार करके देखा जाता है कि आर्य्य भाषा संस्कृत के साथ जर्मन भाषा का बहुत मेल है। इन सब ऐतिहासिक पुरुषों की कल्पनाओं के अतिरिक्त आज कल और एक नवीन कल्पना निकली है जिसके अनुसार आर्य्य जाति तिब्बत से आई है ऐसा कहा जाता है। अब नीचे इन सब कल्पनाओं के असत्य होने के विषय में विचार किया जाता है।

दुःख की बात यह है कि अर्वाचीन ऐतिहासिक पुरुषों ने भारत की प्रकृति तथा सृष्टि के क्रम विकास के नियम पर विचार न करके ही अपनी अपनी कल्पना की है। किसी वस्तु का तत्वानुसन्धान करने के लिये यथार्थ उपाय यह है कि कारणों का तत्त्व निर्णय करके उसी के अनुसार कार्य का तत्त्व निर्णय किया जाय। क्योंकि कार्य कारण का ही विकास मात्र है और इसलिये कारण के विषय में पूर्ण सिद्धान्त निर्णय होने पर तभी कार्य के पूर्ण सिद्धान्त का निर्णय हो सकता है। इसलिये आर्य्य जाति की आदि वास भूमि निर्णय करने के पहले, भारत की प्रकृति, आर्य्य जाति की प्रकृति और सृष्टि के क्रम विकास के अनुसार दोनों प्रकृति का कब किस प्रकार मेल हो सकता है इसका अवश्य विचार होना चाहिए। तभी सत्य सिद्धान्त निर्णय हो सकता है। हिन्दु शास्त्र के सिद्धान्तानुसार समष्टि सृष्टि की धारा ऊपर से नीचे की ओर चलती है। तदनुसार सृष्टि की प्रथम दशा में पूर्ण मानव उत्पन्न होते हैं और वह युग सत्ययुग कहलाता है। उस समय पूर्ण सत्त्वगुण का विकास रहने से सभी लोग पूर्ण धर्मात्मा होते हैं। स्मृति तथा पुराणों में इस प्रकार सृष्टि का क्रम बहुधा वर्णन किया है। यथा– सृष्टि के प्रथम विकास में पूर्ण निवृत्तिसेवी सनक, सनन्दन आदि ब्रह्माजी के चार पुत्र, तदनन्तर मरीचि, अत्रि आदि सात (किसी किसी मत में दस) पुत्र उत्पन्न होते हैं। पश्चात् उनके द्वारा और सृष्टि क्रमशः उत्पन्न होती है। इसका पूर्ण वृत्तान्त इस ग्रन्थ के पहले

खण्ड में वर्ण-धर्म के अध्याय में बताया गया है।

उक्त कथन से सिद्धान्त होता है कि सृष्टि के पहले पूर्ण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं और क्रमशः सृष्टि अधोमुखिनी होकर सत्त्व गुण से तमोगुण की ओर जाने लगती है। तदनुसार धीरे धीरे धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होने लगती है। मनु संहिता में लिखा है–

चतुष्पात् सकलो धर्म्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाऽधर्मेणाऽऽगमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रति वर्तते ।।
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।
चौरिकाऽनृतमायाभिधर्मश्चाऽपैति पादशः ।।

सत्ययुग में धर्म चार पाद रहता है, सत्य की पूर्णता रहती है और अधर्म के द्वारा अर्थादि लाभ की ओर मनुष्यों की दृष्टि कदापि नहीं जाती है। तदनन्तर त्रेतादि युग में क्रमशः धर्म का एक एक पाद नष्ट होने लगता है जिससे चोरी, मिथ्यावाद, कपटता आदि बुरी वृत्तियाँ क्रमशः बढ़ने लगती हैं। यही सब समष्टि सृष्टि के अधोमुखिनी होने का प्रमाण है। केवल हिन्दू शास्त्रों का ही यह सिद्धान्त नहीं है। परन्तु पाश्चात्य धर्म-ग्रन्थों में भी अनेक स्थल पर ऐसा ही सिद्धान्त पाया जाता है। प्राचीन हिब्रू ग्रन्थ में आदम (Adam) से जीवों की उत्पत्ति के विषय में भी ऐसा ही लिखा है कि उनसे एक स्वर्गीय ज्योति निकल कर पृथ्वी की ओर आई जिससे यहाँ पर अनेक पुण्यात्मा पुरुष उत्पन्न हुए, परन्तु यह सृष्टि बहुत दिनों तक ऐसी नहीं रही और क्रमशः अधोमुखिनी हो गई, इत्यादि। ग्रीस देश के प्रसिद्ध विज्ञानविद् पण्डित प्लेटो (Plato) ने अपने फिड्रस (Phaedrus) नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सृष्टि की पहली दशा में ऐसे पुण्यात्मा पुरुष थे कि स्वर्ग में देवताओं के साथ भी उनकी बातचीत हुआ करती थी। पश्चात् काल के अनुसार सृष्टि निम्नाभिमुखिनी होने से मनुष्यों की बुद्धि पर भी आवरण आ गया जिससे अधार्मिक सन्तान उत्पन्न होने लगी इत्यादि। अतः पूर्व तथा पश्चिम दोनों देशों के शास्त्रीय सिद्धान्तों से यह बात निश्चय हुई कि सृष्टि के आदि काल में पूर्ण पुरुष उत्पन्न होते हैं और पश्चात् क्रमशः धर्म के ह्रास होने के कारण वह पूर्णता नष्ट होकर सात्त्विक, राजसिक, तामसिक सकल प्रकार की प्रजा उत्पन्न होती है। अब विचार करने की बात यह है कि

सृष्टि की प्रथम दशा में जो पूर्ण पुरुष उत्पन्न होते हैं वे पृथ्वी के किस स्थल में उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति जिस प्रकार की होती है वे उसी देश काल में उत्पन्न हो सकते हैं, आसमान या प्रकृति के विरुद्ध देशकाल में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसी विचार से सिद्ध होता है कि पूर्ण पुरुषों की उत्पत्ति पूर्ण प्रकृतियुक्त भूमि में ही हो सकती है, अपूर्ण प्रकृति भूमि में पूर्ण पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। पूज्य चरण आर्य महर्षिगण तथा मनीषी पाश्चात्य विज्ञानवित् पण्डितगण सभी ने एक वाक्य होकर स्वीकार किया है कि पृथ्वी भर में भारत वर्ष की ही प्रकृति सर्वथा पूर्ण है। प्रकृति स्थूल, सूक्ष्म, कारण या अधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों की पूर्णता से पूर्ण होती है। भारत की प्रकृति पर विचार करने से इन तीनों की पूर्णता देखने में आती है। आधिभौतिक या स्थूल प्रकृति की पूर्णता का प्रथम लक्षण यह है कि यहाँ पर षड्ऋतुओं का विकास ठीक ठीक होता है। दो-दो महीने के अनन्तर प्रकृति का सूर्य गति के अनुसार ठीक ठीक परिवर्तन होना उसी देश में सम्भव हो सकता है कि जिस देश की प्रकृति पूर्ण हो। अपूर्ण प्रकृति में ऐसा कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्राकृतिक अपूर्णता के कारण सूर्य की गति का यथाक्रम प्रभाव, जिससे कि ऋतुओं का विकास सम्भव होता है, नहीं पड़ सकता है और यही कारण है जिससे उन देशों में ऋतुओं का आविर्भाव यथाक्रम न होकर एक या दो ऋतुओं का ही प्रभाव रहता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु भारतीय प्रकृति की स्थूल पूर्णता का यह भी और एक अपूर्व लक्षण है कि यहाँ पर एक ही समय में भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न ऋतुओं का विकास रहता है, जिससे सिद्ध होता है कि स्थूल प्रकृति की पूर्णता केवल भारत की समष्टि प्रकृति में नहीं, परन्तु भारत की व्यष्टि प्रकृति के अङ्ग अङ्ग में भी व्याप्त है। जिस समय हिमालय के शीतमय प्रदेशों में तुषारमय पर्वत हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के प्रबल पराक्रम का झण्डा उड़ाते रहते हैं ठीक उसी समय सिन्धु देश के मरुस्थल में ग्रीष्म ऋतु का प्रभाव रहता है और उसी काल में मैसूर आदि देशों में वसन्त, आसाम आदि देशों में वर्षा और मध्य देश में शरद ऋतु का आनन्द बना रहता है। सर्व शोभामयी प्रकृति माता के सब अङ्गों का परमानन्द केवल भारतवर्ष में ही है। पृथ्वी

के यूरोप आदि देशों में श्वेतवर्ण के मानव, अफ्रीका आदि देशों में कृष्ण वर्ण के मानव और जापान, चीन आदि देशों में पीतवर्ण के मानव बहुधा दिखाई पड़ते हैं परन्तु भारतवर्ष में वैसी असम्पूर्णता नहीं पायी जाती। इस पवित्र आर्य्य जाति की मातृभूमि में उज्वल, गौरवर्ण, साधारण गौरवर्ण, श्वेतवर्ण, कृष्णवर्ण, पीतवर्ण, लोहितवर्ण, श्यामवर्ण और उज्ज्वल श्यामवर्ण आदि अनेक रङ्गों के स्त्री पुरुष समानरूप से दिखाई देते हैं। यही इस भूमि की पूर्णता है। प्रत्यक्ष पूर्णता का वर्णन करते हुए उद्भिज के तत्व जानने वाले पण्डितों ने यह भली-भांति निश्चित कर दिया है कि भारतवर्ष में पृथ्वी के सब देशों के उद्भिज उत्पन्न होकर उन्नति को प्राप्त हो सकते हैं। उसी प्रकार से प्राणिशास्त्रवेत्ता पण्डितों ने यह स्पष्ट रीति से कहा है कि पृथ्वी भर में जितने प्रकार के पशु पक्षी और अन्य प्रकार के जीव हैं वे सब भारतवर्ष के किसी न किसी प्रदेश में भली प्रकार से जीवित रह कर भारतवर्ष की सृष्टिलीला विस्तारकारी पूर्णता का परिचय दे सकते हैं। भारतसमुद्र की गंभीरता और भारतसमुद्र की मुक्ता प्रवाल आदि रत्न और नाना समुद्रसेवी जीवों के प्रसव करने की शक्ति तो सर्ववादिसम्मत है। पवित्रसलिला भागीरथी के जल की अपूर्वता और उसकी शक्ति तो आजकल के दम्भिक साइन्सवेत्ता पण्डितों ने भी स्वीकार की है जिसका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम अध्यायों में किया गया है। इस पवित्र तथा पूर्ण प्रकृति युक्त भूमि में सब प्रकार की भूमियाँ हैं। सिन्धु देश और राजपूताना के कुछ अंश में शुष्क, जलहीन, मरुस्थल, वङ्गदेश और मिथिला आदि देशों में अधिक सजलता और ब्रह्मावर्त आदि प्रदेशों में इन दोनों अवस्थाओं की समता विद्यमान है। पृथ्वी भर में सबसे बड़ा और उच्च पर्वतराज हिमालय और सबसे गम्भीर भारतसमुद्र आर्यावर्त की महिमा को अनन्तकाल से बढ़ा रहे हैं। श्वेतवर्ण की ब्राह्मणजातीय भूमि, रक्तवर्ण की क्षत्रियजाति की भूमि, पीतवर्ण की वैश्यजाति की भूमि और कृष्णवर्ण की शूद्रजाति की भूमि भारतवर्ष के प्राय: सब प्रदेशों के विभागों में विद्यमान है, इस कारण सब प्रकार के उद्भिज भारतवर्ष में उत्पन्न हो सकते हैं इसमें सन्देह नहीं। यही भारत में भूमि की पूर्णता है।

शिवरत्नसार तन्त्र में लिखा है–

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिर्यथा ।
नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः ।।
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः ।
तथा श्रेष्ठा कर्मभूमिर्भूमौ भारतमण्डलम् ।।

जिस प्रकार देवताओं में विष्णु, ह्रदों में समुद्र, नदियों में गङ्गा, पर्वतों में हिमालय, वृक्षों में अश्वत्थ और राजाओं में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं उसी प्रकार कर्मभूमि भारतवर्ष पृथ्वी की अन्य सब भूमियों से श्रेष्ठ है। यही सब भारतवर्ष की आधिभौतिक पूर्णता का लक्षण है। भारतवर्ष में दैवी शक्ति की पूर्णता के कारण ही यहाँ पर अनादि काल से काशी आदि दैवी शक्ति के प्रकाशक केन्द्ररूपी नित्य तीर्थ, अनेक नैमित्तिक तीर्थ, विविध पीठस्थान, ज्योतिर्लिङ्ग आदि आधिदैविक शक्ति के केन्द्र विद्यमान हैं और भगवत्शक्ति के आधारभूत विभूति तथा अवतारों का यहाँ आविर्भाव होता है और इसी आधिदैविक पूर्णता के कारण ही भगवान् के पूर्णावतार आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र की लीला यहाँ पर प्रकट हुई थी। भारतवर्ष की आध्यात्मिक पूर्णता के कारण ही यहाँ पर पूर्णज्ञानाधार वेद और पूर्ण ज्ञानमय महर्षियों का आविर्भाव हुआ है। वेद में लिखा है–

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। इसलिये भारत में पूर्ण ज्ञान का आविर्भाव होने के कारण भारत मुक्तिभूमि कहलाता है। मोक्षमूलर, कोलब्रुक आदि पाश्चात्य मनीषिगण एक वाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि इसी देश से ज्ञान ज्योति प्रकट होकर संसार में व्याप्त हुई है। कोलब्रुक की तो यह सम्मति है कि इस देश से ज्ञान की ज्योति ग्रीस में गई थी, ग्रीस से रोम में और रोम से समस्त पृथ्वी में गई है। अतः भारत की आध्यात्मिक पूर्णता सर्ववादिसम्मत है। इस प्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सकल प्रकार से पूर्ण होने के कारण भारत की प्रकृति पूर्ण है यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। इस विषय में पूर्व तथा पश्चिम देश के पण्डितों की और भी अनेक सम्मतियाँ आगे के किसी अध्याय में बताई जायेंगी। प्रकृत विषय यह है कि आर्यजाति की उत्पत्ति कहाँ पर हो सकती है। जब विचार तथा प्रमाण के द्वारा यह निश्चय हुआ

कि सृष्टि की प्रथम दशा में पूर्ण पुरुष उत्पन्न हुए थे और पूर्ण पुरुष की उत्पत्ति पूर्णप्रकृतियुक्त भूमि में ही हो सकती है और जब यह भी निश्चय हुआ कि पृथ्वी भर में भारतवर्ष की ही प्रकृति पूर्ण है तो यह बात निःसन्देह है कि आदि सृष्टि भारतवर्ष में ही हुई थी और किसी देश में नहीं। और जब मनुजी के सिद्धान्तानुसार आदि सृष्टि के पूर्ण पुरुष आर्य महर्षिगण थे तो आर्य जाति की आदि निवास भूमि भारतवर्ष ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः पूर्ण मनुष्यत्व युक्त आर्यजाति और किसी देश में रहती थी, वहाँ से भारतवर्ष में आयी, यह कल्पना मिथ्या कपोल कल्पना मात्र है, यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। वेद की आदि विकासभूमि भारतवर्ष में वैदिक आर्यजाति ही अनादिकाल से वास कर सकती है। यहाँ कोई अपूर्ण जाति सृष्टि के आदि काल में नहीं हो सकती है और न पूर्ण ज्ञान और पूर्ण मनुष्यत्वयुक्त आर्य जाति और किसी अपूर्ण प्रकृतियुक्त देश में उत्पन्न होकर यहाँ पर आ सकती है। पूर्ण मानव आर्यगण की भारतवर्ष में तथा तदन्तर्गत कुरुक्षेत्रादि ब्रह्मर्षि देशों में उत्पत्ति होने के विषय में श्रुतिस्मृतियों में अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा मनुसंहिता में–

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवाऽन्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।।
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।।
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ।।
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

जिस भूमि के पूर्व और पश्चिम में समुद्र है, जिसके उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल है, उसको आर्य्यावर्त कहते हैं। आर्यावर्त भारतवर्ष का ही नाम है। पूर्वोक्त लक्षण को देख कर और दक्षिण में विन्ध्याचल का नाम देख कर प्रायः मनुष्य की यही सम्मति होती है कि भारतवर्ष के उत्तर भाग को आर्य्यावर्त्त कहते हैं, और दक्षिण भाग के दक्षिणावर्त्तादि और और नाम हैं; परन्तु इस सिद्धान्त को निश्चित

न रख कर यदि समस्त भारतवर्ष अर्थात् हिन्दुस्तान को ही आर्य्यावर्त्त रूप से माना जाय तो सिद्धान्त के स्थिर करने में सुविधा होगी। यदि वर्त्तमान उत्तर भाग को आर्य्यावर्त्त रूप से माना जाय तो उसकी पूर्व्व सीमा और पश्चिम सीमा में समुद्र पाया नहीं जाता, क्योंकि उत्तर भारत के पूर्व में बङ्गदेश तथा पद्मा, ब्रह्मपुत्र आदि बड़ी बड़ी नदियाँ हैं और पश्चिम सीमा में पञ्जाब, सिन्धदेश और सिन्धुनदी तथा अन्यान्य नदियाँ हैं। इस कारण शास्त्रोक्त पूर्व्व कथित लक्षण घटाने पर केवल उत्तर भारत को आर्य्यावर्त नहीं कह सकते। पूर्व्व समुद्र और पश्चिम समुद्र द्वारा पूर्व्व पश्चिम सीमा समझी जाने पर भारतवर्ष अर्थात् पूरे हिन्दुस्तान को ही आर्य्यावर्त्त करके मान सकते हैं। उत्तर में हिमालय के होने और दक्षिण में विन्ध्याचल के होने के विषय में उत्तर सीमा का तो मतभेद है नहीं, केवल दक्षिण में विन्ध्याचल के होने के विषय में उत्तर सीमा का तो मतभेद है नहीं, केवल दक्षिण में विन्ध्याचल के होने के रहस्य निर्णय होने योग्य है। यद्यपि इस समय भारतवर्ष के बीच के पर्वत को ही विन्ध्याचल नाम से पुकारते हैं, परन्तु जिस प्रकार नील पर्वत भारतवर्ष के कई स्थानों में है और पुराणों में भी नील पर्वत का भारतवर्ष के कई स्थानों में होना पाया जाता है और अब भी उड़ीसा में, दक्षिण भारत में और हरिद्वार के निकट, इन तीन स्थानों में नील पर्वत के नाम से पर्वत विद्यमान हैं; ठीक उसी ढंग पर भारतवर्ष के मध्य पर्वत को विन्ध्याचल कहते हैं और दक्षिण समुद्र के निकटवर्ती स्थानों में भी विन्ध्य नाम का पर्वत विद्यमान है। यदि यह सिद्धान्त स्थिर माना जाय कि आर्यावर्त की सीमा कहते समय महर्षियों ने भारत की दक्षिण सीमा के विन्ध्यपर्वत नामक शिखर को ही लक्ष्य किया है तो अति सुगमता से समग्र हिन्दुस्तान को आर्यावर्त करके निश्चय कर सकते हैं और समग्र भारतवर्ष अर्थात् हिन्दुस्तान को ही आर्यावर्त करके मानने में सब प्रकार की सुविधा भी है। और शास्त्रोक्त पूर्व और पश्चिम समुद्र की भी मीमांसा ठीक ठीक हो सकती है।

सरस्वती और दृषद्वती नाम्नी दोनों देवनदियों के बीच में जो देवनिर्मित देश है उसका नाम ब्रह्मावर्त देश है। कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पाञ्चाल देश और मथुरादेश ब्रह्मावर्त्त के मध्यवर्ती ये देश ब्रह्मर्षि देश

कहलाते हैं। सृष्टि का आदि विकास इसी देश में हुआ है, सृष्टि की प्रथम दशा में जो ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे सो इसी देश में उत्पन्न हुए थे और इन्हीं से आचार, व्यवहार और चरित्र का आदर्श संसार में सर्वत्र व्याप्त होना चाहिए; और सो हुआ भी था। क्योंकि पाश्चात्य पण्डितों के सिद्धान्तानुसार पूर्ण पुरुष आर्य्यगण की ही ज्ञान की ज्योति समस्त संसार में फैल गई थी सो आज तक उन देशों में प्रकाश को दे रही है। और श्रीभगवान् मनुजी के ऊपर कथित वचनों का भी यही तात्पर्य है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है–

तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम् ।

कुरुक्षेत्र ही देवताओं के देव यज्ञ का स्थान है। देवता लोग कर्म के प्रेरक हैं, इसलिये देवयज्ञ के द्वारा जो दैवी शक्ति उत्पन्न होती है उसी से कर्मानुसार सृष्टि प्रवाह चलता है और वह शक्ति जब कुरुक्षेत्र में ही प्रथम विकास को प्राप्त हुई थी तो प्रथम सृष्टि का विकास कुरुक्षेत्र में ही हुआ था इसमें कोई भी संदेह नहीं है। इसलिये गीताजी में भी भगवान् ने कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा है। जाबालोपनिषद में लिखा है–

यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् ।

कुरुक्षेत्र ही देवताओं के देवयज्ञ का स्थान है तथा समस्त जीवों का आदि उत्पत्ति स्थान है। सृष्टि के आदि काल में पूर्ण पुरुष आर्य्य गण भारत के इसी स्थान में उत्पन्न होकर समस्त आर्य्यावर्त्त में विचरण करते थे, उनके रहने के कारण इस भूमि का नाम आर्यावर्त हुआ है। शास्त्रों में लिखा है–

आर्याः श्रेष्ठा आवर्त्तन्ते पुण्यभूमित्वेन वसंत्यत्र इति आर्यावर्तः ।

पुण्यभूमि होने के कारण पूर्ण पुरुष आर्यगण यहाँ पर निवास करते थे इसलिये इस भूमि का नाम आर्यावर्त्त हुआ है। कुल्लूक भट्टजी ने आर्यावर्त्त शब्द का यह अर्थ किया है–

आर्या अत्राऽऽवर्त्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्त्तः ।

आर्यगण इस स्थान में पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं इसलिये इस स्थान का नाम आर्यावर्त्त हुआ है। आर्यगण के आदि ग्रन्थ वेद में इन सब विषयों का बहुधा वर्णन देखने में आता है। यथा ऋग्वेद में–

सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।

गंगा यमुना के संगम स्थल में प्राण त्याग होने से उर्द्ध्वगति होती है। इन सब प्राणों के द्वारा भारत वर्ष ही आर्य गण की आदि निवास भूमि है। यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। विषय में पण्डित मुयर साहब ने अपने संस्कृत टेक्स्ट (Sanskrit Text) में कहा है "आर्य लोग कभी पश्चिम देश से इस देश में नहीं आये हैं, किन्तु आर्य गण के वंश से ही पश्चिम देश की अनेक सभ्य जातियाँ उत्पन्न हुई थीं। उत्तर या उत्तर पश्चिम देश से भी आर्यगण भारत में नहीं आये हैं, क्योंकि प्राचीन काल में पश्चिम में कोई सभ्य जाति रहती थी जिनसे आर्य गण की सभ्यता तथा धर्म की उत्पत्ति हुई है ऐसा प्रमाण भाषा तत्त्व के इतिहास में कहीं नहीं मिलता है। किसी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में प्रमाण नहीं मिलता है कि विदेशीय किसी जाति से प्राचीन आर्यगण उत्पन्न हुए हैं अथवा भारत के सिवाय और कहीं आर्यों का निवास था"। अतः वेदादि शास्त्रीय प्रमाण तथा विचार के द्वारा निश्चय हुआ कि आर्यजाति के देशान्तर से आने के विषय में अर्वाचीन पुरुषों ने जो कुछ कल्पना की है सो सर्वथा उनकी मिथ्या कपोल कल्पना मात्रा है इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है।

अब जब विज्ञान तथा शास्त्र प्रमाणों के द्वारा सिद्धान्त हो गया कि आर्यजाति का आदि स्थान भारतवर्ष ही हो सकता है, यह जाति और कहीं उत्पन्न होकर यहाँ नहीं आई है तो इसी सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित होकर अर्वाचीन पुरुषों के कल्पनाजाल पर विचार करने से सहज ही उनके मिथ्यात्व के विषय में निश्चय हो जायगा। इसलिये अब उनकी युक्तियों पर एक एक करके विचार किया जाता है। उनका पहिला कहना यह है कि आर्यगण मध्यएशिया में कास्पियन ह्रद के किनारे पर बसते थे और पश्चात् वहीं से यहाँ आ गये। इस प्रकार कल्पना की पुष्टि में वे युक्ति देते हैं कि ऋग्वेद में मध्य एशिया के नद नदी और नगर ग्राम के नाम देखने में आते हैं वहाँ के लोग वेद में वर्णित आर्यों की तरह श्वेतवर्ण होते हैं और वहाँ के प्राचीन देवदेवियों के नाम के साथ आर्यशास्त्रोक्त देवदेवियों के नाम मिलते हैं। थोड़े विचार से ही सिद्ध होगा कि अर्वाचीन पुरुषों की इस प्रकार की युक्तियाँ नितान्त सारहीन अकिञ्चित्कर हैं। यदि वेद में मध्यएशिया के नदनदी के नाम देखने से

ही आर्यगण का मध्य एशिया में रहना स्थापित हो जाय तो वेद में गंगा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु, वितस्ता आदि नदनदियों के नाम देखने से भारतवर्ष में रहना सिद्ध क्यों न होगा? पहले ही प्रमाण दिया जा चुका है कि गंगा, यमुना आदि नदनदियों के अनेक वर्णन वेद में मिलते हैं। अत: नाम को देख कर आदि वासस्थान निर्णय करना सर्वता अयौक्तिक है। सामान्य दृष्टान्त से ही समझ सकते हैं कि यदि अंग्रेजों के किसी इतिहास या भूगोलग्रन्थ में कामस्कट्टा के किसी शहर का नाम मिल जाय तो क्या इससे यह सिद्धान्त करना होगा कि अंग्रेजों के आदि पुरुष कामसकट्का में वास करते थे? यह सिद्धान्त नितान्त हास्यजनक है। इससे यह सिद्धान्त ठीक होगा कि यहाँ के लोग वहाँ जाकर अपना आधिपत्य विस्तार करते थे, इसलिये इनके इतिहास तथा भूगोल में उस देश के नाम आ गये हैं। इसी दृष्टान्त के अनुसार वेद में और देशों के नाम देख कर आर्यजाति और देश की थी, यहाँ आ गयी है। इस प्रकार सिद्धान्त करने की अपेक्षा ऐसा कहना बेहतर होगा कि आर्यजाति पूर्वकाल में पृथिवी की अधीश्वरी थी और इसलिये उसका आधिपत्य-विस्तार पृथ्वी में सर्वत्र था। आर्य्यगण सकल स्थानों में आया जाया करते थे इसलिये उनके ग्रन्थों में पूर्वोक्त नाम पाये जाते हैं। आर्यजाति के अन्यान्य ग्रन्थों में और देशों के नाम देख कर ऐसा सिद्धान्त भले ही किया जाय परन्तु वेद में मध्यएशिया के या और किसी प्रदेश के नदनदियों के नाम देख कर ऐसा सिद्धान्त कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि वेद यदि किसी के बनाये ग्रन्थ होते तो आर्यजाति के भिन्न देश में जाने के साथ ही साथ उन देशों के नाम या तत्रत्य नदनदियों के नाम वेद में आ गये हैं ऐसा कहना ठीक होता। परन्तु वेद ऐसा मनुष्यकृत ग्रन्थ नहीं है। पूर्व खण्ड में वेद के अध्याय में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि वेद ईश्वर और ज्ञानरूप हैं। ऋषिलोग वेद के कर्त्ता नहीं किन्तु द्रष्टा मात्र हैं। इसलिये आर्यजाति वहीं पर जा बसी और वहाँ की बातें वेद में लिख दीं। ऐसा नहीं हो सकता है। वेद में मध्यएशिया स्थित नदनदियों के नाम अथवा गङ्गा यमुना आदि भारत स्थित नदनदियों के नाम आने का कारण यह है कि वेद ज्ञानरूप और पूर्ण ग्रन्थ हैं। इसलिये संसारभर की बातें तथा देशदेशान्तरों के नाम उसमें आ जाते हैं। जब प्रकृति से

अतीत परमात्मा का अटल सिद्धान्त वेद में स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है तो पृथ्वी के सामान्य देश, ग्राम, नगर या नदनदियों के दो चार नाम बताना वेद जैसे पुस्तक के लिये क्या बड़ी बात है। वेद त्रिकालदर्शी होने से इसमें अतीत, वर्त्तमान या भविष्य में होने वाली सभी बातें या सभी देशदेशान्तरों के नाम या घटनायें यथावत् लिखी जा सकी हैं। यही कारण है कि वेद में और देश के नदनदियों के नाम पाये जाते हैं। मोक्षमूलर आदि पाश्चात्य मनीषिगण सभी एक वाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि वेद ही समस्त पृथ्वी का आदि ग्रन्थ है, और यह भी सभी ने स्वीकार किया हुआ है कि भारतवर्ष ही वेद का आदि विकास स्थान है। अत: सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद जब भारत का आदि ग्रन्थ हैं तो वैदिक आर्यजाति की आदि वासभूमि भारतवर्ष ही होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है? आर्यगण श्वेताङ्ग पुरुष थे, भारतवर्ष में श्वेताङ्ग पुरुष नहीं मिलते हैं, काकेशिया में मिलते हैं, इस लिये आर्यगण काकेशिया से आये हैं, इस प्रकार युक्ति जो लोग देते हैं उन्होंने सर्वत्र परिभ्रमण करके पुरुषों को देखा नहीं होगा या यथार्थ में श्वेतवर्ण कैसा होता है इसका उन्हें परिज्ञान नहीं होगा। आर्यशास्त्रों में ब्राह्मणों का वर्ण श्वेत लिखा है सो हिमाचल और विन्ध्याचल के बीच में और पश्चिम तथा पूर्व समुद्र के बीच में जो आर्यब्राह्मण रहते हैं उनका वर्ण आज भी बहुधा श्वेत ही है, अन्य वर्ण नहीं है। और जहाँ कुछ विशेष अन्यथा है वहाँ विशेष ऋतुभेद तथा काल के प्रकोप से परम्परागत धर्म के ही परिवर्तन का फल है, इससे वैदिक सिद्धान्त में कोई भी विरोध नहीं पड़ता है, और काकेशिया तथा पाश्चात्य देश के मनुष्यों के वर्ण के विषय में जो कहा जाता है सो वर्णज्ञान के अभाव का ही परिचायक है। क्योंकि सिवाय भारत के अन्य देशों के लोग यथार्थ श्वेतवर्ण नहीं होते किन्तु विकृत श्वेतवर्ण हुआ करते हैं। उनका रंग देखने से सभी लोग ऐसा कहेंगे। इससे यह भी युक्ति अकिञ्चित्कर प्रतीत होती है। तृतीयत: देव देवी अथवा भाषागत शब्दों के नाम का मेल देख कर जो लोग मध्यएशिया में आर्यजाति का वासस्थान निर्देश करना चाहते हैं अथवा संस्कृत भाषा के साथ जर्मन भाषा का कहीं-कहीं सादृश्य देखकर पोलैण्ड या स्काण्डिनेमिया में आर्यों का आदि वासस्थान बताना चाहते हैं उनकी युक्ति भी ऐसी ही

मिथ्या है। कोई जाति जब एक देश से जाकर और किसी देश में अधिकार विस्तार करती है तो इससे उस जाति के देश का गौरव तथा स्मृतिचिन्ह लुप्त नहीं होता है। उलटे इस प्रकार अधिकार विस्तार के द्वारा अपने देश का गौरव बढ़ता ही है। दृष्टान्त रूप से समझ सकते हैं कि, आजकल अंग्रेज आदि अनेक जातियाँ प्रभावशालिनी होकर भिन्न भिन्न देशों में आधिपत्य स्थापन कर रही हैं। क्या इससे इङ्गलैण्ड आदि देशों का गौरव ह्रास हो रहा है यह कहना पड़ेगा? कदापि नहीं, बल्कि इससे उन देशों की गौरववृद्धि हो रही है ऐसा सिद्धान्त प्रत्यक्ष होगा। इसी प्रकार जब भारतवर्ष में वेद से लेकर समस्त विषय में आर्यजाति का गौरव परिस्फुटित है और अन्य देशों में केवल दो चार नामों का उल्लेख पाया जाता है तो यह सिद्धान्त करना युक्तियुक्त होगा कि आर्यगण और किसी देश से नहीं आये थे। भारत ही आर्यों का आदि वासस्थान है जहाँ पर इनकी गौरव पताका फहरा रही है। और इसी देश से पृथ्वी की अधीश्वर आर्यजाति विजयपताका फहराती हुई पृथ्वी में जहाँ-जहाँ पर गई थी, वहाँ अब विजयपताका नष्ट होने से केवल आर्यभाषा के कुछ शब्द तथा देवदेवियों के नाम का मेल ही रह गया है, जिससे आदि वासस्थान के विषय में इतने सन्देह उत्पन्न हो रहे हैं। विदेश में अधिकार विस्तार होने से स्वदेश का गौरव बढ़ता ही है, घटता नहीं। सृष्टि के आदिकाल से पृथ्वी के विशाल वक्ष में विराजमान पृथ्वीपति आर्यजाति के विषय में ऐसा ही हुआ है, जिससे भारत में जगद्‌गुरु आर्यजाति का गौरव प्रतिष्ठित है और अन्य देशों में प्राचीन अधिकार विस्तार के स्मृतिचिन्ह आज भी विद्यमान हैं। अतः अर्वाचीन पुरुषों का कल्पनाजाल खण्ड विखण्ड हो गया। पहले ही कहा गया है कि 'ऋ' धातु का अर्थ गमन या व्याप्ति होने से जिसने पृथ्वी में सर्वत्र गमन करके अपना अधिकार विस्तार किया था वही आर्यजाति है ऐसा सिद्धान्त सुनिश्चित होता है। आर्यजाति के प्राचीन इतिहास पर मनन करने पर भी इन विषयों का पता लगता है। शास्त्रों में लिखा है कि स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत ने पृथ्वी को सप्तद्वीप में विभक्त किया था। यथा– जम्बु, प्लक्ष, पुष्कर, क्रौञ्च, शाक, शाल्मली और कुश। इन्हीं सप्तद्वीपों के अन्तर्गत आजकल के एशिया, यूरोप आदि महादेश हैं। राजा प्रियव्रत ने इन्हीं

सप्तद्वीपों को अपने पुत्रों के लिये विभक्त कर दिया था। अतः आर्यशास्त्र के अनुसार प्राचीन काल में ये ही सप्तद्वीप आर्य राजाओं के अधिकारभुक्त थे, आर्य इतिहास से यही सिद्धान्त निकलता है। प्रसिद्ध प्राचीन तत्ववेत्ता पण्डित ब्रुगस्वे साहब ने कहा है कि अति प्राचीन काल में सुयेज क्यानल पार होकर आर्यजाति के एक दल ने नील नद के तीर पर उपनिवेश स्थापन किया था। कर्नल अलकाट साहब ने कहा है कि भारतवर्ष से ही आर्यगणों ने मिश्र (Egypt) देश में जाकर अपनी सभ्यता और शिल्पकला का विस्तार किया था। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पहले पाण्डवों ने दिग्विजय करते हुए जिन जिन देशों पर अधिकार स्थापन किया था महाभारत के सभापर्व में उन सभी का वर्णन है। प्रथम यात्रा में चीन, तिब्बत, मङ्गोलिया, पारस्य आदि देश और द्वितीय यात्रा में अरब, मिश्र आदि देशों पर अपनी विजयपताका पाण्डवों ने फहराई थी। सगर राजा ने भी दिग्विजय के लिये निकल कर भारत महासमुद्र स्थित समस्त द्वीपों पर अधिकार जमाया था, यह वृत्तान्त भारत के आदिपर्व में लिखा है। यहाँ तक कि उत्तर मेरु देश में भी आर्यों का आना जाना था। महाभारत के वनपर्व में पाण्डुराजा ने कुन्ती को उत्तर मेरु में स्त्री जाति की अवस्था के विषय में वर्णन किया है कि उस देश की स्त्रियाँ नग्न रहती हैं इत्यादि। इसके सिवाय ऋग्वेद में भी सुदास और भुज्यु राजा के दिग्विजय का वृत्तान्त लिखा है। अतः वेद आदि हिन्दूशास्त्र तथा पाश्चात्य पण्डितों के सिद्धान्तानुसार निश्चय हो गया कि आर्य राजागण पृथ्वी में सर्वत्र ही विचरण तथा राज्यस्थापन करते थे। जहाँ जहाँ उनका अधिकार विस्तार होता था वहाँ के लोगों में उनका प्रभाव अवश्य ही जमता था और उस देश की भाषा में आर्यभाषा के शब्द आ जाया करते थे। क्योंकि जेता जाति के साथ विजित जाति का इस प्रकार भाषा और भाव का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। आजकल भारत पर अङ्गरेज जाति का अधिकार है जिससे यहाँ की भाषा तथा जातिगत भावों के ऊपर आंग्लभाषा और भावों का बहुत ही प्रभाव पड़ गया है। उसी प्रकार प्राचीनकाल में आर्यजाति की भाषा और भावों का बहुत ही प्रभाव पृथ्वी की अन्यान्य जातियों पर था। अब कालचक्र की विपरीत गति के कारण आर्यजाति का वह प्रभाव नष्ट हो गया है। इसलिये उन देशों में इनका

अधिकार भी विलुप्त हो गया है। केवल स्मृतिरूप से भाषा आदि का कहीं कहीं सादृश्य देखने में आता है। यही कारण है कि मध्यएशिया, पोलैण्ड आदि प्रदेशों में आर्यभाषा के शब्द, नाम और देवदेवियों की संज्ञा देखने में आती है। आर्यजाति के प्राचीनत्व के विषय में यही सत्य सिद्धान्त है जिसको बुद्धिमान लोग विचार के द्वारा निर्णय कर सकते हैं। संस्कृतभाषा के साथ जर्मन, स्काण्डिनेविया, पोलैण्ड आदि देशों की भाषा का सादृश्य और भी निम्न लिखित दो कारणों से हो सकता है। जिस समय पृथ्वी के अधीश्वर आर्य राजागण सर्वत्र अपना अधिकार विस्तार करके सर्वत्र ही वास करते थे, उस समय से क्रमशः उनमें से बहुत लोग उन देशों में अपना स्थायी वासस्थान बनाने लगे। पश्चात् जब आर्य जाति का गौरव पृथ्वी के अन्यान्य प्रान्तों में नष्ट होकर केवल भारतवर्ष में ही रह गया तब जो लोग अन्यान्य देशों में बस गये थे उनका सम्बन्ध आर्यजाति के साथ नष्ट हो गया। वे सब उधर ही रह कर धीरे धीरे अपने आर्यजातीय आचार व्यवहार से गिर गये और अन्य जाति कहलाने लगे। परन्तु उनकी भाषा आर्य भाषा होने के कारण यद्यपि नवीन भाव और जीवन के साथ उसमें कुछ परिवर्तन हो गया तथापि पूर्ण परिवर्तन नहीं हो सका। यही कारण है कि भारत के सिवाय अन्यान्य देशों की भाषाओं में भी संस्कृत भाषा के साथ सादृश्य देखने में आता है। इस प्रकार क्रियालोप से भिन्न जाति बनने के विषय में मनुजी ने भी कहा है–

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च ।।
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ।।
मुखबाहूरुपाज्जानां या लोके जातयो वहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ।।

उपनयन आदि क्रियालोप और वेदाध्ययनाध्यापन के अभाव से नीचे लिखी हुई जातियों ने क्रमशः शूद्रत्व और म्लेच्छत्व प्राप्त किया है। यथा पौंड्रक, औंड्र, द्रविड्, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश। ब्राह्मणादि चार वर्णों के बीच में से क्रियालोप

के कारण जो लोग बहिष्कृत होकर नाम से जाति कहलाते हैं वे आर्यभाषा बोलें या म्लेच्छभाषा बोलें इनकी गणना दस्युओं में होती है। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म्मोक्त क्रियालोप के होने के कारण प्राचीन आर्यजातियों में से बहुत जातियाँ बन गई हैं, और पृथ्वी के देश-देश में उनका वासस्थान हुआ है। महाभारत में वर्णित है कि महाराजा ययाति ने अपने कई पुत्रों को भारतवर्ष से निर्वासित किया था और राजा सगर ने अपनी प्रजाओं में से बहुत लोगों को भारतवर्ष से निकाल दिया था। ऋग्वेद में सुदास राजा के विषय में भी ऐसी बातें देखने में आती हैं कि उन्होंने अपने राज्यस्थ अनेक विद्रोही मनुष्यों को परास्त करके राज्य से निकाल दिया था। इस प्रकार से और पूर्वोक्त अनेक प्रकार से भारतवर्ष से आर्यगण अफ्रीका, यूरोप और अमेरिका के अनेक स्थानों में जा बसे हैं। कालक्रम से उनके आचार व्यवहार और प्रकृति अन्यरूप हो जाने पर भी बहुत सी बातें अब भी मिलती हैं और भाषा का मेल भी इसी कारण से पाया जाता है। संस्कृत भाषा से लाटिन्, ग्रीक, जर्मन् आदि भाषाओं के मेल होने का द्वितीय कारण संस्कृत भाषा की मौलिकता है। संस्कृत भाषा और देशों की भाषाओं की तरह अस्वाभाविक रूप से बनी हुई भाषा नहीं है। संस्कृत भाषा प्रकृति के कम्पन से उत्पन्न प्राकृतिक नादों से बनी हुई भाषा है। प्रकृति के स्पन्दन द्वारा प्रलयान्त में जब सृष्टि होने लगती है उस समय का प्रथम कम्पनजनित शब्द ॐ है। इसलिये ॐ ही सकल शब्दों का मूल आर्यशास्त्रों में माना जाता है (ओंकार के विषय में विस्तृत वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा) और इसके पश्चात् उसी मूल शब्द से प्रकृति के अनन्त कम्पन द्वारा अनन्त शब्दों की सृष्टि हुई है। उन्हीं प्राकृतिक शब्दों की समष्टि संस्कृत भाषा है और अन्य देशीय समस्त भाषाएँ इसी प्रकृति की विकृति से उत्पन्न हुई हैं। जब विकृति प्रकृतिमूलक है और उसी प्रकृति से संस्कृत भाषा बनी है तब विकृति से उत्पन्न समस्त भाषाओं के मूल में संस्कृत भाषा ही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। यही कारण है कि संसार की समस्त भाषाओं के मूल में (Root) संस्कृत भाषा देखने में आती है और जर्मन आदि भाषाओं के साथ संस्कृत का मेल रहने के ये ही सब कारण हैं। आर्यजाति का पौलैण्ड आदि स्थानों से भारत में आना इसका कारण नहीं है। वेद में

दीर्घकालव्यापी रात्रि और दिन तथा अधिक शीत का वर्णन है। इस कारण आर्यगण उत्तरमेरु में वास करते थे, इस प्रकार जो लोग कल्पना करते हैं उनकी भी कल्पना उपर्युक्त कारणों से कपोल कल्पना मात्र प्रतीत होती है। वेद पूर्ण और भगवद्वाक्य होने से उसमें संसार की सभी बातें रहेंगी इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है? अत: वेद में इन बातों को देखते हुए इस प्रकार कल्पना कर डालना ठीक नहीं प्रतीत होता। वेद की बात ही क्या, जब महाभारत के वनपर्व में पाण्डु राजा की कुन्ती के प्रति जो उक्ति है, उसके द्वारा यह सिद्ध होता है कि महाभारत जैसे इतिहास में भी उत्तरमेरु का वर्णन है, जिससे आर्यगण उत्तरमेरु में भी जाया आया करते थे। ऐसा निश्चय होता है; तो भूत, भविष्यत्, और वर्त्तमान को नेत्र के सामने रखने वाले वेद में उत्तरमेरु का वर्णन है इसमें असम्भावना ही क्या हो सकती है? पारसी जाति के जेन्दा आभिस्ता ग्रन्थ में आर्यगण स्वर्ग उत्तरमेरु है ऐसा जो वर्णन पाया जाता है वह भी सम्पूर्म भ्रमात्मक है। हिन्दूशास्त्रों में स्वर्ग को अनन्त सुख का स्थान कहा है, यथा–

''सुसुखः पवनः स्वर्गे गंधश्च सुरभिस्तथा''

''यन्त्र दुःखेन संभिन्नम्'' ।

इस प्रकार से स्वर्गलोक अतीव आनन्दमय है, वहाँ दुःख का लेशमात्र नहीं है ऐसा वर्णन किया गया है। परन्तु जहाँ छ: छ: महीने तक सूर्य का मुख देखने में न आवे और मारे ठण्ड के प्राण निकल जाय वह स्थान उपर्युक्त लक्षणयुक्त स्वर्ग कैसे हो सकता है सो बुद्धिमान् लोग सोच सकते हैं। स्वर्गलोक ऊद्ध्र्वलोक होने से वहाँ प्रकाश का अधिक होना शास्त्र तथा विज्ञान-सिद्ध है। अत: स्वर्ग में छ: महीने दिन और छ: महीने रात्रि नहीं हो सकती है और पृथ्वी की गति जानने वाले लोग जानते हैं कि विषुवत रेखा के उपरिस्थित और निकटवर्त्ती देशों में ही सूर्यरश्मि अधिक पड़ती है। इससे उत्तर की तरफ के देशों में उत्ताप होने से शीत अधिक होता है इसलिये उत्तरमेरु में अधिक शीत होना प्राकृतिक है। वहाँ पर कभी चिरवसन्त विराजमान था और संसार के श्रेष्ठ पुरुष आर्यगण वहाँ रहते थे, पश्चात् शीत अधिक होने से वहाँ से भागे ऐसा सिद्धान्त न भूगोल विद्या ही कह सकती है और न हिन्दू शास्त्रों में ही स्वर्ग का ऐसा लक्षण पाया जाता है। यदि स्वर्ग की ऐसी दुर्दशा हो तो

इतनी तपस्या और यज्ञ करके स्वर्ग की कामना कौन करेगा और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी–

"अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्"

इस प्रकार से स्वर्ग की महिमा ही क्यों वर्णन करेंगे? अत: इस प्रकार की कल्पना सर्वथा भ्रमयुक्त है। चतुर्दशभुवन और स्वर्गादि लोकों का रहस्य अति सूक्ष्म विज्ञान से युक्त अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन भावों को जो नहीं समझते वे लोग इस विषय को नहीं समझ सकेंगे। (स्वर्गादि लोकों का अतीन्द्रिय सूक्ष्म राज्य से सम्बन्ध है जिसका विस्तृत वर्णन एक स्वतन्त्र अध्याय में किया जायगा) जब वेद के वर्णनानुसार उत्तरमेरु की दशा जो पहले थी अब भी वही है तो आर्यगण वहाँ से यहाँ क्यों आये? पहले वहाँ पर शीत कम था, बीच में कुछ बढ़ गया और आजकल फिर पहले की तरह हो गया ऐसा कहना सत्य और वेदवर्णन-सङ्गत नहीं है और कभी ऐसा हो भी तथापि इससे आर्यगण वहाँ रहते थे ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है? वेद में केवल शैत्याधिक्य का वर्णन नहीं है। वेद में जिस प्रकार शीत का वर्णन है उसी प्रकार हेमन्त, शरत्, ग्रीष्म आदि का भी वर्णन है। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में शरद् ऋतु का, षष्ठ और पञ्चम मण्डल में हेमंत ऋतु का, दशम मण्डल में ग्रीष्म और वसंत ऋतु का और अनेक स्थानों में शीत ऋतु का वर्णन देखने में आता है। यदि वेद में शीत का वर्णन देखते ही शीतप्रधान उत्तरमेरु आर्यजाति का आदिवास स्थान था ऐसा सिद्धान्त करना हो तो वेद में शरत्, हेमंत, वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं का वर्णन देखने से जिन जिन स्थानों में ऐसे ऋतु प्रधान हैं वहाँ पर भी आर्यजाति प्राचीन काल में वास करती थी और वहाँ से यहाँ आ गई ऐसा कहना पड़ेगा। इस प्रकार की कल्पना का फल यह होगा कि आर्यजाति के आदिवासस्थान के विषय में कुछ निर्णय ही नहीं हो सकेगा। यदि वेद में वर्णित ऋतु के विचार से ही आर्यजाति का आदिवासस्थान निर्णय करना हो तो धीरमस्तिष्क होकर विचार करने से यही सिद्धान्त होगा कि जब वेद में सभी ऋतुओं का वर्णन देखने में आता है तो जहाँ पर सभी ऋतुएँ भ्रातृभाव से विराजमान हैं, पूर्ण प्रकृतियुक्त वही देश पूर्ण प्रकृति आर्यगण का आदिवास स्थान है और ऐसा सकल ऋतुओं से युक्त पूर्ण

प्रकृतिशाली भारत ही है, अन्य देश नहीं हो सकता। अत: विचार, शास्त्रीय प्रमाण, इतिहास, भूगोलादि सभी के अवलम्बन से सिद्धान्त हुआ कि भारतवर्ष ही आर्यजाति का आदिवासस्थान है।

कुछ अर्वाचीन पुरुषों ने जो तिब्बत से आदिसृष्टि मानी है सो प्रमाण और विचारों से हीन होने के कारण सर्वथा मिथ्या है। तिब्बत शीतप्रधान स्थान है। वहाँ छओं ऋतुओं का विकास न होने से वह भूमि पूर्ण प्रकृतियुक्त नहीं है अत: पूर्व कहे गए विज्ञान के अनुसार अपूर्ण प्रकृतियुक्त स्थान तिब्बत में पूर्ण प्रकृतियुक्त आर्यगण प्रथम उत्पन्न ही नहीं हो सकते। मध्य एशिया आदि से आने के विषय में जो कुछ युक्ति कोई कोई लोग देते हैं, तिब्बत के लिये कोई भी ऐसी युक्ति नहीं दी जा सकती। अत: प्रमाण और युक्ति से हीन होने के कारण यह कल्पना, सर्वथा परित्याज्य है और तिब्बत शब्द को त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्ग का अपभ्रंश कह कर स्वर्ग से देवप्रतिम आर्यो की उत्पत्ति बताना भी भ्रमयुक्त ही है, क्योंकि पूर्वसिद्धान्तानुसार आर्यगण ही आदिसृष्टि में उत्पन्न होने से त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्ग से आदि सृष्टि मानना विज्ञान और शास्त्रसंगत नहीं है। मनु संहिता में लिखा है–

तस्मिनण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ।।
ताभ्याञ्च शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च शाश्वतम् ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च निर्ममे ।।

भगवान् ब्रह्माजी ने सकल सृष्टि के आधाररूप अण्ड में एक वर्ष तक रहकर उसे ध्यानबल के द्वारा द्विधा विभक्त किया। उसके ऊपर के खण्ड से स्वर्ग आदि लोक और नीचे के खण्ड से पृथ्वी आदि लोकों की उत्पत्ति की। इस प्रकार सृष्टि के प्रथम स्वर्गादि लोक और पृथिव्यादि लोक उत्पन्न होने के बाद स्वर्गादि में दिव्यसृष्टि और पृथिव्यादि में मनुष्य सृष्टि प्रारम्भ होती है और उसी मनुष्य सृष्टि में पूर्ण मानव आये ऋषिगण हैं; जिसका प्रमाण पहले ही दिया जा चुका है। अत: तिब्बत को त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्ग कह कर वहाँ से मनुष्य सृष्टि का वर्णन करना मिथ्या कपोल कल्पना मात्र है, शास्त्रसङ्गत नहीं है। अन्तत: अर्वाचीन पुरुषों का सकल कल्पना जाल छिन्न होकर यह सिद्धान्त प्रकट हुआ कि आर्यजाति का आदि निवासस्थान भारतवर्ष ही है।

प्रसङ्गोपरान्त 'हिन्दू' शब्द के ऊपर विचार किया जाता है। हिब्रू भाषा में 'हन्द्' शब्द का अर्थ तेज, गौरव या शक्ति है। इस भाषा के 'एस्तार' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि राजा आहासुरेश हन्द् से इथिओपिआ तक राज्य करते थे, अर्थात् उनके राज्य के एक प्रान्त में भारतवर्ष और अन्य प्रान्त में मिशर देश था। भारतवर्ष को वे हन्द अर्थात् गौरवान्वित राज्य कहा करते थे। जेन्दा आभेस्ता में हन्द शब्द की उत्पत्ति 'हिन्दव' से मानी गई है और यही ग्रीक भाषा में 'हन्दकोश' 'इण्डिकोश' आदि शब्दरूपेण परिणित होता है और इसी से हिन्दू वा इण्डिया शब्द बना है। अतः हिन्दू शब्द का अर्थ पवित्र गौरवान्वित जाति है और पारसियों के अति प्राचीन ग्रन्थ जेन्दा आभेस्ता में जब हिन्दू जाति को गौरवान्वित जाति करके वर्णन किया है तब हिन्दू शब्द पर सन्देह करना का कोई कारण नहीं है। किसी किसी आधुनिक ग्रन्थ में हिन्दू शब्द का निन्दनीय अर्थ लिख है ऐसा कह कर आजकल जो लोग अपने को हिन्दू कहलाने में संकुचित होते हैं उनकी ऐसी भ्रान्ति ऊपर लिखित प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों से दूर हो जानी चाहिए। हिन्दू शब्द बहुत ही गौरवान्वित शब्द है और हिन्दू जाति करके आर्य जाति को ही समझना चाहिए। मेरुतन्त्र में–

हीनं च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये ।

हीनता के विरोधी उच्च गौरवान्वित जाति ही हिन्दू जाति है ऐसा कहकर हिन्दू जाति की परम प्रतिष्ठा की गई है और इसी सिद्धान्त के अनुसार इस ग्रन्थ में हिन्दु वा आर्य शब्द एकार्थवाचक रूप से व्यवहृत हुए हैं।

भारत आकाश में अज्ञान की घनघटा आच्छन्न होने से ज्ञानसूर्य विलुप्तप्राय हो गया है इससे वर्तमान भारतवासियों के हृदय से उनके प्राचीन पितृपितामह पुण्यश्लोक आर्यगण की गौरवस्मृति दिन प्रतिदिन नष्ट होकर नवीन विदेशीय जाति की अकिञ्चित्कर गौरव कहानी उनके चित्तपर प्रभाव जमा रही है जिसका यह विषमय फल देखने में आ रहा है कि स्वाधीन सन्धानप्रवृत्ति नष्ट होकर अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और इसी से हिन्दू जाति का अधःपतन हो रहा है। इसलिये वर्त्तमान प्रबन्ध में प्राचीन आर्य्य गौरव की स्मृति दिलाकर उसी के साथ आर्य्य

और अनार्य्य की पृथकता बताई जायगी। पाश्चात्य मनस्वी मोक्षमूलर साहब ने कहा है कि "जो जाति अपने प्राचीन गौरव, इतिहास और साहित्य से अपने को गौरवान्वित नहीं समझती, वह अपने जातीय जीवन के प्रधान आश्रय को नष्ट कर डालती है। जिस समय जर्मन जाति राजनैतिक अवनति के अन्धकूप में निमग्न हो गई थी उस समय उसने उपायान्तर न देख कर अपने ही प्राचीन साहित्य पर दृष्टि डाली थी और उसी अतीत की आलोचना द्वारा उसकी भावी आशालता फल फूलों से सुशोभित हो गई थी।"

जो जाति अपने प्राचीन पुरुषों के गौरव को भूल जाती है या उनके प्रति दोष-दृष्टिपरायण हो जाती है, वह जातीय जीवन में कदापि उन्नति नहीं कर सकती। दुर्भाग्य है हमारा कि हम अपने प्राचीन पुरुषों की जीवनचर्या को छोड़ कर किसी विदेशीय जाति का अनुकरण करते हैं और उसी में अपना गौरव और उन्नति समझते हैं। मनुसंहिता में लिखा है–

येनाऽस्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ।।

पिता पितामह आदि के द्वारा प्रदर्शित पथ ही उत्तम पथ है। उसी के अवलम्बन से कोई विपत्ति भी नहीं होती है। अतः अपनी उन्नति के लिये हमें प्राचीन आर्य्य पुरुषों की सर्वतोमुखिनी महिमा पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। आर्य्यजाति और उसके निवासस्थान भारतवर्ष के विषय में **प्रोफेसर मोक्षमूलर ने कहा है–** "समस्त पृथ्वी में यदि ऐसा कोई देश मुझे बताना हो जिसको प्रकृतिमाता ने धन, ऐश्वर्य, शक्ति और सौन्दर्य के द्वारा पूर्ण कर रक्खा है, यहाँ तक कि जिसे पृथ्वी में स्वर्ग कहने पर भी अत्युक्ति न होगी, तो मैं मुक्तकंठ होकर बता दूँगा कि वह देश भारतवर्ष है। यदि कोई मुझसे कहे कि किस आकाश के नीचे मनुष्य अन्तःकरण की पूर्णता प्राप्त हुई थी और जीवन रहस्य के कठिन सिद्धान्तों की मीमांसा हुई थी, जिसको प्लेटो तथा क्यान्ट जैसे दार्शनिक पुरुषों के दार्शनिक ग्रन्थों के पाठक भी जानकर ज्ञानवान् हो सकते हैं, तो मैं बता दूँगा कि वह देश भारतवर्ष है। यदि मैं अपनी आत्मा से पूछूँ कि हम यूरोपवासी, जिनकी चिन्तन शक्ति की पुष्टि ग्रीक, रोमन तथा

सेमेटिक जाति की चिंतनशक्ति द्वारा हुई है, अपने जीवन को पूर्ण उदार, विश्वव्यापी और मनुष्यत्वपूर्ण बनाने के लिये तथा इस जीवन के सिवाय चिरजीवन तक पूर्णोन्नत बनाने के लिये किस देश के साहित्य और शास्त्र से शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं? तो मुझे यही उत्तर मिलेगा कि वह देश भारतवर्ष है। भाषा, धर्म, पुरावृत्त, दर्शनशास्त्र, आचार, शिल्प और विज्ञान कोई भी विषय मनुष्य जानना चाहे, सभी का अपूर्व अनुपम आदर्श प्रकृतिमाता के अनन्त भण्डार भारतवर्ष में ही प्राप्त हो सकता है" आर्यजाति के प्राचीन इतिहास पर सोचने से प्रोफेसर मोक्षमूलर की बातें अक्षरशः सत्य मालूम होती हैं। भारतवर्ष के विषय में कहा गया है–

मन्ये विधात्रा जगदेककाननम् ।
विनिर्मितं वर्षमिदं सुशोभनम् ।।
धर्माख्यपुष्पाणि कियन्ति यत्र वै ।
कैवल्यरूपं च फलं प्रचीयते ।।

भारतवर्ष भगवान् का बनाया हुआ सुन्दर बगीचा है जिसमें धर्मरूपी फूल और मुक्तिरूपी फल उत्पन्न होता है। जिस प्रकार सायन्स और शिल्पकला की उन्नति से आधिभौतिक उन्नति समझी जाती है उसी प्रकार ज्ञान और आत्म तत्त्वविज्ञान की उन्नति से आध्यात्मिक उन्नति समझी जाती है। प्राचीन काल में आर्य्यजाति आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी, इसको सभी निरपेक्ष लोग स्वीकार करते हैं। जिस गंभीर आत्मतत्त्व की खोज में प्लेटो तथा साक्रेटिस जैसे मनीषी थक गये हैं और स्पेन्सर ने ईश्वर तत्त्व जानना मेरी बुद्धि से अतीत है ऐसा कह दिया है, वहाँ पर अपनी सूक्ष्म बुद्धि तथा अतीन्द्रिय दृष्टि को दौड़ा कर आत्मतत्त्व का पूर्ण अनुभव करना प्राचीन आर्य्यगण की ही महती शक्ति का फल है जिसके कारण केवल भारतवर्ष ही नहीं, समस्त संसार उनका ऋणी रहेगा। पाश्चात्य दार्शनिक विज्ञान और आर्य्यजाति के दार्शनिक विज्ञान की परस्पर तुलना करने से संक्षेपतः यही कहना यथार्थ होगा कि जहाँ पर अन्य देशों का विज्ञान समाप्त हुआ है वहाँ से आर्य्यजातीय दार्शनिक विज्ञान प्रारम्भ होकर अनन्त ज्ञान समुद्र में जाकर विलीन हुआ है। जिस प्रकार ज्ञान की पूर्णता से पुरुष की पूर्णता और मुक्ति होती है, उसी प्रकार पातिव्रत्य की पूर्णता से स्त्री की पूर्णता

और मुक्ति होती है। इसलिये जिस देश की स्त्रियों में सतीधर्म की पूर्णता देखने में आती है वही देश पूर्णोन्नत है इसमें अक्षरमात्र सन्देह नहीं है। समस्त पृथ्वी में केवल आर्यमाता भारतभूमि ही सतीत्व की पूर्णता द्वारा विभूषित हुई थीं, इस बात को सभी लोग एकवाक्य होकर स्वीकार करेंगे। आर्यरमणी का जीवन अपने सुख के लिये नहीं किन्तु पतिदेवता की पूजा के लिये ही है इसलिये पतिदेवता का शरीर त्याग हो जाने पर आर्य्यरमणी एकाकिनी संसार में नहीं रह सकती क्योंकि देवता का विसर्जन होने पर नैवेद्य की आवश्यकता क्या है? इसलिये आर्य्यशास्त्र में सती के लिये मृत पति के साथ सहमृता होने तक की आज्ञा दी गयी है। प्राचीन काल में इस प्रकार आज्ञा का पूर्णतया प्रतिपालन हुआ करता था।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में अष्टादश सूक्त के अष्टम ऋक् में संकुशक ऋषि ने पति के वियोग से कातरा सहगमन के लिये उद्यता किसी स्त्री को लक्ष्य करके कहा है–

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि ।
हस्ताग्रामस्य दिधिषोस्त्ववेदं पत्युर्जनित्यमभ्रिसम्बभूव ।।

हे स्त्री! संसार की ओर लौट जाओ, उठो, तुम जिसके साथ सोने को जा रही है, वह मृत हो गया है। इसलिये उसके साथ तुम्हारा गर्भाधानादि कार्य समाप्त हो गया है। अब घर में वाल बच्चों को लेकर रहो। इन मन्त्र से यही भावार्थ निकलता है कि स्त्री सहमरण में जाना चाहती है और लोग उसे निवृत्त कर रहे हैं। राजा पाण्डु की मृत्यु से माद्री का सहमरण, इत्यादि आर्यरमणी की पूर्णता के ज्वलन्त दृष्टान्त यहाँ पर ही मिलेंगे। अतः प्राचीन आर्यजाति की आध्यात्मिक उन्नति की पूर्णता सर्ववादि सम्मत है।

प्राचीन आर्यजाति में मानसिक उन्नति कितनी हुई थी? आर्यजाति के व्यावहारिक जीवन पर पर्यालोचना करने से उसका स्वरूप पूर्णतया प्रकट होगा। जहाँ पर हरिश्चन्द्र जैसे महात्मा सत्यरक्षा के लिये राज्य, धन, स्त्री, पुत्र तक को उत्सर्ग करके चाण्डाल का दासत्व कर सकते हैं, जहाँ पर शरणागत पक्षी तक की रक्षा के लिये शिवि राजा अपने शरीर को खण्ड खण्ड करके काट दे सकते हैं, जहाँ पर आसुरी

शक्ति को दमन करने के लिये महर्षि दधीचि अपने अस्थि तक को प्रदान कर सकते हैं, जहाँ पर मयूरध्वज जैसे गृहस्थ अतिथिसत्कार की पराकाष्ठा का आदर्श स्थापन करने के लिये स्त्री-पुरुष मिल कर अपने बालक के शरीर के सिर से पैर तक दो टुकड़े कर सकते हैं, जहाँ पर पितृ-सत्य प्रतिपालन के लिये श्रीरामचन्द्र जटा धारण करके वनवासी हो सकते हैं, जहाँ पर पिता की तृप्ति के लिये भीष्मदेव आजीवन ब्रह्मचारी रह सकते हैं, जहाँ पर समस्त राज्य से च्युत होकर वनवास का क्लेश सहन करने पर भी महाराज युधिष्ठिर सत्य की मर्यादा को नहीं भूल सकते हैं, वहाँ की जातियों में मानसिक, नैतिक तथा चरित्रसम्बन्धीय कितनी उन्नति हुई थी सो सामान्य पुरुष भी विचार निर्णय कर सकेंगे। प्राचीन आर्यजाति की उदारता, सरलता, सत्यप्रियता, साहसिकता, शिष्टाचार, सदाचार, दया, परोपकारवृत्ति आदि सभी दैवी सम्पत्तियाँ संसार में आदर्शरूप हैं। मनुजी ने अपनी संहिता में लिखा है–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

भारत में उत्पन्न आर्यब्राह्मणों के पास से ही पृथ्वी की अन्यान्य जातियों को चरित्र का आदर्श ग्रहण करना चाहिए। इसकी पूर्णता भारत के इतिहास पाठ करने से मालूम होती है। केवल मनुजी की ही बात नहीं, अनेक विदेशीय भारत-भ्रमणकारी लोगों ने भी आर्यजाति के अपूर्व चरित्र और मानसिक उन्नति के विषय में हाथ उठा कर बार बार ऐसा ही कहा है। पाश्चात्य पण्डित चसार ने सत्यधर्म को सकल धर्म से श्रेष्ठ कहा है और हिन्दू शास्त्र में–

नाऽस्ति सत्यात्परो धर्म्मः ।

कह कर सत्य की ही प्रतिष्ठा की है। आर्यजाति की सत्यवादिता के विषय में द्वितीय शताब्दी के ऐतिहासिक एरियान साहब आदि ने भी कहा है– "मैंने कभी किसी आर्य को मिथ्या कहते हुए नहीं सुना है।" ग्रीक ऐतिहासिक राष्ट्रों ने कहा है– "आर्यगण ऐसी उत्तम प्रकृति के मनुष्य हैं कि चोरी के भय से उनके दरवाजे पर ताला नहीं लगाना पड़ता और उन्हें किसी कार्य के लिये इकरारनामा नहीं लिखना पड़ता है।" चीन देशीय प्रसिद्ध भ्रमणकारी हुयेनसांग ने कहा है– "सच्चरित्रता वा

सरलता के लिये आर्यजाति चिरकाल से प्रसिद्ध है। वे लोग कभी अन्याय से किसी की धन सम्पत्ति आत्मसात् नहीं करते और न्याय की मर्यादा रक्षार्थ त्याग स्वीकार करने में कुछ भी कुण्ठित नहीं होते।'' त्रयोदश शताब्दि के भ्रमणकारी मार्कोपोलो ने भारतवर्षीय ब्राह्मणों की सत्यनिष्ठा को देख कर कहा था कि पृथ्वी में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसके लोभ से ब्राह्मण मिथ्या भाषण कर सकता है। विचारपति कर्नल शिलम्यान् साहब ने कहा है– मैंने सैकड़ों मुकद्दमों का विचार करते हुए देखा है कि जहाँ पर एक शब्द मिथ्या बोलने से किसी की प्राणरक्षा या सम्पत्तिरक्षा आदि हो सकती है, वहाँ पर भी वादी या प्रतिवादी के वशवर्त्ती हो आर्य सन्तान ने मिथ्या कहना पसन्द नहीं किया है।'' और लोगों की तो बात ही क्या है, भारतवर्ष के प्रथम गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्स साहब ने भी पार्लियामेण्ट में साक्षी प्रदान के समय हिन्दुओं को विनयी, परोपकारी, कृतज्ञ, विश्वासी और स्नेहशील कह कर प्रशंसा की है। अध्यापक यूलियस साहब ने कहा है– ''यूरोप की कोई भी जाति भारतवासियों की तरह धर्मपरायण नहीं है।'' प्रोफेसर मोक्षमूलर ने कहा है– ''आर्यजाति में सत्यप्रियता ही सबसे उत्कृष्ट जातीय लक्षण है।'' किसी ने इस जाति को ''असत्य'' का लाञ्छन नहीं लगाया है। ग्रीस देश के प्रसिद्ध सिकन्दर शाह भारत से जाते समय मेगास्थनीज नामक जिस दूत को यहाँ की रीति-नीति को जानने के लिये छोड़ गये थे, उसने आर्यजाति के विषय में कहा है– ''आर्यजाति में दासत्वभाव बिलकुल नहीं है, इनकी स्त्रियों में पातिव्रत्य और पुरुषों में वीरता असीम है। साहसिकता में आर्यजाति पृथ्वी भर की अन्य जातियों से श्रेष्ठ हैं, परिश्रमी, शिल्पी और नम्रप्रकृति हैं। यह कदापि अदालतों में मुकद्दमे नहीं करते और शान्ति के साथ परस्पर मिल कर वास करते हैं।'' प्रसिद्ध ऐतिहासिक अबुल फजल ने कहा है– ''हिन्दूगण धर्मपरायण, मधुरस्वभाव, अतिथिसेवी, सन्तोषी, ज्ञानप्रिय, न्यायशील, कार्यदक्ष, कृतज्ञ, सत्यपरायण और बहुत ही विश्वस्त होते हैं।'' इस प्रकार प्राचीन इतिहासों की चर्चा करने से प्राचीन आर्यजाति के मधुर और पूर्ण चरित्र का परिचय मिलता है। जिस समय पृथ्वी की अन्यान्य जातियाँ असभ्यता के घोर अन्धकार में डूबी हुई थीं, उस समय भारतवर्ष में

सभ्यता की ज्योति सर्वत्र फैली हुई थी और उसी ज्योति को लेकर ही मनुजी के कथनानुसार पृथ्वी की अन्यान्य जातियाँ सभ्यता तथा उन्नति को प्राप्त हुई हैं। दृष्टान्त रूप से समझ सकते हैं कि ख्रिष्ट जन्म के ५५ वर्ष पूर्व जब पराक्रान्त जूलियस सीजर ब्रिटेन द्वीप को अधिकृत करने के लिये आये थे, तब उन्होंने यह देख कर दुःख किया था कि वे जहाँ पर अधिकार करने को आये हैं वहाँ के लोग पशुतुल्य हैं। कच्चा मांस खाना, भूगर्त में रहना, वृक्षशाखाओं पर विहार करना, विविध रंगों से शरीर सज्जित करना ये सब उनके आचार हैं। उनकी भाषा भी पशुओं की तरह है। परन्तु जब वीर चूड़ामणि सिकन्दर शाह जूलियस सीजर के तीन सौ वर्ष पहले भारत विजयार्थ पंजाब में आये थे, तब वे यह देख कर चकित हुए कि अपने देश में रहते समय जिस आर्य जाति को वे हीनवीर्य वा असभ्य समझा करते थे वह जाति ग्रीक जाति की शिक्षागुरु है। उन्होंने राजा पोरस के साथ संग्राम में समझ लिया था कि आर्यजाति के समान वीर जाति संसार में कोई नहीं है। उनकी वीरत्व, वेश, भूषण, स्वाभाविक अपूर्व सौन्दर्य, दयाशीलता, निर्भयता, आतिथ्यवृत्ति, धर्मबुद्धि आदि गुणसमूह मनोमुग्धकर हैं। उनकी भाषा मन्दाकिनी के मृदुमन्द नाद की तरह अतिमधुर है। इस प्रकार हजारों प्रमाण मिलते हैं जिनसे प्राचीन आर्य जाति की गुणगरिमा का सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होना सिद्ध होता है।

जिस जाति का नैतिक जीवन जितना उच्च होता है उसकी राजनीति भी उतनी ही उत्कृष्ट होती है इसमें कोई संदेह नहीं है। प्राचीन आर्यजाति के चरित्र को देख कर ही उसके राजकीय शासन को समझ सकते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर ने कहा है कि प्रजा की चरित्र सम्बन्धी उन्नति को देख कर राज्यशासन प्रणाली का पता लगता है। शास्त्र में भी कहा है–

राज्ञि धर्म्मिणि धर्म्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ।।

राजा के धार्मिक होने से प्रजा धार्मिक होती है, पापी होने से प्रजा पापी होती है और समभावसम्पन्न होने से प्रजा समभावसम्पन्न होती है। प्रजा राजा का ही अनुकरण करती है और राजा के तुल्य प्रकृतिवाली

हो जाती है। जब पूर्व प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आर्यजाति मिथ्यावाद, चोरी और अदालत में जाना तक नहीं जानती थी तो इससे अधिक उत्कृष्ट राजानुशासन का परिचय और क्या मिल सकता है? आयरलैण्ड के प्रसिद्ध पालिटीशियन एडमण्ड वर्क साहब ने कहा है कि प्रजा की संख्या और धन-सम्पत्ति को देख कर ही राजानुशासन की परीक्षा होती है। यदि इस बात की ही परीक्षा ली जाय, तो भी आर्यजाति इसमें श्रेष्ठ निकलेगी; क्योंकि आर्यजाति की संख्या और संपत्ति प्राचीन काल में अतुलनीय थी। प्रोफेसर म्याक्स, उङ्कार और टेसियस ने कहा है कि पृथ्वी की सब जातियों की जितनी जनसंख्या होती है, एक ही आर्यजाति की उतनी जनसंख्या है और सम्पत्ति के विषय में तो भारत स्वर्णभूमि के नाम से चिरप्रसिद्ध ही है। अत: यदि वर्क साहब की राय मानी जाय तो भी प्राचीन आर्यजाति में शासनप्रणाली की पूर्णता प्रमाणित होती है। वास्तव में राजा का जो लक्षण है सो प्राचीन आर्यजाति में ही प्राप्त होता था। जिस जाति में राजा अपनी प्रजा को पुत्रवत देखते थे, जिस जाति में राजा प्रजा की धन सम्पत्ति को अपने विषय-विलास की सामग्री न समझ कर अपने को उनकी सम्पत्ति का रक्षक मात्र समझते थे, जिस जाति में राजा प्रजारंजन के बिना अपने जीवन और राजकार्य को व्यर्थ समझते थे, जिस जाति में राजा केवल प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिये अपनी निरपराधिनी पतिव्रता स्त्री को घोर अरण्य में त्याग कर सकते थे, उस जाति में राजकीय शासन-प्रणाली किस प्रकार की पूर्णता से सुशोभित थी सो विचारवान् पुरुष ही सोच सकते हैं। महाभारत में जो राजधर्म के विषय में वर्णित किया गया है, शुक्राचार्य ने जो राजनीति बताई है और मनुजी ने जो राजशासन के लिये नीति बनाई है, पृथ्वी भर में इनकी तुलना कहीं नहीं मिलती। प्रोफेसर विलसन साहब ने मनुजी के कानून के विषय में कहा है– "इस प्रकार का कानून जिस जाति में बनाया जा सकता है वह जाति सामाजिक सभ्यता और अनुशासन की पराकाष्ठा तक पहुँची हुई थी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता।" 'बाइबल इन इण्डिया' में लिखा है कि मनुस्मृति ही मिश्र, ग्रीस तथा रोम के कानूनों की भित्तिरूप है और पश्चिमी देशों में मनुस्मृति का प्रभाव सभी लोग अनुभव करते हैं। डाक्टर

राबर्टसन साहब ने कहा है– "मनु की राजनीति के देखने से प्रतीत होता है कि पृथ्वी में सर्वोत्तम सभ्यजाति ही इस प्रकार का कानून बना सकती है। सूक्ष्म विचार, गम्भीर गवेषणा, न्यायपरता, स्वाभाविक धर्मप्रवृत्ति और धर्मानुशासन इत्यादि की विशेषता रहने से मनुजी की नीति पाश्चात्य राजनीति से अनेक अंशों में उत्कृष्ट है।" सर चार्ल्स मेटकाफ साहब ने कहा है– "आर्य्य राजनीति का प्रभाव केवल समष्टि राज्य में ही नहीं पड़ता था; अधिकन्तु उसी के प्रभाव से ग्राम ग्राम में प्रजातन्त्र प्रणाली की ऐसी अच्छी व्यवस्था बन गई थी कि वे लोग परस्पर में ही सब राजनीति के निर्णय कर लिया करते थे। जिससे उनको बड़ी अदालतों में कभी आना ही नहीं पड़ता था और इस प्रकार की विराट् राजशक्ति के अधीन होने पर भी वे व्यष्टिरूप से स्वतन्त्र और सुखी रहा करते थे। ये ही सब प्राचीन आर्यजाति में राजशासन प्रणाली की पूर्णता के लक्षण हैं।

स्वाधीन जातिमात्र ही वीरता का आदर करती है और देश के कल्याण के लिये जीवन उत्सर्ग करने में परम गौरव समझती है; परन्तु प्राचीन आर्यजाति में यह पूर्णता का ही लक्षण है कि उसकी वीरता के साथ अपूर्वता और धर्मभाव भरा हुआ था। प्राचीन आर्यजाति आधुनिक पाश्चात्य जाति की तरह मदोन्मत्त होकर और धर्म को तिलाञ्जलि देकर युद्ध नहीं करती थी; किन्तु धर्म की विजय और अधर्म की पराजय करना प्राकृतिक नियम और भगवदाज्ञा है इसलिये उसी में निमित्त मात्र बन कर सहायता करने के लिये युद्ध करती थी। भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य दुर्योधन के अन्न से प्रतिपालित हुए थे, इसलिये उनका उनके पक्ष में होकर युद्ध करना धर्मानुकूल था; परन्तु दुर्योधन के अधार्मिक होने के कारण उसका नाश भी धर्मानुकूल था इसलिये भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण ने पाण्डवों के विरुद्ध लड़ाई करने पर भी उनको अपनी मृत्यु कैसे हो सकती है सो बता कर धर्म की विजय कराई थी। दुर्योधन पाण्डवों का परम शत्रु था तथापि जिस समय युद्ध में विजयी होने के लिये क्या युक्ति है इसको जानने के लिये दुर्योधन युधिष्ठिर के पास आए तो युधिष्ठिर ने अपने ही नाश का उपाय दुर्योधन को अकपट चित्त से बता दिया था। 'अश्वत्थामा मर गये हैं' इसी एक मिथ्या वाक्य

के कहने से द्रोणाचार्य की मृत्यु होगी इसलिये जब युधिष्ठिर को मिथ्या कहने का परामर्श दिया गया तो उन्होंने उत्तर दिया– "इन्द्रप्रस्थ का राज्य तो सामान्य है, यदि स्वर्ग का राज्य और ब्रह्मलोक भी मिल जाय तथापि युधिष्ठिर मिथ्या कभी नहीं कहेगा।" ऐसे अनेक आदर्श मिलते हैं, जिनसे प्राचीन आर्यगणों में धर्मानुकूल वीरता का लक्षण प्रमाणित होता है। आर्यजाति में स्थूल सम्पत्ति को लेकर संग्राम का कारण उपस्थित होने पर भी चित्त की उदारता नष्ट नहीं होती थी। धार्मिक पाण्डवों पर दुष्ट कौरवों ने संसार भर में ऐसा कोई अत्याचार नहीं है जिसका प्रयोग नहीं किया था; परन्तु ज्येष्ठ आत्मीय सदा ही पूज्य हैं, इसलिये प्रतिदिन युद्ध के अन्त में पाण्डवगण जन्मान्ध धृतराष्ट्र को प्रणाम करने को जाया करते थे और दुर्योधन की स्त्रियाँ जिस समय तीर्थयात्रा में विद्ग्रस्ता हो गई थीं, उस समय समस्त पाण्डवों ने मिल कर उनकी रक्षा की थी। निरस्त्र शत्रु पर प्रहार करना और निर्वल शत्रु पर अत्याचार करना और अन्यान्य रीति से युद्ध करना आर्यजाति स्वप्न में भी नहीं जानती थी एवं जहाँ पर आर्यजाति में इस उदाहरण और महत्व के विरुद्ध कोई भी कार्य हुआ है, वहाँ उसकी बड़ी भारी निन्दा की गई है। प्रसङ्गोपात्त आर्य्यजाति के शस्त्रप्रयोग का एक इतिहास कहना उचित समझा गया। अर्जुन ने खाण्डव दहन करते समय मय नामक दानवराज के प्राण बचाये थे। उस समय कृतज्ञता का परिचय देने के लिये दानवराज मय ने अर्जुन से कहा कि मेरे पास जो अलौकिक दानवास्त्र हैं, मैं आपको अपने प्राण बचाने के बदले में देकर कृतकृत्य होना चाहता हूँ। पश्चात् अर्जुन द्वारा उन दानवास्त्रों का फल पूछने पर मय दानव ने उत्तर दिया कि ये अस्त्र ऐसे अलौकिक हैं कि इनके द्वारा आकाश में उड़ कर वा अदृश्य होकर शत्रु का नाश किया जा सकता है। जल में डूब कर, अदृश्य होकर शत्रुओं का क्षय हो सकता है। शत्रु के सम्मुख न जाकर अति दूर से शत्रु का नाश हो सकता है, इत्यादि। इन लक्षणों को सुन कर अर्जुन ने शस्त्रों की प्रशंसा की; परन्तु यह कहा कि हम आर्य्य हैं, ये सब अनार्यसेवित अस्त्र हमारे काम में नहीं आ सकते, इस कारण हम इनको सीखने के अनिच्छुक हैं, इत्यादि। इस इतिहास से स्पष्ट ही प्रमाणित होता है कि आर्य्यगण किस प्रकार के धर्म्मलक्ष्ययुक्त युद्ध के पक्षपाती थे और

अद्भुत और अलौकिक शक्तिविशिष्ट होने पर भी दानव-सेवित अस्त्रों का प्रयोग करने में भी अधर्म समझते थे।

आर्यों के दिव्यास्त्र कैसे थे उसका कुछ कुछ वर्णन पुराणों में मिलता है। मन्त्र विनियोग के भेद से ब्राह्मणों के काम के लिये और क्षत्रियों के काम के लिये वे विभिन्न रूप से काम में आते थे। मन्त्र की सहायता से क्षत्रियों के विभिन्न अस्त्र अलौकिक शक्तियुक्त हो जाते थे। ब्राह्मणगण उन्हीं मन्त्रों के द्वारा साधन शैली और विनियोग के भेद से अंतर्राज्य की सहायता से स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, पीड़ा और ग्रहदोष आदि से रक्षण इत्यादि अलौकिक कार्य्य किया करते थे। रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों में वर्णित क्षत्रियों के दिव्यास्त्रों की अलौकिक शक्ति का वर्णन कविकल्पना नहीं है। उनकी वर्णन शैली के मूल में अलौकिक सत्य निहित है। यद्यपि उन मन्त्रयुक्त अस्त्रों की साधन प्रणाली इस समय प्रायः लुप्त हो गई है, तथापि अभी तक दिव्यास्त्र के पद्धति-ग्रन्थ भारतवर्ष में कहीं कहीं मिलते हैं। आर्य जाति के युद्ध में वीरता की पराकाष्ठा थी, आर्य जाति केवल क्षुद्र ऐहलौकिक स्वार्थ के लिये नहीं लड़ती थी किन्तु धर्मयुद्ध में आत्मबलिदान करके उत्तरायण गति के द्वारा अनन्त दिव्यसुख लाभ करने के लिये लड़ाई करती थी। मनुसंहिता में कहा है–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः ।।

परिव्राजक योगी और सम्मुख रण में जीवनोत्सर्ग करने वाले वीर पुरुष दोनों ही उत्तरायण गति को प्राप्त करते हैं। गीता में कहा है–

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।।

लड़ाई में मर जाने पर स्वर्गलाभ होगा और जीत होने पर स्वराज्य मिलेगा। इस प्रकार के शास्त्रोक्त उपदेश के अनुसार आर्यजाति वीरता के साथ देश और धर्म के लिये लड़ती थी, आर्य और उनकी सहधर्मिणियों का परलोक पर पूर्ण विश्वास था, वे जानते थे कि सम्मुख युद्ध में मृत्यु और सहमरण के बाद वे दोनों ही अक्षय स्वर्गलाभ तथा आनन्दोपभोग कर सकेंगे। इसलिये आर्य वीरों को मरने में डर नहीं था, वे खटिया पर सो के मरना निन्दनीय समझते थे और युद्ध में मरना ही

परम पवित्र और आर्य जनोचित समझते थे और उनकी स्त्रियाँ भी उनके साथ सहमृता होती थीं। स्वदेशहितैषिता का भाव उनके रोम रोम में घुसा हुआ था। स्वदेश और स्वधर्म सेवा को भगवत्-पूजा समझ कर निष्काम कर्मयोग के द्वारा वे आत्मा की उन्नति साधन करते थे और तभी प्राचीन काल में भारत की वह गौरव गरिमा दिग्दिगन्त में परिव्याप्त थी। केवल प्राचीन आर्यजाति में ही नहीं, उसकी उस गौरव रवि की प्रज्वलित रश्मि ने अतीत के अन्धकार को भेद करके वर्त्तमान आर्यजीवन को भी उज्ज्वल किया है। अभी थोड़े ही दिन हुए मेवाड़ के पुण्यश्लोक महाराणा प्रताप प्रमुख राजपूत वीरगण तथा राठौर दुर्गादास और मेवाड़ के पृथ्वीराज आदि वीरों ने भारतमाता की मुखच्छवि को अपनी प्रतिभा और वीरता से जिस प्रकार उज्ज्वल किया है, पृथ्वी भर के इतिहास में भी ऐसा दृष्टान्त विरल है। यही प्राचीन आर्य्यजाति में धर्ममूलक वीरता का दृष्टान्त है, जिसका विशेष वर्णन आगे के किसी अध्याय में किया जायेगा।

केवल वीरता ही नहीं अधिकन्तु युद्ध-विद्या की भी पूर्णोन्नति प्राचीन आर्यजाति में हुई थी। प्राचीन धनुर्वेद में जिस प्रकार अद्भुत अस्त्रशस्त्रों का वर्णन देखने में आता है उनका प्रयोग करना तो दूर की बात है, उनके रहस्यों को समझना और विश्वास करना भी आजकल कठिन हो गया है। नागपाश, शक्तिशेल, सम्मोहन, अग्निबाण, वारुणास्त्र आदि में वैद्युतिक शक्ति तथा दैवीशक्ति का सञ्चार करके उनके द्वारा मूर्छा आदि किस प्रकार उत्पन्न किया करते थे सो आर्यजाति आजकल भूल गई है और पाश्चात्य जातियों ने भी आजतक उनका रहस्य-भेद नहीं पाया है। विलसन् साहब ने कहा है कि बाणनिक्षेप विद्या में प्राचीन आर्यजाति अद्वितीय थी, एकदम कई बाण निक्षेप करना, निक्षिप्त बाण को लौटा लाना, बाण की कई प्रकार की वैद्युतिक शक्ति द्वारा शत्रु को कभी मूर्छित, कभी मुग्ध, कभी दग्ध आदि कर देना यह सब प्राचीन आर्यजाति में युद्ध विद्या की पूर्णता का लक्षण था। द्रौपदी के स्वयम्वर में अर्जुन की बाणविद्या, कुरुक्षेत्र के युद्ध में भीष्म, द्रोण और कर्ण की अद्भुत अस्त्रचालन विद्या, राम रावण के युद्ध में राम, रावण तथा मेघनाद की विचित्र रहस्यमय शक्तिशेल, सम्मोहन, वारुणास्त्र,

पाशुपतास्त्र, गरुड़ास्त्र, नागपाशास्त्र आदि अस्त्र विद्याएँ संसार में अतुलनीय और आधुनिक जगत में स्वप्नस्मृति की तरह हो रही हैं; परन्तु प्राचीन आर्यजाति में ये ही विद्याएँ पराकाष्ठा तक पहुँच गई थीं। तलवार के चलाने में आर्यजाति जिस प्रकार निपुण थी वैसी कोई भी जाति संसार में निपुण नहीं थी। प्रसिद्ध टेसिया साहब ने भारतवर्षीय तलवार को समस्त संसार के शस्त्रों से अच्छा कहा है। मुसलमान लोग राजपूत वीरों की तलवार से इतना डरते थे कि उनके ग्रन्थों के पत्र में इसका इतिहास मिलता है। पृथ्वी विजयी महावीर अलकजण्डर भारत विजय के लिये यहाँ आकर पहिले तो महावीर राजा पुरु की वीरता को देख मोहित हो गये और पीछे मगध सम्राट के सेनाबल को देख कर भारतवर्ष से भाग ही गये। हण्टर साहब ने कहा है– "सैन्यचालना, सैन्यसन्निवेश, सैन्यों का विविध व्यूहों के रूप से युद्धक्षेत्र में संरक्षण, व्यूहरचना आदि युद्धविद्या का वर्णन महाभारत के अनेक स्थानों में पाया जाता है जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजाति में इस विद्या की कोई कमी नहीं थी।" उनके सैन्यसन्निवेश की प्रक्रिया उरस, कक्षा, पक्ष, प्रतिग्रह, कटि, मध्य, पृष्ठ आदि रूप से विभक्त थी। उनकी व्यूहरचना में जो अद्भुत कौशल था सो आजकल के क्या पाश्चात्य क्या एतद्देशीय कोई भी नहीं जानते हैं। कुछ व्यूहों के नाम उनके आक्रमण के अनुसार हुआ करते थे। यथा– मध्यभेदी, अन्तर्भेदी इत्यादि। कोई कोई व्यूह वस्तु सादृश्य के अनुसार हुआ करते थे। यथा– मकरव्यूह, श्येनव्यूह, शकटव्यूह, अर्द्धचन्द्र, सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका, दण्ड, मण्डल, असंहत इत्यादि। कुरुक्षेत्र के युद्ध का महाभारत में वर्णन है कि युधिष्ठिर अर्जुन को (मेसीडोनियन व्यूह की तरह) सूचीमुख व्यूह निर्माण करने को कह रहे हैं और अर्जुन वज्रव्यूह रचना ठीक होगी ऐसी प्रार्थना कर रहे हैं और इसी कारण अपनी रक्षा के लिये दुर्योधन अभेद्यव्यूह की आज्ञा कर रहे हैं। इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में आर्यजाति ने युद्ध विद्या में पूर्ण उन्नति प्राप्त की थी। किसी किसी अर्वाचीन पुरुष का यह संदेह है कि जब आर्यजाति बन्दूक और तोप का व्यवहार नहीं जानती थी, तो उनमें युद्ध विद्या की उन्नति कैसे हो सकती है; परन्तु आर्यजाति के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से उनका यह सन्देह मिथ्या

प्रमाणित हो जायगा। जब प्राचीन भारत के अनन्त अस्त्र-शस्त्रों में नालास्त्र तथा शतघ्नी आदि का वर्णन देखते हैं और बड़े-बड़े युद्धों में उन सब अस्त्रों का प्रयोग भी देखते हैं, तो प्राचीन आर्यजाति की युद्धविद्या के विषय में इस प्रकार का संदेह करना सर्वथा निर्मूल है। आर्यजाति के प्राचीन ग्रन्थों को देखने से प्रमाणित होता है कि वे तोप को शतघ्नी, बन्दूक को नालास्त्र, बारूद को उर्ध्वघ्नी और गोला को गुडक कहा करते थे। बारूद ऊर्ध्व नामक ऋषि द्वारा आविष्कृत होने से उसका नाम ऊर्व्वघ्नी था। यद्यपि इन शब्दों का व्यवहार अन्य प्रकार के अर्थों में भी पाया जाता है तथापि अनेक स्थानों में इन चारों शब्दों का व्यवहार तोप, बंदूक, गोला और बारूद के लिये ही हुआ है। इस प्रकार के युद्धयन्त्र आर्य्यजाति के युद्ध में व्यवहृत होते थे इसमें सन्देह नहीं। आर्य्यधर्म में बाधा न हो, आर्य्यशास्त्र अनार्य्यशास्त्र न बन जायें और धर्मयुद्ध का ढङ्ग बदल कर वह अधर्मयुद्ध न बन जाय केवल इसी लक्ष्य से ऐसे यन्त्रों की विशेष उन्नति की ओर आर्य्यजाति ने विशेष लक्ष्य नहीं डाला था ऐसा विज्ञजनों का सिद्धान्त है।

ऊर्व्वघ्नीं प्रोथितां कृत्वा शतघ्नीं गुडकैर्युताम् ।

बारूद और गोले से भर कर युद्ध में तोप चलाई गई। इन सब प्रमाणों से प्राचीन काल में बन्दूक, तोप आदि अस्त्र व्यवहृत होते थे, यह सिद्ध होता है। यह बात यथार्थ है कि मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व्ववर्ती आर्य्यगण इस प्राचीन युद्धविद्या को प्रायः भूल गये थे क्योंकि यह तो सर्ववादिसम्मत है कि महाभारत के महायुद्ध और बौद्धगण के महाविप्लव द्वारा भारत श्मशानप्राय हो गया था और इसी कारण परवर्त्ती मनुष्यगण सब क्रियासिद्ध विद्याओं को भूल गये थे; तथापि इधर के इतिहास पर विचार करने से भी पता लगता है कि आर्यगणों में से यह विद्या सम्पूर्ण नष्ट नहीं हो गई थी। सम्राट् पृथ्वीराज के समय में तोपों का व्यवहार था इसका प्रमाम उनके जीवनचरित्र के इतिहास में पाया जाता है। यथा–

जंबुर तोप छुटहि झनंकि ।
दशकोश जाय गोला भनंकि ।।

जम्बूर और तोप झन्झनाती हुई छूटी और उसका गोला शब्द करता हुआ दस कोस तक पहुँचा। प्रसिद्ध गंगा की नहर खोदते समय

सर आर्थर कट्लि साहब ने उत्तर पश्चिम प्रदेश में पृथ्वी मध्यस्थित एक बृहत् नगर का ध्वंसावशेष पाया था और उसमें कई एक तोपें भी मिली थीं जिससे उक्त साहब ने यह सिद्धान्त निश्चय किया कि प्राचीन भारतवासिगण तोप का व्यवहार जानते थे। प्रोफेसर विलसन साहब ने कहा है कि हिन्दुओं के चिकित्साशास्त्र का पाठ करने से पता लगता है कि वे बारूद प्रस्तुत करना जानते थे और उनके ग्रन्थों में भी इसके प्रयोग का वृत्तान्त बहुधा मिलता है। मैफी साहब ने कहा है कि भारतवासिगण पर्तुगीज लोगों की अपेक्षा तोप आदि आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग विशेष जानते थे। ग्रीस देश के थेमिसटियस ने तथा महावीर अलेक्जेण्डर ने एरिस्टटल को पत्र लिखते समय लिखा है कि उनकी सेनाओं के ऊपर हिन्दुओं ने भीषण तोपों के गोलों का अजस्र वर्षण किया। शास्त्रों में शतघ्नी का ऐसा वर्णन मिलता है कि यह आग्नेयास्त्र लोहे से बनता है, उसका आकार बड़े वृक्ष के स्कन्ध की तरह होता है। वे दुर्ग के ऊपर चढ़ाये जाते हैं और युद्धक्षेत्र में भी लाये जाते हैं। इनके शब्द वज्र की तरह होते हैं। इन सब वर्णनों से प्राचीन काल में तोप का व्यवहार होना प्रमाणित होता है। इण्डियन गवर्नमेण्ट के फरेन सेक्रेटरी ईलियट साहब ने भारतीय आग्नेयास्त्रों के विषय में चर्चा करते समय कहा है कि साल्टपिटर जो कि बारूद का एक प्रधान मसाला है और गंधक जो कि उसके साथ मिलाया जाता है दोनों ही भारतवर्ष में अजस्र मिलते हैं और मेरा यह सिद्धान्त है कि प्राचीनकाल में भारतवासीगण इस प्रकार बारूद और तोप का व्यवहार जानते थे। उनके मकान तथा फाटक के सामने ऐसी चीजें रखी जाती थीं और उनके दूर से आग लगाई जाती थी। इसके सिवाय आग लगने पर फट जाने वाले भी अनेक अस्त्रों का हिन्दू लोग प्रयोग करते थे। इत्यादि अनेक प्रमाणों से प्राचीन काल में तोपों का व्यवहार और मुसलमान राज्य के समय पर्यन्त भी कहीं कहीं तोपों का व्यवहार सिद्ध होता है। अस्त्र युद्ध के सिवाय जलयुद्ध तथा आकाशयुद्ध में भी प्राचीन आर्यगण विशेष निपुण थे, इसका प्रमाण शास्त्रों से मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ११६ सूत्र में वर्णन है कि राजर्षि तुग्र ने अपने पुत्र भुज्यु को ससैन्य समुद्रपथ में दिग्विजय करने के लिये भेज दिया। इससे प्राचीन काल में जलयुद्ध का भी निश्चय

हुआ। कर्नेल टाड् तथा ष्टावो साहब ने कई स्थानों में कहा है कि प्राचीन काल में आर्यगण जलयुद्ध में विशेष निपुण थे क्योंकि समस्त संसारव्यापी वाणिज्यश्री की रक्षा के लिये उनको सदा ही जलसैन्य, जहाज आदि रखने पड़ते थे। फरिया साउजा ने कहा है कि खीष्टीय १५०० शताब्दी में एक गुजराती जहाज ने पुर्तगीजों के प्रति अनेक तोपों चलाई थीं। १५०२ में हिन्दुओं ने कालिकट में युद्ध के जहाज से काम लिया और दूसरे वर्ष जामोरिन् जहाज के द्वारा ३८० तोपें लाई गई थीं। आकाशयुद्ध के विषय में प्राचीन इतिहास में अनेक प्रमाण मिलते हैं। रावण का पुष्पक विमान पर चढ़ कर दिग्विजय करना, इन्द्रजित् का आकाशमार्ग से रामचन्द्र की सेना पर अजस्त्र बाण वर्षण करना, इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाणों के द्वारा विमान-विद्या में प्राचीन आर्यजाति की पारदर्शिता सिद्ध होती है। कुछ दिन पहले जब बैलून और एरोप्लेन आदि खेचर यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब लोग हिन्दुओं के पुराणादि ग्रन्थों में आकाशयानों का वर्णन देख कर हँसा करते थे; परन्तु भगवान् की कृपा से आज नवीन जेपलिन और एरोप्लेन आदि के आविष्कार के द्वारा अर्वाचीन लोगों का वह भ्रम दूर हो गया है और प्राचीन आर्यजाति किस प्रकार सूक्ष्म युद्ध विद्या में निपुण थी इसको सोच कर वे चकित हो रहे हैं। यही सब प्राचीन आर्यजाति में युद्ध विद्या की पूर्णता का परिचय है।

ऊपर लिखे हुए आर्यगौरव के लक्षणों के अतिरिक्त प्राचीन आर्य इतिहास पाठ करने से सिद्धान्त होगा कि पृथ्वी में मनुष्यजाति की सर्वतोमुखिनी पूर्णता सम्पादन करने के लिये जितने प्रकार की विद्याओं में उन्नत होना चाहिए प्राचीन आर्यजाति ने उन सभी में उन्नति प्राप्त की थी। क्या भाषा की उन्नति और क्या भाव की उन्नति, क्या शिल्प की उन्नति और क्या संगीत आदि की उन्नति, क्या ज्ञान की उन्नति, और क्या विज्ञान की उन्नति; क्या शारीरिक रोग-विज्ञान रूपी चिकित्सा-शास्त्र की उन्नति और क्या भवरोग-विज्ञानरूप अध्यात्म शास्त्र की उन्नति, क्या वाणिज्य आदि के द्वारा धन की उन्नति और क्या सर्वत्र गमनागमन के द्वारा व्यावहारिक ज्ञान और अभिज्ञता की उन्नति; सभी विषयों में प्राचीन आर्यजाति की उन्नति की पराकाष्ठा हो गई थी। इसको ऐतिहासिक

पाश्चात्य और एतद्देशीय सभी लोग एक वाक्य होकर स्वीकार करते हैं। अब नीचे इन विषयों का पृथक् पृथक् वर्णन संक्षेप से किया जाता है।

पृथ्वी की और सब भाषाओं का नाम भाषा है परन्तु केवल आर्यजाति की भाषा का नाम ही संस्कृत है। इसके समान मधुर, उन्नत, पूर्ण और हृदयग्राही भाषा संसार में कहीं भी नहीं है। और देशों की भाषाओं के माधुर्य्य का अनुभव अर्थबोध होने पर होता है; परन्तु केवल संस्कृत भाषा में ही यह अपूर्वता देखने में आती है कि समझे या न समझे श्रवणमात्र से ही कर्ण तथा मन परितृप्त हो जाते हैं। अन्य देशों की भाषा और अक्षर कल्पना के द्वारा बनाये हुए हैं; परन्तु संस्कृत भाषा सृष्टिकारिणी प्रकृति शक्ति के प्रतिस्पन्दन में स्वभावत: विकास को प्राप्त होती है। भाषा भाव की प्रकाशक है, परन्तु अन्य देशों की भाषाओं में मानव प्रकृति के सकल भावों का विकास करने की शक्ति नहीं है। केवल संस्कृत भाषा ही मानव प्रकृति के सकल भावों को पूर्ण रूप से विकसित कर सकती है। संस्कृत भाषा का अलंकार और व्याकरण जगत् में अतुलनीय है। संस्कृतभाषा की पद्यमयी कविताशक्ति, जो कभी रणरङ्गिनी श्यामा की तरह असुरदलन करती है और कभी लवकुश के कण्ठों से सुधाधारा का भी वर्षण कराती है; जो कभी रामगिरि में विरही यक्ष के दूत का कार्य करती है और कभी चक्रवाक चक्रवाकी के कण्ठ से विरह संगीत का स्रोत बहाया करती है; जो कभी मन्दाकिनी के अमृत सलिल में स्नान करके कल्पतरु की छाया में विश्राम लाभ करती है और कभी ऋषिपत्नियों के साथ आलवालों में जलसिंचन करती है; जो कभी वेदव्यास के चित्त में जगत्कल्याण चिन्ता की लहरें उठाती है और कभी वाल्मीकि की वीणा से भुवनमोहन अनन्तरागप्रवाहों को प्रवाहित करती है। यही संस्कृत भाषा की पद्यमयी कविताशक्ति, संस्कृत भाषा की शब्द महिमा, संस्कृत कोश की पूर्णता जिसके सामने और सब भाषाएँ बालकवत् प्रतीत होती हैं– प्राचीन आर्यजाति की अपार कृपा का ही फल है, जिसकी गौरवगरिमा अभागे भारतवासियों से आज विस्मृतप्राय होने पर भी गुणग्राहिणी पाश्चात्य जाति इसका अनुभव करके शतमुख से आर्य ऋषियों की प्रशंसा कर रही है।

संस्कृत भाषा में लिखने की प्रणाली भी ऐसी संस्कार प्राप्त और उन्नत है कि बुद्धिमान्‌गण थोड़े ही विचार से जान सकेंगे कि यदि पृथ्वी

भर में कोई सम्पूर्ण लेखनप्रणाली है तो वह देवनागरी लेखनप्रणाली ही है। सब भाषाओं के शब्द इन अक्षरों में लिखे जा सकते हैं, परन्तु जगत में ऐसी कोई भी भाषा नहीं है जो संस्कृत शब्द को यथावत् लिख सके। संस्कृत भाषा की पूर्णता के सिवाय इस भाषा की एक विशेषता यह है कि यही भाषा जगत् की और भाषाओं की जननी रूप है। विशेष प्रशंसनीय विषय यह है कि संस्कृत के आदि भाषा होने के विषय में किसी देश के पण्डित सन्देह नहीं करते। भाषा से और समाज से घनिष्ठ संबंध है। जिस जाति की भाषा ऐसी उन्नति को पहुँची थी, उसका समाज बंधन अति उत्तम होगा इसमें सन्देह ही क्या है। जीवसमाज का प्रथम बंधन स्त्री और पुरुष का पारस्परिक संबंध है। उनमें परस्पर कैसा बर्त्ताव होना उचित है सो कामशास्त्र में विस्तृतरूपेण वर्णित है। इस शास्त्र के वास्त्यायन आदि प्रधान आचार्यगण के ग्रन्थ पाठ करने से ही भलीभाँति जान पड़ेगा कि आर्य्यजाति ने इस विद्या में उन्नति को किस पराकाष्ठा तक पहुँचाया था। पुरुष और स्त्री के कितने भेद हैं, उन भेदों के क्या क्या लक्षण हैं कैसे पुरुष से कैसी स्त्री का संबंध होना उचित है, स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे निभाने पर इहलोक और परलोक का सुख हो सकता है, कैसे उत्तम संतति उत्पन्न हो सकती है, कैसे एकाधार में धर्म और काम की प्राप्ति हुआ करती है इत्यादि नाना गंभीर विचारों का ज्ञान इस शास्त्र से होता है। यदि नवीन यूरोप आज दिन बहिर्जगत् की उन्नति को धारण कर रहा है और अपने बराबर किसी को भी नहीं समझता है, तथापि जर्मनी, अमेरिका, इङ्गलैण्ड और फ्रांस आदि देशों के विद्वानगण महर्षि वात्स्यायन आदि के ग्रन्थों को देख कर मोहित हो रहे हैं।

समाजगठन सम्बन्ध में आर्यजाति ने जितनी उन्नति की थी आज दिन तक पृथ्वी की किसी जाति ने वैसी नहीं की। नदी स्रोत के अनुकूल यदि वायु प्रवाहित हो तो नौका जितनी शीघ्र गन्तव्यस्थान पर पहुँच सकती है, उतनी शीघ्र और किसी उपाय से नहीं पहुँच सकती। भारत की दिव्य और पूर्ण प्रकृति से एक तो भारतवासियों की प्रकृति ही पूर्ण थी और दूसरे आर्य्यगण के तप और योगयुक्तबुद्धि की सहायता थी। दोनों अनुकूलताएँ एक साथ मिल कर उन्होंने भारतवासियों की सामाजिकता और भारतवासियों के मनुष्यत्व को पूर्ण अवस्था में पहुँचा

दिया था; और इसी कारण आर्य्यजाति की समाजपद्धति मावजाति को पूर्णता को पहुँचा देने के उपयोगी बनी थी। आर्य्यजाति का सदाचार, आर्य्यजाति की चातुर्वर्ण्यविधि, आर्य्यजाति की आश्रमचतुष्टय की व्यवस्था, आर्य्यजाति की शिक्षा और दीक्षाकौशल, आर्य्यजाति की पितृमातृभक्ति, भ्रातृप्रेम, स्त्रीप्रीति, वात्सल्यस्नेह, अतिथिसेवा और जीवरक्षा आदि सद्गुण और आर्य्यनारियों का त्रिलोक पवित्रकारी सतीत्व और पतिपूजन तथा आर्य्यजाति का अपूर्व धर्मसाधन-विज्ञान, इत्यादि से ही आर्य्यजाति के समाजकौशल की श्रेष्ठता का प्रतिपादन हो रहा है। यह प्राचीन भारत के समाजविज्ञान का ही फल था कि यहाँ के ब्राह्मणगण ज्ञान की इतनी उन्नत अवस्था में पहुँचे थे कि जिनकी शिष्यता को स्वीकार करके आज दिन जगत् की और जातियाँ ज्ञानराज्य में विचरण कर रही हैं। यह प्राचीन भारत के समाजविज्ञान का ही फल था कि भारत में श्रीरामचन्द्र, भीम और अर्जुन आदि के समान योद्धागणों ने उत्पन्न होकर लक्षों वर्षो तक समस्त पृथ्वी पर अपना अधिकार फैला रखा था। प्राचीन भारत के समाजविज्ञान का ही फल था कि जिससे भारत के वैश्यों के व्यापार और शूद्रों के शिल्प की उन्नति द्वारा पृथ्वी में भारत सर्वश्रेष्ठ और सबसे समृद्धिशाली राज्य समझा जाता था। आजकल के नवीन वैज्ञानिकगण मुक्तकण्ठ होकर इस विषय को स्वीकार कर रहे हैं कि यह भारत का समाज बन्धन, वर्णविभाग और विवाहपद्धति (यथा-स्वगोत्रा कन्या के साथ विवाह न करना, पात्र का वय:क्र, पात्री के वय:क्रम से न्यून न होना, असवर्ण विवाह न करना, धर्म-रीति से ही स्त्रीगमन करना इत्यादि) का ही फल है कि बहुकाल की भी आर्यजाति अभी तक ठहर रही है। प्राचीन ग्रीस जाति, इजिप्सियन जाति, ब्यबिलोनियन जाति और रोमन जाति आदि अनेक प्रतापशाली जातियों का नाम इतिहास में पाया जाता है, परन्तु आज दिन उनका नाम ही नाम है, अन्य चिन्ह तक का लोप हो गया है। थोड़े थोड़े विल्पव से ही इस संसार से इन जातियों का लोप हो गया है; परन्तु यह आदि आर्य्यजाति के समाज बन्धन का ही फल है कि अगणित महाविप्लवों को सह कर भी यह जाति अमर हो रही है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि हमारा वेदोक्त "धर्म्म" शब्द के साथ पश्चिमी "रिलीजन" शब्द की

एकार्थता नहीं हो सकती; उसी प्रकार हमारे "आर्य्य" शब्द के साथ पश्चिमी "एरियन" शब्द का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों शब्द अलग अलग भाव से व्यवहृत हुए हैं। यह आर्य्यजाति के समाज विज्ञान का ही फल है कि जिससे इस भूमि में श्रीरामचन्द्र से राजा, श्रीमान् जनक से सद्गृहस्थ, सीतादेवी और सावित्री सी कुलकामिनियाँ, ध्रुव से बालक, महर्षि वेदव्यास से ग्रन्थ रचयिता, राजर्षि मनु से वक्ता, श्रीकृष्ण ...ोग, सिद्धवर कपिल से साधक और परमहंस शुकदेव से ज्ञानी हुए थे।

ऋषिकाल में तड़ित् विज्ञान और योग विज्ञान की जितनी उन्नति हुई थी उसका आजकल के लोग यदि विचार करने लगें तो उन्हें तन्द्रावस्था में स्वप्न की तरह अनुभव होने लगेगा। उन्नतिशील पश्चिमी विद्वान्गण उसको यदि स्वीकार करते जाते हैं, तथापि कारण अन्वेषण करने समय वे अब भी मोहित हुआ करते हैं। प्राचीन आर्य्यजाति के भो न में, शयन में, बैठने में, चलने में, जल में, स्थल में और धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्षकारक सब कर्म्मों में ही तड़ित् विज्ञान का अद्भुत सम्बन्ध दीख पड़ता है। महाबली रावण ने जो दुर्जय शक्तिशेल द्वारा सुमित्रानन्दन को जड़ की भाँति स्पन्दनरहित कर दिया था, सो तड़ित् विज्ञान की उन्नति का ही प्रमाण है। बाणों में विद्युत् शक्ति डालने की क्रिया का अभी तक यूरोप के विद्वानगण आविष्कार नहीं कर सके हैं। नागपाश, शक्तिशेल, सम्मोहन अस्त्र आदि जितने चमत्कार शक्तियुक्त अस्त्र आर्य्यगम युद्धार्थ बनाया करते थे वे सब तड़ित् विज्ञान की सहाता से ही निर्माण करते थे। देवमन्दिर के ऊपर अष्टधातु-चक्र अथवा त्रिशूल आदि लगाने की जो विधि है वह विद्युत्विज्ञान की उन्नति का ही चिन्ह है। उत्तर की ओर सिर करके न सोना, नवीन अपक्व फल की ओर उङ्गली न उठाना, नीच जाति का स्पर्शित अन्न भोजन न करना, चैल, अजिन, कुश और कम्बल के आसन पर बैठ कर उपासना करना, सौभाग्यवती स्त्रियों को स्वर्णमय अलङ्कार आदि धारण करने की आज्ञा देना और विधवाओं को न देना आदि सब नियम ही इस तड़ित् विज्ञान की उन्नति के प्रमाण हैं। आजकल की विज्ञानदृष्टि से यह प्रमाणित हो चुका है कि अष्टधातु वज्रपात को निवारण करती है इस कारण मन्दिरों

पर वह स्थापन किया जाता है। उसी प्रकार शारीरिक तड़ित द्वारा अपक्व फल तब ही दूषित हो जायगा जब उसकी ओर उंगली उठाई जायेगी। इसी तरह शूद्र में तमोगुण अधिक होने के कारण उसका छुआ हुआ अन्न उसकी दूषित तड़ित् द्वारा दोषयुक्त हो जाने से श्रेष्ठ तड़ित् युक्त ब्राह्मणदेह के लिये अहितकारी ही है। पृथ्वी सदा जीवशरीर के अन्तर्गत तड़ित् को खींचा करती है। उपासना करते समय मनुष्य के शरीर में सात्त्विक तड़ित् का बढ़ना सम्भव है; परन्तु पृथ्वी पर बैठ कर उपासना करते समय वह तड़ित् संग्रह पृथ्वी द्वारा नाश को प्राप्त हो सकता है, किन्तु चैल, अजिन, कुश और कम्बल में तड़ित् ग्रहण करने की शक्ति नहीं है। (वे Nonconductor हैं) इस कारण उन पर बैठ कर साधन करने से वह क्षति नहीं होती। सुवर्ण आदि धातु तड़ित् शक्ति के वृद्धिकारक हैं, तड़ित् शक्तिवृद्धि से शारीरिक इन्द्रियों की विशेष स्फूर्ति होती है। इन्द्रियों की विशेष स्फूर्ति होने से स्त्रियाँ सुसन्तान उत्पन्न कर सकती हैं। इस कारण आर्य्य-सदाचार में सधवा स्त्रियों को अलंकार धारण करने की और विधवा स्त्रियों को अलंकार धारण नहीं करने की आज्ञा दी है। तड़ित् विज्ञानपूर्ण इन आचारों को सुन कर साधारण बुद्धियुक्त मनुष्य भी समझ सकते हैं कि प्राचीन आर्य्यगणों ने इस सूक्ष्म विज्ञान को किस उन्नत अवस्था में पहुँचा दिया था। योगविज्ञान की मुक्ति सहायकारी जो शक्ति है सो तो विलक्षण ही है। उस विज्ञान की अन्यान्य भौतिक शक्तियों की अद्भुतता अब जगत् में प्रसिद्ध हो रही है। योगशक्ति के द्वारा मेघ, वायु आदि का स्तम्भन करना, शून्यमार्ग में विचरण करना, शरीर को लघु अथवा भारी कर लेना, प्रस्तर अथवा मृत्तिका आदि पदार्थ में प्रवेश करना, दूरस्थित विषय को सुनना अथवा देखना, दीर्घ आयु और इच्छामृत्यु होना, क्षुधा पिपासा जय करना और नाना ग्रह उपग्रहों में संयम करके अथवा भविष्यत् प्रारब्ध में संयम करके उनके विषयों को जान लेना आदि नाना भगवद्विभूतियों की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार की शक्ति जीव को कैसे प्राप्त हो जाती है, इसका उल्लेख वेद और नाना योगसम्बन्धीय शास्त्रों में है। डाक्टर पाल (Dr. Paul) साहब ने अपनी योग विज्ञान नामक पुस्तक में वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा पूर्णरूप से प्रमाणित कर दिया है कि प्राणायाम साधन द्वारा किस प्रकार से योगिगण दीर्घायु

तथा पञ्चभूत जय कर सकते हैं। इस प्रकार से उक्त पश्चिमी पण्डित महाशय ने अष्टांग योग की बहुत ही प्रशंसा करके योग के आठों अंगों की योग्यता और अद्भुत अलौकिक शक्तियों का वर्णन अपनी पुस्तक में किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण में सन्देह हो ही नहीं सकता। जब यूरोपवासी विद्वान्गणों ने प्रत्यक्ष रूप से पंजाब केशरी महाराजा रणजीतसिंह की सभा में योगिवर हरिदास स्वामी को छः मास तक पृथ्वी के अन्तर्गत जड़ समाधि अवस्था में रहते हुए देखा, जब उन्होंने देखा कि एक जीवित मनुष्य को पृथ्वी खनन करके गाड़ दिया गया और उसके ऊपर की मृत्तिका पर जौ बोकर पहरे बैठा दिये गये, पुनः जब उनको छः महीने पूरे होने पर निकाला गया तो वे जीवित ही मिले, तब उन विद्वानों के हृदय में और कहाँ से सन्देह होगा? वे विद्वान्गण उसी प्रकार मद्रास के योगी को कुम्भक द्वारा आकाश में स्थित देख कर और कलकत्ते के भूकैलाशावस्थित योगी को श्वासरहित समाधि अवस्था में देख कर अतीव मोहित हुए। इन तीनों उदाहरणों को प्रमाणरूपेण उन्होंने अपनी अपनी पुस्तकों में भी लिखा है। यदि उन्होंने प्रत्यक्ष भी कर लिया है तथापि योगशक्ति का कारण अभी तक वे अन्वेषण नहीं कर सके हैं। योगक्रिया में जो बालक हैं ऐसे पुरुषों की बस्ति, नलक्रिया और शंखप्रचाल आदि क्षुद्र क्रियाएँ जो आजकल प्रायः देखने में आती हैं, पश्चिमी विद्वान्गण वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा अभी तक उनका भी कारण नहीं जान सके हैं।

गणित ज्योतिष और फलित ज्योतिष इन दोनों शास्त्रों का आविष्कार आदिकाल में इस भारत-भूमि में ही हुआ है। केवल विद्याओं का आविष्कार ही नहीं हुआ किन्तु उनके प्रत्येक विभाग इतनी उन्नति को पहुँचे थे कि जिन सब विभागों को अभी तक पश्चिमी वैज्ञानिक समझ ही नहीं सके हैं। यद्यपि उन्होंने आजकल यन्त्रों की सहायता से गणित ज्योतिष की कुछ उन्नति की है, तथापि फलित की सूक्ष्मता को वे अभी तक पा ही नहीं सके हैं प्राचीनकाल में ज्योतिष शास्त्र की पूर्ण उन्नति नहीं हुई थी, ऐसा कोई कोई एकदेशदर्शि पण्डित कह दिया करते हैं, परन्तु आर्य्यशास्त्र के न देखने से ही वे ऐसा कहा करते हैं, ग्रह, नक्षत्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र, अंश, विषुवतरेखा, गोलकार्ध, उदीचीनराशि

आदि राशिभेद, क्रान्ति. केन्द्रव्यासनिरूपण, सुमेरु, कुमेरु, छायापथ, ग्रह, उपग्रह, कक्ष, धूमकेतु, उल्कापिण्ड, निर्घात, मध्याकर्षणशक्ति, सूर्य, महासूर्य आदि भेद, पृथ्वी आदि की आकृति, ग्रहणनिर्णय आदि सकल गम्भीर विषयों के सिद्धान्त जब प्राचीन आर्य्यों के ग्रन्थों में देखे जाते हैं, तब कैसे कहा जा सकता है कि आर्य्यों ने इस शास्त्र की पूर्ण उन्नति नहीं की थी। विष्णुपुराण में लिखा है–

स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा ।
तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तमाः ।।
न न्यूनः नाऽतिरिक्ताश्च वर्द्धन्त्यापो ह्रसन्ति च ।
उदयास्तमनेष्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।।
दशोत्तराणि पञ्चैव अंगुलानां शतानि वै ।
अपां वृद्धिक्षयौ दृष्टौ सामुद्रीणां महामुने ।।

ज्वारभाटा से यथार्थ में समुद्र का जल ह्रास और वृद्धि को प्राप्त नहीं होता; किन्तु स्थाली में जल रख कर उसे अग्नि पर चढ़ाने से जैसे अग्निउत्ताप द्वारा उफान आकर वह वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही शुक्ल और कृष्ण पक्ष की चन्द्रकला द्वारा आकृष्ट होकर समुद्रजल ह्रास वृद्धि को प्राप्त हुआ करता है। आर्य्यग्रन्थों में ऐसे प्रमाण देखने से किसको विश्वास न होगा कि आर्यगणों को ग्रह-आकर्षण शक्ति और ज्वार भाटा का कारण ज्ञात था। वार और तिथि आदि का आर्य्य महर्षिगणों ने ही प्रथम आविष्कार करके समय की शृंखला की थी। सालभर में जिस दिन दिवा रात्रि समान होते हैं, वह दिन यूरोपीय पण्डित टोलेमी (Tolemny) जिसको यूरोप की जाति इस नियम के आविष्कर्त्ता मानती है– उसके जन्म लेने से बहुत काल पूर्व ही प्राचीन आर्य्य आचार्य्यगणों द्वारा निरूपित हो चुका था। सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ में लेख है–

सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः ।
कदम्बकेशरग्रन्थिकेशरः प्रसवैरिव ।।

कदम्ब जिस प्रकार केसर समूह द्वारा वेष्टित होता है, उसी प्रकार पृथ्वी भी ग्राम, वृक्ष, पर्वत आदि द्वारा वेष्टित है। नक्षत्र कल्प में लेख है–

कपित्थफलवद्विश्वं दक्षिणोत्तरयोः समम् ।

कपित्थ फल की तरह पृथ्वी गोलाकार है, परन्तु केवल उत्तर और दक्षिण में कुछ समान अर्थात् दबी हुई है। जब पश्चिमी विद्वान्गण पृथ्वी की नारङ्गी के साथ उपमा देते हैं, तब आर्यगण को कदम्ब और कपित्थ के साथ उपमा देते देख क्या विद्वान्गण नहीं समझ सकेंगे कि प्राचीन आर्यगण पृथ्वी के स्वरूप को पश्चिमी वैज्ञानिकगण से पूर्व ही भलीभाँति जानते थे। आजकल विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये गोलक (Globe) प्रस्तुत किया जाता है; परन्तु जब प्राचीन आर्य्य ग्रन्थों में देखते हैं कि वे भी शिष्यों को दारुमय, खगोल और भूगोल रचना द्वारा शिक्षा दिया करते थे, तब कौन बुद्धिमान् नहीं विश्वास करेंगे कि वे भी इस नवीन रीति को भलीभाँति जानते थे। आजकल की शिक्षा में प्रधान दोष यह है कि भारतवासी पूर्ण शिक्षा प्राप्त नहीं करते। पश्चिमी अंग्रेजी भाषा या संस्कृत विद्या, चाहे किसी में वे परिश्रम क्यों न करते हों; उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं करते। द्वितीयतः अपने वर्त्तमान भ्रमों के दूर करने के अर्थ दोनों शास्त्रों का भलीभाँति संग्रह करके तत्पश्चात् दोनों के गुणों का विचार कर सत्य का अन्वेषण करें, तो उसका अनुसंधान पा सकेंगे; नहीं तो एक विद्या को ही असम्पूर्ण जानकर सत्य अनुसंधान करना वृथाश्रम मात्र है इसमें सन्देह नहीं। आर्य्यभट्टजी ने लिखा है–

चला पृथ्वी स्थिरा भाति ।

पृथ्वी चलती है परन्तु ठहरी हुई जान पड़ती है। पुनः आर्य ग्रन्थों में लेख है–

भपंजरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदिवसिकौ ।
उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम् ।।

नक्षत्रमण्डल और राशिचक्र स्थिर हो रहे हैं परन्तु पृथ्वी बारम्बार घूमती हुई ग्रह नक्षत्रों का दैनिक उदय अस्त सम्पादन किया करती है। इन लेखों को देखने से कौन नहीं विश्वास करेगा कि प्राचीन आर्य्यगण पृथ्वी की गति को जानते थे। जब आचार्य्यों के ग्रन्थों में देखते हैं–

भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति ।

पृथ्वी शून्य में ही स्थित है; पुनः जब भास्कराचार्य को कहते हुए देखते हैं–

नान्याधारं स्वशक्त्या वियति च नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे ।
निष्ठं विश्वं च शश्वत् सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समंतात् ।।

पृथ्वी बिना आधार के ही अपनी शक्ति द्वारा आकाश मण्डल में स्थित है और उसके पृष्ठ पर चारों ओर देव, दानव, मानव आदि निवास कर रहे हैं; तब कैसे विश्वास नहीं करेंगे कि आर्य्यगण पृथ्वी की स्थिति को भलीभाँति नहीं जानते थे। जब ब्रह्मपुराण में देखते हैं–

पर्वकाले तु सम्प्राप्ते चन्द्राकौं छादयिष्यसि ।
भूमिच्छायागतश्चन्द्रं चन्द्रगोऽर्कं कदाचन ।।

पूर्णिमा आदि पर्व्व के दिनों में तुम चन्द्र सूर्य्य को आच्छादन करोगे; कभी पृथ्वी की छायारूप से चन्द्र को और कभी चन्द्र की छायारूप से सूर्य को आच्छादन करोगे; पुनः जब ज्योतिष आचार्यों के ग्रन्थों में देखते हैं–

छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत् ।
भूच्छायां प्रमुखश्चन्द्रो विशत्यर्थो भवेदसौ ।।

मेघ के समान चन्द्र, सूर्य के अधस्थित होकर सूर्य्य को आच्छादित करता है और चन्द्र पृथ्वी में भी प्रवेश करता है; तब कौन बुद्धिमान्गण नहीं जान सकते हैं कि प्राचीन भारतवासिगण ग्रहण-विज्ञान को भलीभाँति जानते थे। इस प्रकार से ज्योतिषशास्त्र की उन्नति के विषय में जितना विचार करेंगे उतना ही सिद्धान्त दृढ़ होता जायगा कि इस गम्भीर विज्ञान शास्त्र में प्राचीन भारत ने बहुत ही उन्नति की थी। बिना गणित ज्योतिष के फलित ज्योतिष कार्य्यकारी नहीं होता, इस कारण भारत का फलितशास्त्र ही गणितशास्त्र की उन्नति का प्रमाण है। आजकल के यूरोपीय सम्वादों का पाठ करने से बुद्धिमान् मात्र ही जान सकेंगे कि आज दिन यूरोपवासी किस प्रकार से मेटीओरोलोजी (Meteorology) विद्या पर से अपनी दृष्टि हटा कर फलित ज्योतिष की सत्यता की ओर झुकते जाते हैं। आज दिन यूरोप का यह फलित ज्योतिष का पक्षपात ही हमारे इस गणित एवं फलित ज्योतिष विषयक सिद्धान्त को पूर्ण रूप से दृढ़ कर रहा है।

पश्चिमी विद्वान्गण यह कहते हैं कि मध्याकर्षण शक्ति का आविष्कार करने वाले (Newton) साहब हैं, परन्तु जब देखते हैं कि

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के उपदेश में पृथ्वी की मध्याकर्षण शक्ति का विस्तृत विवरण आया है; जब देखते हैं कि भास्कराचार्यजी ने लिखा है–

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थो गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या ।
आकृष्यते तत् पततीति भाति समे समंतात् क्व पतत्वियं रवे ।।

पृथ्वी आकर्षण शक्ति से युक्त है, क्योंकि कोई भारी पदार्थ आकाश की ओर निक्षिप्त करने पर पृथ्वी अपनी शक्ति द्वारा उसको आकर्षण कर लेती है, आकाश चारों ओर ही है, परन्तु वह पदार्थ पृथ्वी के ऊपर ही गिरता है, पुन: जब देखते हैं कि आर्य्यभट्ट कह रहे हैं–

आकृष्टशक्तिश्च मही यत्तया प्रक्षिप्यते तत्तया धार्य्यते ।

पृथ्वी की आकर्षणशक्ति विशिष्ट है, क्योंकि जो वस्तु फेंकी जाती है, आकर्षण शक्ति द्वारा पृथ्वी उसको धारण कर लेती है; तब कैसे कहेंगे कि न्यूटन साहब इस वैज्ञानिक नियम के आविष्कार करने वाले हैं। जब न्यूटन साहब के जन्म ग्रहण करने से सहस्र संवत्सर पूर्व के ग्रन्थों में उस विज्ञान का प्रमाण मिल रहा है, तब कैसे मानेंगे कि वह नियम भारत से नहीं निकला, यूरोप से निकला है। यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान् बेली (Bailly) साहब, प्लेफेयर (Playfair) साहब और केशनी (Casseni) साहब आदि बड़े बड़े पण्डितगण मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं कि पाँच सहस्र वर्षों के पूर्व्व भारतवर्ष में जो ज्योतिष ग्रन्थ लिखे गये थे वे अब भी मिला करते हैं; भारतवर्ष ही ज्योतिष शास्त्र का आविष्कारकर्त्ता है। वर्त्तमान काल के प्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्र के अध्यापक कोलब्रुक (Coledrooke) साहब प्रमाण के सहित लिखते हैं कि अति प्राचीन काल में ज्योतिष गणना की प्रधान सहायक पृथ्वी की अयनांशगति अथवा क्रांतिपात की वक्रगति का भारतवर्ष के विद्वान्‌गण ने ही आविष्कार किया था। अभी थोड़े ही दिन हुए, यूरोपवासियों ने नाना यन्त्रों की सहायता से सूर्य्य कलंक का (Solar Spot) अनुमान किया है और वे कहते हैं कि यह उनका नूतन आविष्कार है; परन्तु आर्य्यशास्त्रों के देखने से अति सुगमता द्वारा ही यह भ्रम दूर हो सकता है। विष्णु और मार्कण्डेय आदि पुराणों और वराहमिहिर आदि की ज्योतिष संहिताओं में इसका विशेष विवरण पाया जाता है। पुराणों में

लेख है कि विश्वकर्मा ने जब अपने भ्रमी नामक यंत्र का सूर्यमण्डल पर प्रयोग किया था तब उस अस्त्र का सूर्य्यमण्डल के जिस जिस अंश में स्पर्श हुआ, वही वही अंश श्यामवर्ण हो गया और उसी उसी अंश को सूर्य-कलंक कहते हैं। प्राचीन आर्यजाति ही इस शास्त्र की प्रधान गुरु है, ऐसा एक देशदर्शी मुसलमान भी स्वीकार करते हैं। आरवीय ''त्वारिकल हुक्मा'' और ''खुलाश तुल हिसाब'' आदि ग्रन्थों में इस विचार का भलीभाँति प्रमाण मिलता है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में आर्य्य भट्ट का नाम ''आज्यभर'' और भास्कराचार्य का नाम ''बाखर'' करके लिखा है। इन विचारों से यह सिद्ध ही होता है कि इस प्रकार के गंभीर वैज्ञानिक तत्त्व तथा वैज्ञानिक शास्त्रों का आदि गुरु भारतवर्ष ही है। भारत की इस श्रेष्ठता को ईसाई तथा मुसलमान आदि सभी स्वीकार करते हैं और इसी से यह मत सर्ववादिसम्मत है। ग्रीक भाषा के ग्रन्थ, रोमन भाषा के ग्रन्थ, अरबी भाषा के ग्रन्थ तथा नाना यूरोपीय भाषाओं के ग्रन्थों से जब यही सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजाति ही सकल मनुष्य जातियों से पहले अपनी भारतभूमि में शिल्प नैपुण्य तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों की प्रकाश करने वाली थी, जब प्राचीन महर्षिगण के नाना ग्रन्थों में ज्योतिष विज्ञान, रसायन विज्ञान, भूतत्व विज्ञान, चिकित्साविज्ञान और अतुलनीय योग आदि धर्मविज्ञान का वर्णन देखते हैं; तब निरपेक्ष विद्वान्‌गण मात्र ही स्वीकार करेंगे कि प्राचीन भारत ही विज्ञान आदि उन्नति का आदि गुरु है।

प्राचीनकाल में सामुद्रिक केरल स्वरोदय और जीवस्वरविज्ञान आदि शास्त्रों की उन्नति भारत में विशेषरूप से हुई थी। अब इतने दिनों बाद यूरोपवासिगण भारत के इन शास्त्रों को देखकर चकित होकर उसकी महिमा का प्रचार कर रहे हैं। यद्यपि अब सामुद्रिकशास्त्र की उन्नति यहाँ भूतकाल में हुई थी उतनी वहाँ पर होने में अभी बहुत विलम्ब है। आजकल यूरोपीय वैज्ञानिकगण नूतन रीति से मस्तिष्क परीक्षा द्वारा– अर्थात् मृतविद्वानगण के मस्तकों को चीर चीर कर परीक्षा द्वारा– इस शास्त्र की उन्नति कर रहे हैं, किन्तु त्रिकालदर्शी महर्षिगणों ने स्वतः ही रेखागणना, मुखचिन्हगणना आदि जो अति सुगम रीतियाँ सामुद्रिक शास्त्र में निकाली थीं, वह बात अभीतक यूरोप समझ नहीं सका है।

केरल आदि शास्त्रों द्वारा नाना प्रकार के प्रकृति-इङ्गित और जीव स्वर विज्ञान की उन्नति का प्रमाण भलीभाँति मिलता है।

यद्यपि प्रकृति में गुणभेद होने के कारण उसके स्वरूप अनेक हैं तथाहि सर्वव्यापक चैतन्य एक होने के कारण सब वस्तुओं का संबंध सब वस्तुओं के साथ है। जिस प्रकार निद्रा के समय कभी कभी मन एकाग्र होने से भूत, भविष्यादि अद्भुत विषय स्वप्नगोचर हो जाते हैं, बिना किसी कारण आप ही आप भविष्यत् की घटनाओं का हाल निद्रितावस्था की साम्यावस्था में दिखलाई दिया करता है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में जीवों का मन प्रकृति इंगित (छींक, बाधा और शकुन आदि) द्वारा भविष्यत् घटनाओं का अनुमान कर सकता है। मन सर्वव्यापक है, इस कारण वह जब साम्यावस्था में हो जाता है चाहे निद्रितावस्था में और चाहे जाग्रत अवस्था में, तब उसका सम्बन्ध दूसरे जीव से होकर अथवा दूसरे पदार्थ पर जाते ही उसे वहीं भविष्यत् भाव की स्फूर्ति हो जाती है। इन्हीं प्रकृति के भावों को समझने में यह शास्त्र् सहायता देता है। योगिराज महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में सिद्ध किया है कि शब्द से अर्थ का ज्ञान, अर्थ से भाव का ज्ञान और भाव से बोध अर्थात यथार्थ ज्ञान का उदय होता है। इस कारण वाच्यपदार्थ और वाचक शब्द इन दोनों का ही परस्पर सम्बन्ध है और शब्द से ही शब्द-उत्पत्ति-कारण भाव का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इसी कारण से इस वैज्ञानिक भित्ति पर महर्षिगण ने जीव स्वर विज्ञान की सृष्टि की थी जिसके द्वारा जीवों की साम्यावस्था की बोली के द्वारा वे भविष्यत् गणना कर सकते थे। यद्यपि अब यूरोप सामुद्रिक और स्वरोदय शास्त्र को कुछ कुछ समझने लगा है, तथापि जीव स्वर विज्ञान अभी वह समझ नहीं सका है, किन्तु इसके निकटवर्ती ''थाटरीडिंग'' नाम से एक नया विज्ञान आविष्कार कर रहा है, जिसके देखने से बुद्धिमान् जन समझ सकते हैं कि इस शास्त्र की उन्नति की पराकाष्ठा अपने आचार्यगणप्रतीत जीव स्वर विज्ञान में हुई है। मन और वायु एक ही पदार्थ है, अर्थात वायुरूपी प्राण के जानने से मन का ज्ञान हो सकता है। इस वायुज्ञान द्वारा मन के ज्ञान की रीति को ही स्वरोदय कहते हैं। स्वरोदयशास्त्र प्रत्यक्ष फलप्रद है। इसके पाठ करने से ही बुद्धिमान्गण जान सकते हैं कि इस विज्ञान की

कितनी उन्नति ऋषिकाल में हुई थी। अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं में स्वरोदय विज्ञान की कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके पाठ करने से ही अनुमान हो सकता है कि आज दिन यूरोपवासी स्वरोदय विज्ञान के कितने पक्षपाती हैं। आजकल के बहुत से यूरोपीय विद्वान्गण ने इस शास्त्र को देखना आरम्भ कर दिया है और इस शास्त्र की वैज्ञानिक भित्ति को देख कर वे इसकी प्रशंसा कर रहे हैं।

प्राचीन आर्य्यजाति में संगीतविद्या पूर्णता को प्राप्त हुई थी। उनका तीसरा उपवेद गंधर्ववेद संङ्गीतशास्त्र है। आधुनिक यूरोपवासियों ने इस शास्त्र को केवल शिल्प करके जाना है और इसके द्वारा वे केवल वैषयिक आनन्द भोग किया करते हैं, परन्तु प्राचीन भारतवासियों की यह विद्या वैसी नहीं थी। इसकी उस काल में इतनी उन्नति थी कि सङ्गीतशास्त्र एक प्रधान विज्ञानशास्त्र समझा जाता है और इसका विशेष सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत् से रक्खा गया था। जहाँ कुछ क्रिया है वहाँ अवश्य शब्द अवश्य होगा। क्रिया शक्ति के न्यून होने से चाहे उसका शब्द अपने कर्णगोचर न होता हो; क्योंकि सूक्ष्मतर विषयों को अपनी इन्द्रयाँ ग्रहण नहीं करतीं, परन्तु जहाँ क्रिया है, वहाँ कम्पन है और जहाँ कम्पन है वहाँ किसी न किसी प्रकार का शब्द अवश्य ही होगा। ब्रह्माण्ड की सृष्टि क्रिया भी एक प्रकार का कार्य है और समष्टिरूपसे उस क्रिया की ध्वनि का नाम प्रणव अर्थात ओंकार है। शास्त्रों में ओंकार के लक्षण लिखे गयें हैं। यथा–

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।

यह ध्वनि योगिगण को भलीभाँति स्वत: ही सुनाई देती है। जैसी समष्टिरूप प्रकृति की ध्वनि ओंकार है, वैसे ही व्यष्टिरूप नाना प्रकृति के नाना स्वर हैं। नाना स्वर रूपी नीति के नाना आविर्भाव करने के अर्थ ही संङ्गीत शास्त्र बना है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि। इन वाक्यों द्वारा सामवेद की महिमा शास्त्रों ने गाई है। यह वेद सङ्गीत शास्त्र की सहायता से ही पढ़ा जाता है। यह सङ्गीत की माधुरी का ही प्रभाव है कि सामवेद और वेदों से मनुष्यों के हृदय को शीघ्र ग्रहण करता है। यूरोपीय सङ्गीत विद्या के पक्षपाती होने पर भी जब प्रोफेसर बोयलर (Professor Boiler) आदि पश्चिमी संगीत आचार्यगण को भारतवर्षीय राग रागिणी कौशल की

प्रशंसा करते देखते हैं, तब यह कहना ही पड़ेगा कि यूरोप के विद्वानगण हमारी संगीत विद्या की उन्नति को देखकर मोहित हो रहे हैं। आर्य्य ऋषि काल में इस संगीतशास्त्र द्वारा षोडश सहस्र राग रागिणियाँ गाई जाती थीं और उनके साथ तीन सौ छत्तीस ताल बजते थे। इसके देखने से ही बुद्धिमान् गण जान सकते हैं कि प्राचीन भारतवर्ष की संगीत विद्या ने जितनी उन्नति की थी, यूरोपवासी अभी तक उसको समझ भी नहीं सके हैं। नाना राग रागिणियाँ नाना प्रकृति के आविर्भाव करने के अर्थ ही बनाई गई थीं। मनुष्य हृदय में जिस प्रकृति के आविर्भाव करने की आवश्यकता हुआ करती थी, उसी प्रकार की राग रागिणियों द्वारा (यथा भैरव राग का रूप वैराग्यमय है, हिण्डोल राग का रूप विलासमय है इत्यादि) कोई मन्त्र अथवा गान विशेष गाने से उनके हृदय में वैसी ही प्रकृति की स्फूर्ति होने लगती थी। जिस प्रकार युद्धशास्त्र आदि क्रियासिद्ध विद्याएं क्रियासिद्ध आचार्यों के अभाव से लोप हो गयी हैं, उसी प्रकार प्राचीन मार्ग संगीत (वेद गाने की रीति) और देशी संगीत (ईश्वर सम्बन्धीय ध्रुवपद गाने की रीति) विद्या भी क्रियासिद्ध उपदेश के अभाव से लोप हो गई है। अब जो भारतवर्ष में सङ्गीत विद्या सुनने में आती है, वह यथार्थ में प्राचीन सङ्गीतविद्या नहीं है। वह प्राचीन सङ्गीत शास्त्र का जीर्ण कंकाल मात्र है। अर्थात यह वर्त्तमान हिन्दू विद्या वह नवीन विद्या है, जो मुसलमान सम्राटों के समय प्राचीन सङ्गीत के अनुकरण से उत्पन्न हुई थी। इन थोड़े ही विचारों से बुद्धिमानगण समझ सकते हैं कि पूज्यपाद ऋषिगणप्रणीत सङ्गीतशास्त्र की कैसी गम्भीरता थी और वे कैसे वैज्ञानिक भित्ति पर स्थित थे। इसका विशेष वर्णन एक स्वतन्त्र अध्याय में किया जायगा।

ज्ञान विज्ञान-उन्नति के विषय में प्राचीन आर्यजाति किस प्रकार अलौकिक शक्तिसम्पन्न थी सो प्राचीन इतिहास पाठ करने से विदित होता है। मृत पुरुष का पुनर्जीवन लाभ, जो कि आजकल कल्पनाओं में भी नहीं आ सकता प्राचीन भारत के इतिहास में बहुधा देखने में आता है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने मृतसंजीवनी विद्या के प्रभाव से रणाहत मृत दैत्यों को पुनर्जीवित किया था। अतिवृद्ध कङ्कालसार च्यवन ऋषि का नवयौवन लाभ इत्यादि सभी बातें प्राचीन अलौकिक ज्ञान विज्ञानोन्नति

की अपूर्व परिचायक हैं जिसको निष्पक्ष विचारशील पुरुष अवश्य ही स्वीकार करेंगे। जिस प्रकार पहाड़ पर रहने वाले किसी मनुष्य से, जिसने कभी रेलगाड़ी नहीं देखी है, पृथ्वी पर एक घण्टे में ६० मील जाने वाली भी वस्तु हो सकती है ऐसा कहा जाय, तो वह उसे हँसकर उड़ा देगा। परन्तु उसका ऐसा उड़ाना केवल अपना अपना ही अज्ञान और मूर्खता का प्रकाश करना है! ठीक उसी प्रकार आज हमारी शक्ति नष्ट हो गई है इसको न स्वीकार करके जो कुछ प्राचीन बातें हमारी समझ में नहीं आतीं, उन्हें गपोड़ा समझ कर उड़ा देना, वृथा अहङ्कार, उन्माद और मूर्खता का परिचायक मात्र है। धीर और निष्पक्ष विचारशील पुरुष ऐसा कभी नहीं करते। ज्ञानसमुद्र अनन्त है, उसका पूरा पता कौन लगा सकता है? आज पाश्चात्य जगत् में कितने ही नये सायन्सों का आविष्कार हो रहा है। जिन बातों को लोग पूर्ण असम्भव जानते थे वे ही आज सत्य हो रही हैं। इसके क्या यह सिद्धान्त नहीं निकलता कि जो लोग उन सब सायन्सों को आविष्कार के पहले उन्हें असम्भव कहा करते थे वे सब भ्रान्त थे और यदि आज वे ४०० वर्षों के बाद ये ही सब सायन्सों के आविष्कार करने वाले लोग मर जाँय, कोई भी ऐसे पुरुष जीते न रहें जिससे वे सायन्स ही नष्ट हो जायँ तो इन ४०० वर्षों के बाद जो लोग उत्पन्न होंगे वे भी क्या इन सब सायन्सों की बातों को किसी पुस्तक में देख कर गपोड़ा पुराण और पोपलीला नहीं समझेंगे? काल की रहस्यमयी गति को कौन समझ सकता है? इसमें साहङ्कार स्पर्धा की अपेक्षा धीर होकर ऐसे विषयों को मानना और मनुष्य बुद्धि को अपरिच्छिन्न समझना ही सत्य और युक्तियुक्त है। प्राचीन आर्यजाति में अपने कर्म को दूसरे में सञ्चालित करने की अद्भुत शक्ति थी। ययाति राजा ने अपने वार्द्धक्य को अपने युवक पुत्र पर समर्पित कर उसके यौवन को ग्रहण किया था। भगवान् आदि शंकर की आयु षोड़श वर्ष की थी, परन्तु महर्षि वेदव्यास ने अपनी आयु से १६ वर्ष देकर उनकी आयु ३२ वर्ष की कर दी थी। इसी तरह परीक्षित को कितने ही वर्षों की आयु एक ऋषिपुत्र ने घटाकर सात दिन की सीमा पर डाल दी थी। ऐसे कितने ही दृष्टान्त प्राचीन आर्यजाति के इतिहास में मिलते हैं।

चिकित्सा शास्त्र में प्राचीन आर्यजाति ने बहुत उन्नति की थी। चिकित्सा विद्या में जो जो विषय रहने से उसकी पूर्ण उन्नति समझी जा सकती है, वे सभी आयुर्वेद में थे, शस्त्रविद्या, रसायन विद्या, धातुप्रयोगविद्या और कष्टादि भेषज प्रयोग विद्या सभी आयुर्वेद में पाई जाती हैं। आयुर्वेद आठ तन्त्रों में विभक्त है। यथा शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारकृत्य, अगद, रसायन और वाजीकरण। इन आठ प्रकार के चिकित्सातन्त्रों में शरीरविज्ञान, देहविज्ञान, शस्त्रविज्ञान, धात्रीविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, भेषजविज्ञान और रोगनिदान सभी विषय वर्णित किये गये हैं। केवल मनुष्य की चिकित्सा ही नहीं पशु आदि की चिकित्सा प्रणाली भी आयुर्वेद में वर्णित है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अनुशीलन करने से सर्वव्याधिविनाशनोपाय निर्धारित हो सकता है। कक्षीवान की कन्या घोषा कुष्ठरोग से आक्रान्त हो गई थी। अश्विनीकुमारों ने जब उसको रोगमुक्त किया तब उसका विवाह हुआ था। कण्व ऋषि अन्धे हो गये थे, निषध पुत्र बधिर हो गये थे, बध्रिमती के पति नपुंसक हो गये थे परन्तु प्राचीन आर्यजाति के आयुर्वेद शास्त्र की ही महिमा है, जिससे ऐसे ऐसे कठिन रोग में भी आराम हो जाया करते थे। आर्यचिकित्सा विज्ञान में विशेषता यह है कि उसने स्वतन्त्र रूप से काष्ठादिक और धातुज औषधियों की उन्नति की है। कोई आचार्य केवल काष्ठादि औषधियों की ही व्यवस्था कर गये हैं और कोई केवल धातुज औषधियों को ही प्रसिद्ध कर गये हैं। आयुर्वेदोक्त चिकित्साशास्त्र कितनी उन्नति पर पहुँचा था सो इसके नाड़ीज्ञान शास्त्र के पाठ करने से ज्ञात हो सकता है जिसकी सहायता से नाड़ी परीक्षा द्वारा सकल प्रकार के रोगों का भलीभाँति निदान हो सकता है और जिसमें विलक्षणता यह है कि एकमात्र नाड़ीज्ञान से ही तीन मास, छः मास अथवा उससे अधिक काल पूर्व में भी भविष्यत रोग का ज्ञान हो सकता है। यह नाड़ीज्ञानशास्त्र इतना गंभीर और सूक्ष्म है कि आज तक पश्चिमी विद्वान्गण उसको समझ नहीं सके हैं। इसके सिवाय शस्त्रचिकित्सा में भी प्राचीन आर्यगण ने बहुत उन्नति की थी। डाक्टर रेली साहब ने बड़ी प्रशंसा के साथ मुक्तकण्ठ होकर कहा है– "प्राचीन भारतवासियों के ग्रन्थ देखने से प्रकट होता है कि वे

शस्त्रचिकित्सा में विशेष निपुण थे। प्राय: १२७ प्रकार के शस्त्रों का वे शरीर पर प्रयोग किया करते थे और शस्त्रव्यवहार के साथ नाना प्रकार की औषधियों का भी प्रयोग किया करते थे।'' वेयर साहब ने कहा है कि शस्त्रचिकित्सा में (Surgery) प्राचीन आर्यगण पूर्णता प्राप्त कर चुके थे और इस विद्या में पश्चिमी लोग अभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। जैसा कि विकृत कान या नाक को सुधार कर नया बना देने की चिकित्सा पश्चिमी चिकित्सकों ने प्राचीन हिन्दुओं से ही प्राप्त की है डाक्टर हन्टर साहब ने भी ऐसी ही आर्य शस्त्रचिकित्सा की बड़ी प्रशंसा की है। मिस् म्यानिङ्ग ने कहा है कि प्राचीन हिन्दुओं के शस्त्रचिकित्सायन्त्र ऐसे उत्तम और सूक्ष्म हुआ करते थे कि उनसे केश तक सीधे लम्बे फाड़े जा सकते थे। इस प्रकार पश्चिमी विद्वान् और एतद्देशीय सभी पुरुषों ने प्राचीन आर्यजाति के चिकित्साशास्त्र की महिमा प्रकट की है।

बुद्धि विकास का प्रथम लक्षण शिल्पनिपुणता है। जब बुद्धि सूक्ष्म अवस्था को धारण करती जाती है तब यद्यपि वह पूर्ण सूक्ष्मता को धारण करके आध्यात्मिक जगत् में पहुँच जाती है, तथापि प्रथम अवस्था में वह स्थूल जगत् में ही विचरण करती है नाना स्थूलजगत् सम्बन्धीय विचित्रता को प्रकाशित करने लगती है। यही बहिर्जगत् सम्बन्धीय विचित्रता शिल्पनैपुण्य है। प्राचीन भारत में इस विद्या को पूर्णोन्नति हुई थी। आर्यगण का चतुर्थ उपवेद स्थापत्यवेद ही इसका साक्षी है। यदि आजकल की तरह कपड़े बुनने की कल, मैदा पीसने की कल, सिलाई करने की कल, सूत कातने की कल आदि कलें प्राचीन काल में नहीं थीं, तथापि प्राचीन भारत में देशोन्नति और धनोन्नतिकारिणी शिल्पविद्या और विज्ञानविद्या में कितनी उन्नति हुई थी इसकी धारणा भी आजकल के लोग नहीं कर सकते। आर्यशिल्प की उन्नति के चमत्कारों का वेद में भी वर्णन किया हुआ है। सहस्र द्वारा और सहस्रस्तम्भयुक्त अट्टालिका, लोहनिर्मित नगर और प्रस्तर निर्मित पुरी का वर्णन ऋग्वेद में किया गया है। वह भारतवर्ष की अपूर्व शिल्पनिपुणता का ही कारण है कि विदेशीय जातियों ने उसके लोभ से यहाँ आकर क्रमश: भारत पर अधिकार जमा लिया है। मय दानव निर्मित युधिष्ठिर की राजसभा का वर्णन महाभारत में पढ़ कर किसके चित्त में लोभ और उसके देखने की इच्छा न होगी?

राजसूय यज्ञ के समय मयदानव ने जो सभागृह बनाया था उसकी तुलना संसार में नहीं हो सकती। उस सभा में उन्होंने एक अनुपम सरोवर निर्माण किया था। उसमें मणिमय मृणाल (कमलदण्ड) तथा पत्रयुक्त शतदलकमल और काञ्चनमय कुमुदपुष्प सुशोभित थे। अनेक चित्रविचित्र पक्षी केलि करते थे। प्रफुल्ल पङ्कज और सुवर्णनिर्मित मत्स्य कूर्मादि की विचित्रता और चतुर्दिशाओं में चित्रस्फटिक के सोपान से युक्त उस निर्मल सरोवर के चित्र को वास्तविक सरोवर समझ कर अनेक राजपुरुष मुग्ध और भ्रान्त होकर उसमें गिर पड़े थे। इस प्रकार का शिल्प वैचित्र्य समस्त पृथ्वी में दुर्लभ है।

आजकल रेलगाड़ी को देख सब लोग आश्चर्यचकित होते हैं परन्तु भारतवर्ष के प्राचीन विमान, अस्त्र और नाना यान आदि के वर्णन का पाठ करने से यह स्वत: ही सिद्ध हो जायगा कि यद्यपि यूरोप ने शिल्पविद्या में बहुत ही उन्नति की है, तथापि उसकी बुद्धि में अभी तक यह बात नहीं आती कि किस प्रकार से प्राचीन आर्यों ने उन पदार्थों की सृष्टि की थीं और किस प्रकार से भारत ने शिल्प विद्या में इतनी उन्नति कर डाली थी। थोड़े ही दिन पहिले अध:पतित भारत की जो शिल्पविद्या थी, दीन हीन भारतवासी भी जो काश्मीरी शाल, ढाका के वस्त्र, खासी आदि स्थानों के षट्टवस्त्र और नाना सुवर्ण, रौप्य, रत्न आदि से जड़ित आभूषण आदि बनाया करते थे उसकी समानता अभी तक शिल्प निपुण यूरोप से नहीं की गयी है। मिस हैनिङ्ग ने कहा है कि प्राचीन आर्य्य जाति की शिल्पकला ऐसी अपूर्व थी कि यूरोप के दर्शक लोगों को उनकी प्रशंसा करने के लिये योग्य शब्द ही नहीं मिलते थे। वे लोग उनकी सुन्दरता और कारीगरी को देख कर विस्मयसमुद्र में एकदम डूब जाते थे। प्राचीन ग्रीक और मिश्र देश की शिल्पविद्या के साथ तुलना करके प्रोफेसर हीरेन साहब ने कहा है कि मूर्तियों का निर्माण और बाहर की सजावट में आर्यशिल्प ग्रीस और मिश्रदेश के शिल्प से बहुत उन्नत था। कर्नल टाड साहब ने कहा है कि भारतीय प्राचीन स्तम्भ और मूर्ति आदि के देखने से मालूम होता है कि मानों कलासुन्दरी ने अपनी समस्त सुन्दरता को प्राण खोलकर भारतवर्ष में प्रकट कर दिया है। यहाँ पर सभी शिल्पकौशल पूर्णता के पद पर प्रतिष्ठित हो गया है। बैरन डालवर्ग

साहब ने द्वारकापुरी की शिल्पकला को देखकर उसे "चमत्कारपुरी" कह दिया था और कहा था कि प्राचीन आर्य्यजाति ने यहाँ पर शिल्पविद्या को पृथ्वी भर की अन्य सब जातियों की अपेक्षा पूर्णता पर पहुँचाया है। एलोरा आदि स्थानों के गुफा मन्दिर, श्रीजगन्नाथ आदि देवताओं के देवालय, चित्तौड़ आदि के दुर्ग, कटक आदि स्थानों के नदीबन्ध, आगरे का ताजमहल आदि प्राचीन स्थानों के देखने से प्राचीन भारत की शिल्प-उन्नति का दृढ़ प्रमाण मिल सकता है। एलोरा के गुफा मन्दिर को देख कर तो पश्चिमी लोग स्तब्ध हो गये हैं। उनकी बुद्धि में ही यह बात नहीं आती कि पहाड़ खोद कर इतनी मूर्तियाँ और इस प्रकार के गृह कैसे बन सकते हैं। प्रोफेसर हीरेन ने इसके विषय में कहा है कि इलोरा के गुफाद्वार में प्रवेश करते समय हृत्कम्प होता है कि ऐसे ऐसे हल्के स्तम्भों के ऊपर इतना विशाल छत्र कैसे रखा गया है और दोनों के वजन और शक्ति के अनुपात का हिसाब किस तरह से किया गया है। इसको सोच कर प्राचीन आर्यशिल्प की अपूर्वता के विषय में अनुमान होता है। पहाड़ के गात्र पर खोदा हुआ इस प्रकार का शिल्पकलायुक्त सुन्दर मन्दिर पृथ्वी में और कहीं भी नहीं है। प्राचीन आर्यजाति की शिल्पविद्या का यह अद्वितीय प्रमाण है। इसी प्रकार पूने के पास कारोलिका गिरी गुफा, सालसती गुफा, अवन्ता गिरिगुफा आदि सभी प्राचीन आर्यशिल्प की पराकाष्ठा के परिचायक हैं। उदयगिरि तथा खंडगिरि में जो शिला मन्दिर प्रतिष्ठित हैं, भुवनेश्वर में जो अपूर्व मन्दिर विराजमान है, इन सभों की तुलना संसार में कम ही मिलती है। फर्गुसन साहब ने कहा है कि डाट बनाने का कौशल प्राचीन आर्यजाति ही जानती थी और यह कौशल भारतवर्ष से ही अन्य देशों में प्रचारित हुआ है। अध्यापक बेवर साहब ने कहा है कि पश्चिमी देशों में धर्मालयों का शिखर भारतवर्ष के बौद्धमन्दिरों के शिखरों के अनुकरण पर निर्माण किया गया है। हण्टर साहब ने कहा है कि वर्तमान समय में अंग्रेज शिल्पिगण जो कुछ शिल्पनैपुण्य का परिचय दे रहे हैं इनमें से अधिकांश शिल्प आर्य शिल्प के अनुकरण पर ही बना हुआ है। किसी किसी का यह कहना है कि सारासेन जाति ने ही प्रथम डाटनिर्माण का आविष्कार किया था, परन्तु कर्नल टाड साहब ने स्वप्रमाणित राजखान नामक ग्रन्थ में प्रतिपादन

किया है कि सारासेन जाति ने प्राचीन आर्यजाति से ही उस प्रकार के डाट बनाने की पद्धति सीखी थी। इस प्रकार से अनुसन्धान द्वारा सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजाति ने स्थापत्य विद्या तथा शिल्पकला की विशेष उन्नति की थी, जिसका कङ्काल आज भी सर्वत्र देखने में आ रहा है।

इस प्रकार सर्वतोमुखिनी उन्नति के साथ सर्वतोगामिनो व्यापकता के भी भूरि भूरि प्रमाण आर्यजाति में देखने में आते हैं। प्राचीन काल में आर्यजाति देशविजय, राज्यविस्तार, देशभ्रमण, उपनिवेशस्थापन, वाणिज्यवृद्धि आदि के लिये पृथ्वी के सब देशों में ही गमन करती थीं, इसका प्रमाण पाश्चात्य और एतद्देशीय सभी प्राचीनत्व के वेत्ता पण्डितों ने दिया है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा सुदास के विषय में लिखा है उन्होंने ससागरा पृथ्वी को जय करके सर्वत्र ही अपना अधिकार विस्तार किया था। एल्फिन्स्टन और ष्टोन साहब ने कहा है कि पारस्यदेश का एक तिहाई अंश प्राचीनकाल में हिन्दुओं के अधीन था। कर्नल टाड साहब ने कहा है मुसलमानी राज्य के पहले हिन्दुओं का अधिकार मध्य एशिया के अनेक स्थानों में था। वेबर साहब अपने प्रणीत Indian Literature नामक ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों के द्वारा बताया गया है कि प्राचीनकाल में ग्रीस और रोम के साथ आर्यजाति का बहुत ही सम्बन्ध था। हिन्दू राजाओं के प्रासादों में ग्रीक स्त्रियाँ दासीरूप से रहा करती थीं और वहाँ के दूत यहाँ और यहाँ के दूत वहाँ प्रायः जाया करते थे। भारतवर्ष की प्रकृति पूर्ण होने से आदिसृष्टि यहाँ ही हुई थी, इसका विज्ञान पहले ही कहा गया है। पृथ्वी की आदि जाति आर्यगण 'पृथ्वीपाल' थे इसका भी प्रमाण पहले ही दिया गया है। यही पृथ्वीपालक आर्यजाति प्राचीन काल में पृथ्वी भर में विस्तृत होकर राज्यविस्तार और उपनिवेश स्थापन करती है, जिसका चिन्ह आज भी सर्वत्र विद्यमान है। दृष्टान्त रूप से थोड़ा सा वर्णन किया जाता है।

पञ्चदश शताब्दि के बीच में कोलम्बस के द्वारा अमेरिका का आविष्कार हुआ था, इस बात को पढ़कर अर्वाचीन हिन्दू बहुत ही आश्चर्यान्वित होते हैं; परन्तु उनके पितामह आदि ने पञ्चदश शताब्दि से कितने सहस्राब्द पहले अमेरिका का आविष्कार किया था उसकी खबर

दुर्भाग्य, अन्धी, अर्वाचीन हिन्दूजाति को नहीं है। यह खबर अनुसन्धानप्रिय पाश्चात्य पण्डितों की है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में लिखा है कि जिस समय यूरोपीय जाति ने अमेरिका में प्रथम उपनिवेशस्थापन किया था उस समय तक वहाँ पर प्राचीन हिन्दुओं का आचार व्यवहार विद्यमान था। यद्यपि भारत के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न होने से वहाँ के भारतवासियों के आचारादि में अनेक फेर हो गये थे, तथापि आर्य आचारादि का चिन्ह एकबार ही लुप्त नहीं हो गया था। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक और परिभ्रमण करने वाले बैरन हाम्बोल्ट साहब ने कहा है कि अमेरिका में अब भी हिन्दुओं का परिचय चिन्ह विद्यमान है। ऐरु देश के लोगों के आचारों के विषय में चर्चा करते समय मि० पोकक ने कहा है कि पेरुवासियों के पितृपुरुषगण किसी समय भारतवासियों के साथ सम्बन्धयुक्त थे। मि० हार्डि ने कहा है कि अमेरिका में जो प्राचीन प्रासाद समूह देखने में आते हैं वे सब भारतवर्ष के म[िर शिखरों की तरह हैं। मि० स्क्याट ने कहा है कि दक्षिण भारत और भारतीय द्वीपों में जो बौद्धमन्दिर देखने में आते हैं, मध्यअमेरिका की अनेक अटालिकाएँ उसी के अनुकरण पर बनी हुई हैं। प्रेस्कट् और हेल्प साहब ने अपने अनेक ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर लिखा है कि भारतीय देवदेवियों के अनुकरण पर ही अमेरिका में देवदेवियों की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं और उसी प्रकार से पूजादि हुआ करती थी। भारतवर्ष की तरह पृथ्वी पूजा वहाँ पर प्रचलित थी। भारतवर्ष में श्रीकृष्णपदचिन्ह, श्रीबुद्धपदचिन्ह और श्रीदत्तात्रेय आदि के पदचिन्हों का पूजा की तरह मेक्सिको में भी 'कोयेट्जाल सूर्यकोटल्' नामक देवता के पदचिन्ह की पूजा होती थी। भारतवर्ष की तरह वहाँ पर भी सूर्य और चन्द्रग्रहण के समय उत्सव होता था। यहाँ पर जिस प्रकार राहु द्वारा चन्द्रसूर्य ग्रास की कथा प्रचलित है, वहाँ पर भी ऐसी ही 'माल्य' नामक दैत्य द्वारा सूर्यचन्द्रग्रास की कथा प्रचलित थी। मैक्सिको देश में हाथी के शिर से युक्त एक नरदेवता की पूजा होती थी। बैरन हम्बोल्ट साहब की सम्मति है कि उस देवता के साथ हिन्दूदेवता गणेश का सम्पूर्ण सादृश्य मिलता है। भारतवर्ष में 'दशहरा' उत्सव की तरह मैक्सिको में भी प्रतिवर्ष राम-सीता के नाम से उत्सव होता था। सर विलियम जोन्स ने कहा है कि यह एक प्रख्यात

विषय है कि पेरुदेश के इनसेस् लोग अपने को सूर्यवंशीय कहते हुए गौरव समझते थे और उनका प्रधान पर्वोत्सव रामसीता का ही उत्सव था। इसी से सिद्ध होता है कि जिस हिन्दू जाति ने एशिया के देशदेशान्तर में जाकर रामसीता का इतिहास तथा आर्य आचारों का प्रचार किया था, उसी ने दक्षिण अमेरिका में जाकर उपनिवेशस्थापन भी किया था। इसके सिवाय युगान्तर, खण्डप्रलय, कूर्मपृष्ठ पर पृथ्वीजागरण, सूर्यपूजा आदि कई एक विषयों में भारतवर्ष के साथ अमेरिका का सादृश्य था इसका परिचय मिलता है, जिससे प्राचीन आर्यजाति की व्यापकता सिद्ध होती है। कितने ही पश्चिमी पण्डितों ने तो यह कहा है कि पृथ्वी की सभी जातियों की उत्पत्ति आर्यजाति से हुई है। आर्यजाति ही सब देशों में भिन्न समय पर जा बसी है जिससे देश काल तथा आचार भेदानुसार उनमें अनेक भेद पड़ गये हैं। आचार आदि की भ्रष्टता के कारण आर्यपदवी से च्युत होकर वे सब अन्य जाति कहलाने लगे हैं। मि० पोकक साहब ने कहा है कि पंजाब के रास्ते से असंख्य हिन्दू यूरोप और एशिया के कई स्थानों में गये थे और वे उन्हीं देशों के अधिवासी बन गये हैं। प्रोफेसर हीरेन ने कहा है कि अन्तर्विवाद् अर्थात् अपने ही समाज में लड़ाई झगड़े के कारण आर्यगण अन्य देसों में जा बसे हैं। ऐसा न मानने पर भी ऐसा तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि भारतवर्ष में हिन्दुओं की अगणित विशाल जातियों के बसने के लिये यथेष्ट स्थान नहीं था, इसलिये अन्यान्य अनेक देशों में प्राचीन हिन्दूगणों ने उपनिवेश स्थापन किया था, जिससे संसार भर का विस्तार आर्यजाति से ही हुआ है। मनुसंहिता में क्रियालोप और वेदपाठ के अभाव से अनेक क्षत्रियजाति किस प्रकार पतित होकर काम्बोज, शक, यवन, खश, पारद आदि नीचजाति बन गई थी, इसका वर्णन किया गया है, जिसका प्रमाण पहले भी दिया जा चुका है। महाभारत के अनुशासनपर्व और शान्तिपर्व में भी ऐसी अनेक जातियों का वर्णन देखने में आता है, जो आर्य जाति से ही क्रियालोप के द्वारा बन गई हैं। यथा–

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ।।

द्राविडाश्च कलिन्दाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः ।
कोलिसर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ।।
मेकला द्रविडा लाटा पौण्ड्राः कोन्वशिरास्तथा ।
शौण्डिका दरदा दर्वाश्चौराः शर्वरबर्बराः ।।
किराता यौवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ।।

(अनुशासन पर्व)

वेदाचार के खण्डित होने से शक, यवन आदि जातियाँ क्षत्रिय जाति से बन गई थीं। इस प्रकार शान्तिपर्व में–

यवनाः किराता गांधाराश्चीनाः शर्ववबर्बराः ।
शकास्तुशारा कंकाश्च पन्हवाश्चान्ध्रमद्रकाः ।।
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ।।
कथं धर्माश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः ।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ।।

यवन, किरात, गान्धार आदि जो अनेक जातियाँ चतुर्वर्ण से बन गई हैं उनका धर्म क्या होगा और उनका शासन भी किस प्रकार से होगा ऐसा प्रश्न हो रहा है। इसके द्वारा प्राचीन काल में आर्यजाति पृथ्वी की अन्य सब जातियों पर आधिपत्य करती थी यह भी सिद्ध होता है। मनसियर डेलबो साहब ने कहा है कि हजारों वर्ष पहले जो सभ्यता गङ्गा के तट पर विस्तार को प्राप्त हुई थी उसी का प्रभाव आजतक यूरोप और अमेरिका भोग कर रही है और समस्त सभ्यजगत् की दशदिशाओं में वही प्राचीन आर्यजातीय सभ्यता विस्तृत हो गई है। प्राचीन आर्यगण इस प्रकार भिन्न भिन्न देशों में उपनिवेश स्थापना करने के लिये स्थलपथ और जलपथ दोनों के द्वारा ही सर्वत्र गमनागमन करते थे। यवद्वीप, बोर्णियो आदि अतिक्रम करके प्राचीन हिन्दूगण अमेरिका जाते थे, ऐसे प्रमाण अनेक स्थानों में पाये जाते हैं। पाश्चात्य पण्डितों की आलोचना द्वारा सिद्ध हुआ है कि वेरिङ्ग प्रणाली (Strait) का अस्तित्व पहले नहीं था। उस समय रूप देश के उत्तरपूर्व प्रान्तीय स्थानों के साथ उत्तर अमेरिका के आलास्का देश का संयोग था जिससे भारतवासिगण चीन, मंगोलिया

और साइबेरिया होकर अमेरिका जाया करते थे। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के समय बौद्ध मिशनरीगण अमेरिका में जाया आया करते थे। चीन देश के इतिहास में इसका प्रमाण मिलता है। प्राचीन मिश्र या वर्तमान अफ्रीका देश में प्राचीन आर्यगणों ने जो उपनिवेश स्थापन किया था उसका वृत्तान्त पहले ही कहा गया है। कई एक आचारभ्रष्ट क्षत्रियों को राजा सगर ने समाजच्युत किया था। वे ही शक, यवन और पारद कहे जाते हैं। भारतवर्ष को छोड़ कर इन लोगों ने नानादेशों में जाकर उपनिवेश स्थापन किये थे। किसी किसी की सम्मति है कि इन भ्रष्ट क्षत्रियों में से 'पारद' लोगों के द्वारा ही 'पारस्य' देश का नामकरण हुआ है और किसी किसी के मत में परशुराम के अनुचरण के द्वारा ही पारस्य देश का नामकरण हुआ है। श्रीरामचन्द्र के किसी वंशज के द्वारा रोमराज्य की प्रतिष्ठा और मगध राजगण के द्वारा ग्रीसराज्य की प्रतिष्ठा अनेक पाश्चात्य पण्डितों की गवेषणा के द्वारा सिद्ध हुई है। प्राचीन ग्रीस का नाम यवनराज्य था। जर्मन देश में मनु के वंशजों ने उपनिवेश स्थापन किया था। तुरस्क तथा उत्तर एशिया में हिन्दुओं का ही आधिपत्य था। इन बातों के अनेक प्रमाण मिलते हैं। चीन देश में आर्य्यगण का आधिपत्य जमा था, इसका वृत्तान्त चीन देशीय धर्म और जातित्व के देखने से निश्चित होता है। अब भी चीन देश के लोग अपने को आर्य्यवंशीय कह कर परिचय देते हैं। प्राचीन ब्रिटेन द्वीप भी किसी समय आर्य्यगण का अधिकारभुक्त था। आजकल अनेक पाश्चात्य पण्डितों को गवेषणा के फल से ऐसा ही स्वीकार करना पड़ता है। वे कहते हैं कि प्राचीन ब्रिटेन के 'द्रइद' पुरोहितगण की उत्पत्ति के मूल में आर्यब्राह्मणगण अथवा बौद्धधर्मीय याजकगण का प्राधान्य अवश्य ही विद्यमान था। जम्बू, प्लक्ष, पुष्कर, क्रौञ्च, शक, शाल्मली तथा कुश इन सात द्वीपों के प्रसङ्ग पर चर्चा करके कर्नल विलफोर्ड आदि प्रमुख पाश्चात्य पण्डितों ने जो सिद्धान्त किया है उससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में समस्त पृथ्वी ही आर्य्यजाति की अधिकारभुक्त थी। काल की कुटिल गति से प्राचीन आर्यों के अधिकारभुक्त अनेक स्थानों का नाम परिवर्तन होने से आर्य्यजाति की अधिकार सीमा का पता ठीक ठीक नहीं चलता; परन्तु थोड़ा ही ध्यान देकर विचार करने से आर्य्यजाति के 'पृथ्वीपाल' लक्षण

की चरितार्थ का पूर्णतया प्रतीत हो जायगी। आर्य्यजाति का अधिकारभुक्त प्राचीन गान्धार वर्तमान कान्दाहार है। प्राचीन काम्बोज वर्तमान कम्बोडिया है। प्राचीन पन्हव तथा पारद वर्तमान पारस्य है। प्राचीन यवन आधुनिक ग्रीस है। प्राचीन दरद वर्तमान चीन है। प्राचीन खस वर्तमान पूर्व यूरोप है। इस तरह प्राचीन देशों की नामावली का पता लग सकता है, जिससे आर्य्यजाति का समस्त पृथ्वी पर अधिकार सिद्ध होता है। अब भी यव और बाली द्वीप के लाखों हिन्दू अनिवासी, कम्बोडिया के अपूर्व मन्दिरों के ध्वंसावशेष और पृथ्वी के प्रधान अंशों में बौद्ध धर्म का विस्तार, आर्य्यजाति की सर्वत्र व्यापकता को सिद्ध कर रहे हैं।

प्राचीन काल में इस प्रकार पृथ्वी के सर्वत्र जाने आने के लिये आर्यगण के पास यान आदि का भी अभाव नहीं था। प्राचीन इतिहास पुराणादि में जो द्रुतगामी रथ, पोत आदि का प्रमाण मिलता है। जिनके द्वारा थोड़े समय में ही स्थल, जल तथा आकाशमार्ग में बहुत दूर तक जाने की बात बताई गई है– उनके द्वारा आधुनिक जहाज, बेलून यारोप्लेन आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ३७ सूक्त की प्रथम ऋक् यह है–

कीलं वः शर्द्धोमारुतमनर्वाणं रथे शुभम् ।
कण्वा अभिप्रगायत ।

इसमें 'अनर्वाण' शब्द का अर्थ 'अश्वरहित' है और 'मारुत' शब्द का तात्पर्य मरुतदत्त या वाष्पदत्त बल से है। अत: पूरे ऋक का यह अर्थ निकलता है कि हे कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षिगण! जिस प्रकार से वाष्प के प्रभाव से अश्वरहित रथ चल सकता है, उसकी शिक्षा हमें दीजिये। अत: इस ऋक् के द्वारा अश्वरहित वाष्पीय रथ प्राचीन काल में था ऐसा सिद्ध हुआ। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ९७ सूक्त में लिखा है–

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षाः स्वस्तये ।।

हे विश्वतोमुख देव! तुम हमारे शत्रुओं को जहाज से पार करने की तरह दूर भेज दो और हमारे कल्याण के लिये हमें जहाज के द्वारा समुद्र पार ले चलो। इस प्रकार और भी अनेक मन्त्रों के द्वारा प्राचीन काल

में समुद्रगामी पोत आदि के भी अस्तित्व का प्रमाण मिलता हैं। केवल समस्त पृथ्वीपर अधिकार विस्तार के लिये हीं नहीं, अधिकन्तु वाणिज्य आदि के लिये भी प्राचीन आर्यगण पृथ्वी के सर्वत्र जाया आया करते थे। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में ५५ वें सूक्त में धनलाभेच्छु वणिक्गण समुद्रयात्रा का वृत्तान्त लिखा हुआ है। प्रोफेसर म्याक्स डंकार ने कहा है कि खृष्टजन्म के २००० वर्ष पहले आर्य्यजाति जहाज प्रस्तुत करना जानती थी और समस्त पृथ्वी के साथ उसका वाणिज्यकार्य चलता था। प्रोफेसर हीरेन साहब ने कहा है कि प्राचीन हिन्दूगण एक प्रकार का जलयान प्रस्तुत करना जानते थे, जिस पर चढ़ कर करमण्डल तट, गङ्गातटस्थ अनेक देश और ग्रीस तथा मछलिपट्टन के अनेक प्रदेशों के साथ वे वाणिज्य करते थे। हिन्दूशास्त्र में भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यगण काष्ठ विज्ञान को भली प्रकार से जानते थे और उसी विद्या की सहायता से उत्तम और दृढ़ जहाज प्रस्तुत करके देश विदेश में जाया करते थे। वृक्ष-आयुर्वेद के मतानुसार काष्ठ भी चार वर्णों के होते थे। यथा–

लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत् ।
दृढांगं लघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत् ।।
कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते ।
दृढागं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते ।
लक्षणद्वययोगेन द्विजातिकाष्ठसंग्रहः ।।

जो काष्ठ हलका, नरम और दूसरे काष्ठ से अच्छी तरह मिल सकता है वही ब्राह्मणजाति का काष्ठ हैं। जो काष्ठ हलका तथा दृढ़ है और अन्य काष्ठ से मिल नहीं सकता, वह क्षत्रियजाति का काष्ठ है। नरम और भारी काष्ठ वैश्यजाति का है और दृढ़ तथा भारी काष्ठ शूद्रजाति का है। दो जाति के काष्ठों के गुणयुक्त काष्ठ द्विजातीय वर्णसंकर काष्ठ कहलाते हैं। पूर्वोक्त लक्षणानुसार चार वर्णों के काष्ठ जलयान बनाने के काम में आते थे। उपयुक्त श्लोकों के द्वारा इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में वर्णधर्म नामक अध्याय में जो वृक्षों में भी वर्णों की व्यवस्था बताई गई है, उसका प्रमाणित होना सिद्ध होता है। "भोजराज ने उल्लिखित चतुर्वर्ण काष्ठों में से जहाज प्रस्तुत करने के लिये कौन

कौन काष्ठ किस प्रकार से उपयुक्त हो सकते हैं और काष्ठ द्वारा जहाज किस प्रकार से बनाया जाना चाहिए सो वर्णन किया गया है। यथा–

क्षत्रियकाष्ठैर्घटिता भोजमते सुखसम्पदं नौका ।
अन्ये लघुभिः सुदृढैर्दधति जलदुष्पदे नौकाम् ।।
विभिन्नजातिद्वयकाष्ठजाता न श्रेयसे नापि सुखाय नौका ।
नैषा चिरंतिष्ठति पच्यते च विभिद्यते सरिति मज्जते च ।।

भोजराज के मतानुसार क्षत्रिय काष्ठ निर्मित जलयान ही सुख तथा धन का देने वाला होता है। अधिक जल में तैरने के लिये भी इस प्रकार लघु और दृढ़ काष्ठ युक्त यान ठीक होता है। वर्णसंकर काष्ठ अर्थात् विभिन्न दो जातियों के काष्ठ द्वारा निर्मित जलयान कदापि मङ्गल तथा सुख देनेवाला नहीं होता, क्योंकि ऐसा यान बहुत दिनों तक काम नहीं दे सकता; शीघ्र ही सड़ जाता है, थोड़ा आघात पाने से ही फट जाता है और समुद्र में डूब जाता है।

युक्ति-कल्पतरु में आहार के भेद के अनुसार जहाजों के दश भेद बताये गये हैं। यथा–

क्षुद्राथ मध्यमा भीमा चपला पटला भया ।
दीर्घा पत्रपुटा चैव गर्भरा मन्थरा तथा ।।

आकारभेदानुसार जलयान के दश भेद होते हैं। यथा– क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा तथा मन्थरा। ये सब भेद सामान्य जलयान अर्थात् नदी में जाने वाले जलयान के हैं। इनके अतिरिक्त समुद्र में जाने वाले अर्थात् विशेष दीर्घ जलयान के भी दश भेद हैं। यथा–

दीर्घिका तरणिर्लोला गत्वरा गामिनी तरिः ।
जंघाला प्लाविनी चैव धारिणी वेगिनी तथा ।।

दीर्घिका, तरणि, लोला, गत्वरा, गामिनी, तरि, जंघाला, साविनी, धारिणी और वेगिनी। महाभारत के आदिपर्व में लिखा है–

ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा ।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ।।
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विश्रम्भिभिः कृताम् ।।

महात्मा विदुरजी ने पाण्डवों की रक्षा के लिये गंगातट पर ऐसे एक विश्वासी पुरुषों से अधिष्ठित जहाज को भेज दिया, जिस जहाज में सभी प्रकार के यन्त्र थे, ध्वजा थी और पवनवेग को सहन करने की भी शक्ति थी। रामायण के अयोध्याकाण्ड में लिखा है–

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्त्तानां शतं शतम् ।
सन्नद्धानां तथा यूनान्तिष्ठिन्त्वत्यभ्यचोदयत् ।।

शत्रुओं के पथरोध करने के लिये शत शत कैवर्त युवक ५०० जलस्थानों में इधर उधर छिपे रहे। ऐसे अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में आर्यगण जहाज आदि जलयान बनाने के कौशल को पूर्णतया जानते थे और इस प्रकार अर्णवपोत आदि में चढ़कर दिग्विजय और वाणिज्य आदि के लिये समुद्रपथ से दूर दूर देशों में यातायात करते थे।

वाणिज्य विषयक प्राचीन आर्य इतिहास की पर्यालोचना करने से पता लगता है कि आजकल की तरह प्राचीन हिन्दूजाति विदेशीय लोगों के हाथ में समस्त वाणिज्य धन को सौंप कर दीन हीन भिखारी और परमुखापेक्षी नहीं हो गई थी, किन्तु अपनी अनुपम वाणिज्य समृद्धि के द्वारा समस्त संसार की अधिपति थी। प्राचीन काल में भारत अतुल ऐश्वर्यसम्पन्न होने के कारण स्वर्णभूमि कहलाता था, आर्यजाति का वाणिज्य हीं इसका प्रधान कारण था। मिस म्यानिङ्ग ने कहा है कि भारतवर्ष की अनेक वस्तुएँ देशान्तर में देखने से तथा संस्कृत ग्रन्थों के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजाति वाणिज्यपरायण जाति थी। मि० एलफिन्स्टन ने कहा है कि मनुजी के समय में भी आर्यगण समुद्रपथ से वाणिज्य करते थे क्योंकि उनके ग्रन्थ पढ़ने से ऐसा ही निश्चय होता है। मैक्स डनकर साहब ने कहा कि खृष्ट जन्म से दश शताब्दि पहले फिनिशियन जाति के साथ आर्यजाति का हस्तिदन्त चन्दन-काष्ठ स्वर्ण, रोप्य, मणि तथा मयूर आदि का वाणिज्य चलता था। यह एक प्रसिद्ध बात है कि ग्रीकजाति ने भारतवासियों से ही चीनी का व्यवहार पहले सीखा है। अंग्रेजी सुगर शब्द संस्कृत 'शर्करा' से ही बना हुआ है। पश्चात् अरब, पारस्य और यूरोप के अनेक देशों में इसका प्रचार हुआ है। मि० मण्डार ने कहा है कि सेलूसिडिके राज्यकाल में भी

सीरिया के साथ आर्यजाति का वाणिज्य चलता था। भारतवर्ष के लोह, अलंकार और बहुमूल्य वस्त्र जहाजों के द्वारा यहाँ से ब्याविलोन और टायर देश में जाया करते थे। मिश्र देश के साथ वाणिज्य सम्बन्ध के विषय में तो पहले ही कहा गया है। रेशम, प्रवाल मुक्ता, हीरा आदि का व्यापार सदा ही मिश्र और तदन्तर्गत अलगजेण्ड्रिया से था। हस्तिदन्त और नील का वाणिज्य ग्रीस के साथ प्राचीन आर्यजाति का था। रोम के साथ भारतवासियों का नाना प्रकार के सुगन्ध द्रव्य और मसालों का व्यापार था, ऐसा प्रो० हीरेन साहब ने कहा है। प्राचीन रोम देश की स्त्रियाँ भारतीय रेशम और सुगन्ध द्रव्य को इतना पसन्द करती थीं कि सोने के दाम से उसे खरीदती थीं। प्लैनी साहब ने दु:ख प्रकाश किया है कि इस प्रकार से रोम के सकल प्रान्तों से भारतवर्ष में प्रतिवर्ष ४० लाख रुपया चला जाता था। इस प्रकार वाणिज्य के विषय में पाश्चात्य पण्डितों के प्रमाणों के अतिरिक्त हिन्दूशास्त्रीय प्राचीन और आधुनिक ग्रन्थों में भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में इस प्रकार आर्यवणिकगणों की समुद्रयात्रा में जो वर्णन है, सो पहले ही कहा गया है। याज्ञवल्क्य संहिता में एक स्थान पर लिखा है–

ये समुद्रगा वृद्रध्या धनं गृहीत्वा अधिकलाभार्थ प्राणधनविनाशशंका-स्थानं समुद्रं गच्छन्तिते विंशं शतकं मासि मासि द्रयुः ।

इसमें अधिक लाभ के लिये रुपया लेकर आर्य वणिकगण समुद्र यात्रा करते थे ऐसी सूचना की गई है। बृहत् संहिता में लिखा है–

स्वातौ प्रभूतवृष्टिर्दूतवणिङ् नाविकान् स्पृशत्यनयः ।
ऐन्द्राग्रेऽपि सुवृष्टिर्वणिजां च भयं विजानीयात् ।।
अथवा समुद्रतीरे कुशलागतरत्नपोतसम्बन्धे ।
धननिचुललीनजलचरसितखगशवलीकृतोपान्ते ।।

इसमें पहले श्लोक में स्वाति नक्षत्र के साथ वृष्टि का सम्बन्ध बताकर समुद्र यात्रा करने वाले आर्यवणिक्जनों को सावधान किया गया है और दूसरे श्लोक में समुद्रतीर पर जहाँ कि धनरत्न से भरे हुए जलयान के समूह विदेश से वाणिज्य करते हुए आते हैं, वहाँ स्नान

करने का माहात्म्य लिखा गया है। वायुपुराण मार्कण्डेयपुराण और भागवतपुराण में आर्यवणिक्‌गण के जलपथ से वाणिज्य करने के विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं। वाराहपुराण में गोकर्ण नामक एक वणिक् के विषय में लिखा है कि उसने वाणिज्य करने के लिये समुद्र में जाकर आंधी के द्वारा बड़ा ही कष्ट पाया था और वह डूबता हुआ बच गया था। उसी पुराण में और एक स्थान पर लिखा है–

पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता ।
समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः ।।
रत्नपरीक्षकैः सार्द्धमानयिष्ये बहूनि च ।
एवं निश्चित्य मनसा महासार्थपुरःसरः ।।
समुद्रयायिभिर्लोकैः संविदं सूच्य निर्गतः ।
शुकेन सह संप्राप्तो महान्तं लवणार्णवम् ।।
पोतारुढास्ततः सर्वै पोतवाहैरुपोषिता ।

इन श्लोकों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भारतीय वाणिक् लोग प्राचीनकाल में मुक्ता आदि रत्नों के प्राप्त करने के लिये रत्नपरीक्षक लोगों के साथ समुद्रस्थान में दूर दूर जाते थे। केवल जलयान में ही नहीं- अधिकन्तु स्थलपथ में भी– प्राचीन आर्य जाति ने समस्त पृथ्वी के साथ वाणिज्य सम्बन्ध स्थापन किया था। चीन, तुर्किस्तान, पारस्यदेश, वैविलोन, मिशर, ग्रीस, रोम आदि देशों के साथ आर्य्यजाति के स्थलवाणिज्य का भी सम्बन्ध था। प्रो० हीरेन ने कहा है कि पश्चिम एशिया के पामीरियान् लोगों के साथ हिन्दुओं का स्थलपथ में वाणिज्य था। इस पामीरा के पथ से हिन्दूगण रोम में यातायात करते थे। वहाँ से सीरिया के बन्दर में होकर अनेक पश्चिमी देशों के मार्ग बने हुए थे। स्थलपथ से वाणिज्य का दूसरा भी एक मार्ग बना हुआ था। यथा– हिमालय को पार कर अकस्‌स, वहाँ से कसयन् सागर और वहाँ से क्रमशः यूरोप के बाजारों में। इस प्रकार कई मार्गों से हिन्दू जाति का स्थलपथ से वाणिज्य चलता था।

यद्यपि आर्य्यजाति के प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों का बड़ा भारी हिस्सा लुप्त हो गया है और उसका केवल एक सहस्रांश इस समय मिलता है ऐसा कहने से अत्युक्ति नहीं होगी, तो भी जितने ग्रन्थ इस

समय मिलते हैं उनकी ही आलोचना से यह सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत् के विस्तारित ज्ञान लाभ करने में प्राचीन आर्य्यजाति ने ऐसी बड़ी योग्यता दिखाई हैं, जिसकी आजतक पृथ्वी की और कोई जाति कल्पना भी नहीं कर सकी है। आर्य्यजाति के सप्तदर्शन विज्ञान, आर्य्यजाति की मन वाणी से अगोचर, ईश्वरज्ञान की विलक्षणता, आर्य्यजाति का भगवत्सम्बन्धीय ब्रह्म, ईश और विराट रूपों का अनुभव, आर्य्यजाति की सगुण और निर्गुण उपासना पद्धति, आर्य्यजाति की अलौकिक योग साधन पद्धति, आर्य्यजाति, के कर्मविज्ञान का महत्व और आर्य्यजाति के मुक्तित्व आदि की बराबरी पृथ्वी की और कोई शिक्षित जाति न कर सकी है और न कर सकेगी। अतीन्द्रिय अधिदैव सूक्ष्म राज्य के विषय में आर्य्यजाति ने जो कुछ बड़ा भारी आविष्कार किया है उसको विश्वास करने तक की शक्ति अभी तक पृथ्वी की और किसी जाति में उत्पन्न नहीं हुई है। आर्य्यजाति के ऋषि देवता और पितरों के अस्तित्व और उनकी शक्ति का विज्ञान, आर्य्यजाति द्वारा आविष्कृत स्वाप्त ऊर्द्धलोक, सप्त अधोलोक, स्वर्गलोक, नरकलोक, पितृलोक, प्रेतलोक आदि विविध लोकों की विचित्रता, आर्य्यजाति का अवतारतत्त्व, आर्यजाति के गंभीर गवेषणापूर्ण तीर्थ और भगवत् शक्तिमय पीठ आदि की महिमा के समझने की शक्ति और आर्य्यजाति की देवता आदि से साक्षात्कार करने की शैली इत्यादि अनेक बातें विज्ञानशास्त्र (सायन्स) की ऐसी उन्नति के समय में भी पृथ्वी के नीचे दबे हुए खजाने की सी प्रतीत होती हैं।

अत: पूर्वापर समस्त इतिहास की पर्यालोचना तथा विचार के द्वारा निश्चय हुआ कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सकल विषयों में ही पूर्ण प्रकृतिमयी भारतमाता के पवित्र अङ्क में शोभायमान प्राचीन आर्यजाति सर्वतोमुखिनी उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

ऊपर जितने पश्चिमीय पण्डितों के प्रमाण आर्यजाति की सर्वाङ्गीण पूर्णता के विषय में दिये गये हैं पाठकगण के पढ़ने के सुविधार्थ उनके ग्रन्थों के नाम लिखे जाते हैं, यथा–

मोक्षमूलर– India What it can teach us, हीरेन– Historical Researches. मरे–History of India, टाड–

Rajasthan. जोर्नस् जार्ना–Theogony of the Hindus. एरियन–Indica. यूलियम्स्–Modern India and the Indians, वैरन हाम्बल्ट्–Hindu Mythology पोकक–India in Greece. हार्डि–Eastern Monarchism, स्कयार– Serpent Symbol. विलियम जोन्स–Asiatic Researches, मिस मैनिङ्ग–Ancient and Medi-aeval India. एलफिनस्टोन–History of India, मैक्स डङ्कार–History of Antiquity. मण्डार Treasury of History. वैरन डालवर्ग–Geographical Ephemerides. फर्गुसन–History of Indian and Eastern Architecture. वेवर–Indian Literature. विल्सन–Wilson's Works. विलियम हन्टार–Imperial Indian Gazetteer. मैफी–Hist, Indica. कौलमेन–Hindu Mythology. ए.सी. विल्सन–Hindu System of Music. मैकडोनेल History of Sanskrit Literature. मनियर विलियम–Indian Wisdom, वालेस–Edinburgh Review. मोक्षमूलर–Science of Language. वोप–Edinburgh Review. श्लेजेल–History of Literature. टेलर–Bournal of the royal Asiatic Society, डूवो–Bible in India, विल्सन–Mill's History of India. हार्बर्ट स्पेन्सर–Autoliography. राबर्टसन–Disquisition Concrning India, मेटकाफ–Report of the select committee of the House of Commone.

आर्य जाति के लक्षण आदि निवासस्थान तथा गौरव के विषय में वर्णन किया गया। अब नीचे इस जगत्पूज्य आर्यजाति के साथ अनार्य जाति की विशेषता बताई जाती है। पहले ही कहा गया है कि यास्क मुनि ने आर्यजाति का लक्षण वर्णन करते समय उसको 'ईश्वरपुत्र' कहा है। अनार्यजाति के साथ विशेषता के विषय में आर्यजाति का यही एक प्रधान लक्षण है। जिस जाति की जीवन-धारा पुण्यवाहिनी होकर अमृतसिन्धु की ओर नित्यगति से धावमान होती है, जिस जाति की समस्त चेष्टा आचार, नित्य नैमित्तिक-काम्य आदि समस्त कार्यों के मूल में अध्यात्मलक्ष्य ही रहता है, जो जाति खान पान से लेकर जीवन-संग्राम का सकल पुरुषार्थ ही पारलौकिक कल्याण और मुक्तिलाभ के

लिये किया करती है, गीताविज्ञान के अनुसार अग्नि में धुएँ की तरह समस्त कार्य दोषयुक्त होने पर भी अमृत की मधुर धारा से सिंचित होकर जिस जाति का समस्त कार्य निर्दोष और नि:श्रेयसप्रद हो जाता है वही जाति आर्यजाति है और जिस जाति के किसी कार्य के मूल में अध्यात्मलक्ष्य नहीं है, जो जाति मुक्ति को लक्ष्य करके कार्य नहीं करती किन्तु स्थूल शरीर के वैषयिक विलास के लिये ही कार्य करती है, स्थूल संसार की उन्नति में ही जिस जाति का पुरुषार्थ प्रारम्भ और समाप्त होता है, वही जाति हिन्दू शास्त्रों के अनुसार अनार्यजाति है। हिन्दू शास्त्रों में आर्य्यजाति और अनार्यजाति का जो भेद वर्णन किया गया है सो मनुष्यजाति के लिये किसी शारीरिक लक्षण के विचार से नहीं किया गया है। वेदसम्मत शास्त्रों में आर्य्यजाति और अनार्यजाति का भेद मनुष्यजाति के धार्मिक विचार और जीवन लक्ष्य के अनुसार किया गया है। इस कारण हिन्दू शास्त्र के "आर्य" शब्द और पाश्चात्य साहित्य के "एरियन" शब्द में आकाश पाताल का सा अन्तर है।

संसार में जीवन धारण कौन नहीं करता है। एक पशु भी प्रकृतिदत्त अन्न से परिपुष्ट होकर अपनी निर्दिष्ट आयु को बिताया करता है; परन्तु यथार्थ आर्य का जीवनधारण वही है जिसमें आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त होकर अपना और जगत् का परम कल्याण साधन हो। अन्यथा प्रकृति माता का अन्न ध्वंस करके विषय के मलिन प्रवाह में अपनी आत्मा को डाल कर जीवन बिताना अनार्यवत् जीवनधारण है। बाल्य जीवन सार्थक तभी है, जब बाल्यजीवन के सदाचरण और शिक्षा द्वारा यौवन जीवन धर्ममय और आत्मोन्नतिमय हो। यौवनजीवन सार्थक तभी है, जब यौवन जीवन के यथार्थ बिताने के फलरूप से वृद्धावस्था में आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो। वृद्धावस्था की सार्थकता तभी है, जब वार्द्धक्य की मुनि-वृत्ति के द्वारा पुनर्जन्म मधुरिमामय हो जाय। इहलोक की सार्थकता तभी है, जब इहलोक के धर्मपुरुषार्थ के द्वारा परलोक सुधर जाय। जन्म वही यथार्थ है, जिसके द्वारा पुनर्जन्म का निरोध होकर दु:खमय संसार में जन्ममरण का चक्र शान्त हो जाय। मृत्यु वही यथार्थ है, जिसके कारण अमृत के अतलसिंधु में स्नान करके पुनर्मत्यु का निरोध हो। जीवन का एक मुहूर्त्त या एक अवस्था यदि दूसरे मुहूर्त्त या

दूसरी अवस्था की उन्नति का कारण हो; तो वह मुहूर्त्त या वह अवस्था सार्थक है। अन्यथा सुखदुःखमय अनित्य संसार में कौन नहीं जीता मरता है? यही आर्यजातीय भाव के अनुसार जीवनयात्रा का विचार है। इससे विरुद्ध जो कुछ विचार हैं सो अनार्य विचार हैं। हम आर्य इसलिये हैं कि हम आध्यात्मिक धर्मयुक्त (Spiritual) हैं। हमारी जीवनगति स्थूल (Material) में प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक (Spiritual) में जा समाप्त होती है। हमारे लिये स्थूल लक्ष्य (Material end) नहीं है परन्तु आध्यात्मिक लक्ष्य (Spiritual end) है और स्थूल (Meterial) उसी लक्ष्य का साधक (Means to that end) है। हमारे पास स्थूल (Material) का कोई मूल्य नहीं है, यदि वह आध्यात्मिकता (Spiritual) को बाधा देवे और उसका सहायक न होवे। तात्पर्य यह है कि आर्य्यजाति की सब शारीरिक और मानसिक चेष्टा उसकी आत्मा की उन्नति के लिये है। यदि ऐहलौकिक उन्नति की उसमें कुछ इच्छा भी हो तो उसे भी आत्मा की उन्नति का सहायक होना चाहिए। हमारा ब्रह्मचर्य-आश्रम तभी यथार्थ में ब्रह्मचर्याश्रम होगा, जब उसके द्वारा गृहस्थाश्रम में धर्ममूलक यथार्थ प्रवृत्ति होगी, जब उसके द्वारा वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में पूर्ण निवृत्ति की सहायता हो। हमारा वानप्रस्थाश्रम तभी सार्थक होगा, जब उसके द्वारा सन्यास की सिद्धि हो। हमारा सन्यास आश्रम तभी सत्य सन्यास होगा, जब उसके द्वारा निःश्रेयस पदवी पर प्रतिष्ठा लाभ हो। अन्यथा ब्रह्मचारी बनकर कपटाचारी होना; गृहस्थ बनकर घोर विषयी होना; वानप्रस्थ होकर ऊपर का आडंबर मात्र बताना और सन्यासी होकर असंयमी और प्रच्छन्नविषयी होना अनार्य भाव है। हमारा होम यदि केवल स्थूल प्रकृति पर प्रभाव डालकर वायुशुद्धि मात्र करके शक्तिहीन हो जाय, तो इस प्रकार का होम आर्यों का होम नहीं कहा जा सकता। आर्यलक्षणयुक्त होम तभी होगा जब अग्निसमर्पित होम अग्निमुख देवताओं के साथ अधिदैव सम्बन्ध स्थापन करके अधिदैवशक्ति की प्रसन्नता तथा सम्वर्द्धना के द्वारा संसार में धन, धान्य, पशु, प्रजा, शक्ति, सुख और समृद्धि की वृद्धि करेगा। जैसा कि मनुजी ने कहा है–

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।।

अग्नि में समर्पित आहुति सूर्यात्मा को प्राप्त होती है और इस प्रकार समस्त दैवीशक्ति के मूलरूप सूर्यात्मा की तृप्ति होने से प्रसाद के फलरूप से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है। यही यथार्थ में आर्यहोम है। संसार में पेट भरने के लिये भोजन कौन नहीं करता है; परन्तु आर्यभोजन केवल उदर पूर्ति के लिये नहीं है, अधिकन्तु वैश्वानर को आहुति प्रदान द्वारा उनकी तृप्तिसाधन करने के लिये है। यदि आर्यजाति केवल जिह्वा की तृप्ति के लिये भोजन करे तो इस प्रकार का भोजन अनार्य भोजन होगा। आर्यजाति का भोजन स्थूल शरीर की रक्षा के लिये है और स्थूल शरीर की भी रक्षा केवल सूक्ष्मशरीर की रक्षा के द्वारा आत्मोद्धार करने के लिये है। श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है-

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंङ्क्ते स्तेन एव सः ।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।

यज्ञ द्वारा परितुष्ट होकर देवतागण धनादि भोग्य वस्तु प्रदान करेंगे; परन्तु उनके द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को उन्हें निवेदन न करके जो भोजन करता है वह चोर है। यज्ञावशिष्ट अन्न प्रसाद रूप से भोजन करने पर समस्त पाप से जीव निर्मुक्त होता है। केवल अपनी उदरपूर्ति के लिये भोजन करना पाप भोजन मात्र है। इस प्रकार सकल अन्न को भगवान् को समर्पण करके प्रसाद भोजन करना ही आर्यजातीय भोजन है; क्योंकि भोजन में प्रसादबुद्धि उत्पन्न होने से भोगबुद्धि नष्ट होती है और इस प्रकार भोजन के प्रति लोभ उत्पन्न न होने से भोग्यवस्तु के द्वारा बन्धन प्राप्त नहीं होता है और प्रसाद बुद्धि के फल से पापनाश, शान्ति और आत्मोन्नति होती है। आर्य्यजाति का भोजन इष्टदेव की सेवा के अर्थ निवेदित हो कर- अतिथि सेवा पोष्यवर्ग की सेवा आदि द्वारा पवित्र होकर- केवल शरीर रक्षा के लिये ग्रहण करने योग्य है। यही आर्य्यजाति का भोजन है। जिस भोजन में ये सब लक्षण न पाये जायँ वह अनार्य्य भोजन है। संसार में अर्थ-लालसापरायण होकर समस्त पुरुषार्थशक्ति को धनसम्पत्तिवृद्धि के लिये प्रयोग करके उसी को जीवन

का लक्ष्य बनाना, आर्यभावसुलभ लक्ष्य नहीं है; क्योंकि जहाँ पर स्थूल शरीर की रक्षा आत्मोन्नतिसाधन मात्र के लिये है, स्थूल वैषयिक तृप्ति के लिये नहीं है, वहाँ पर धन सम्पत्ति संग्रह जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। जिस जाति में पूज्यतम तथा श्रेष्ठतम पुरुष वे माने जाते हैं जिन्होंने गीतोक्त 'समलोष्टा श्मकाञ्चन' (पत्थर और सोने में सद्बुद्धि) भाव को प्राप्त किया है और जिनके सामने समस्त संसार की सम्पत्ति तुच्छ है। इस प्रकार त्याग की महिमा जिस जाति में सर्वोपरि गाई गई है उस जाति में अर्थप्रियता कब जातीय आदर्श हो सकती है? इसलिये आर्यजाति का अर्थोपार्जन विषयविलास के लिये नहीं है किन्तु शरीरयात्रा निर्वाह तथा परोपकार साधन के लिये है। इससे विपरीत आदर्श अनार्य जातीय है।

भाव की कैसी अपूर्व महिमा आर्यजातीय जीवन में प्राप्त होती है। आर्यजाति नीच से नीच कायर को भी भाव शुद्धि द्वारा धर्ममय और अमृतमय बना सकती है। भावजगत् की यह अपूर्वता पुण्यश्लोक आर्यजाति में ही प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र कहीं नहीं। काम जैसा प्रबल शत्रु, कामक्रिया जैसी पाशविक क्रिया, संसार में और क्या हो सकती है? परन्तु जिस कार्य के साथ सृष्टि विस्तार और प्राकृतिक प्रेरणा का सम्बन्ध है, उसे एकाएक त्याग करना जीवन के लिये असम्भव है। इसलिये जिस पाशविक कार्य को त्याग नहीं कर सकते हैं, उसमें से भावशुद्धि द्वारा पशुभाव का अंश नष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यही आर्यजातीय भावशुद्धि का लक्षण है। आर्य्यजाति का विवाह काम की तरंग में इन्द्रिय तथा चित्तवृत्ति को डाल कर पशुभाव प्राप्त करने के लिये नहीं है, किन्तु स्वाभाविक विषय-स्पृहा को नियमबद्ध करके धीरे धीरे उसे नष्ट करके निवृत्तिसेवी बनने के लिये है। आर्यजाति का गृहस्थाश्रम अनर्गल भोगविलास में लिप्त होने के लिये नहीं है, किन्तु प्रारब्धकर्मजनित भोग-संस्कार को निर्बीज करके संन्यासाश्रम की योग्यता प्राप्त करने के लिये है। आर्य्यजाति में पतिपत्नी सम्बन्ध काम का दास बनने के लिये नहीं है, किन्तु गर्भाधान संस्कार के अनुसार धर्मानुकूल काम के द्वारा संसार में धार्मिक पुत्र उत्पन्न करने के लिये है। यही आर्य्यजाति की अनार्य जाति से विशेषता है। इस प्रकार सकल

कार्यों में आध्यात्मिक भाव का पोषण करके आर्य्यजाति अपने जीवन को उपासनामय और ज्ञानमय बनाती है। उसकी सकल इंद्रियों की गति अध्यात्मसिन्धु की ओर और बुद्धिवृत्ति की गति ज्ञानार्णव की ओर हो जाती है। आर्य्यनेत्र गंगा यमुना की धाराओं में भगवान् की प्रेमधारणा का निरीक्षण करते हैं, हिमालय के विराट् शरीर में भगवान् की विराट् मूर्ति का दर्शन करते हैं, समुद्र के अनंत विस्तार तथा गंभीरता में भगवान् की अपार उदारता और अनादि अनंत शक्ति का परिदर्शन करते हैं। पुष्पों के अविश्रांत विकास में आनन्दकन्द भगवान् की आनन्द सत्ता देखना, वसन्तविलास तथा वर्षा के प्राकृतिक सौन्दर्य में चिदानन्द की लहरें निरीक्षण करना, तारागण शोभित गम्भीर अमानिशा के गगन में दिव्यज्योतिर्मय अक्षर-संग्रथित भगवद् भजनावली का निरीक्षण करना, आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त जगत् की नित्यगति को शान्तिमय सच्चिदानन्द समुद्र की ओर उपासना की अनन्त नदियों की गति के रूप से देखना और देखते देखते भावसिन्धु के उमड़ आने से भावमय विराट् भगवान् के अनन्तस्वरूप में सान्त देह, मन और प्राण को विलीन करके निःश्रेयस पद प्राप्त करना, आर्य्यनेत्रों का यथार्थ दर्शन और चरम परिणाम है। आर्य्यजाति के कर्ण कोलाहलमय संसार के अनन्तनाद में व्याकुल नहीं हो जाते हैं, किन्तु सकल नादों के मूल में ओंकार के अविच्छिन्न मधुर गम्भीर निनाद को सुनते हैं, जाह्नवी तथा यमुना के तरङ्गभङ्ग में श्रुतिमोहन कल कल गीत का आस्वादन करते हैं। प्रभात के विहङ्गगान में और भ्रमरों के गुन गुन गुञ्जन में भगवान् का स्तुतिगान सुनते हैं, यही आर्य्यकर्णों की विशेषता है। आँखों में दूरवीक्षण या अणुवीक्षण (दूरबीन या क्षुद्रबीन) यन्त्र का संयोग हो जाय, कर्णेन्द्रिय की शक्ति वैज्ञानिक यन्त्र के योग से वृद्धिगत हो जाय, परन्तु यदि आर्य्यनेत्र संसार के समस्त दृश्य की विलासकला में भगवल्लीला माधुरी का निरीक्षण न कर सकें या आर्यकर्ण दशदिशाओं में श्रीकृष्ण परमात्मा की मधुर वंश-ध्वनि न सुन सकें; तो भारतमाता के अङ्क में इस प्रकार आर्यगुणहीन सन्तान की उत्पत्ति ही वृथा भार मात्र है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। संसार के सकल भावों के मूल में भगवद्भाव का अनुभव करना ही आर्य मन की आर्यता है। संसार के सकल वेत्ताओं में ब्रह्मसत्ता की उपलब्धि करना ही

आर्यबुद्धि की चरितार्थता है। जब आर्यजाति अपनी जीवनगति को इस प्रकार आदर्श के अनुकूल बना सकती है, तभी वह स्पर्द्धा के साथ भगवान् शङ्कर से यह आत्म निवेदन कर सकती है–

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम् ।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो ।
यद् यत् कर्म करोति तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम् ।।

हे भगवन्! आप आत्मा हैं, जगदम्बा मति हैं, पंचप्राण सहचर हैं और शरीर गृह है। समस्त विषयोपभोग भोग के लिये नहीं किन्तु आपकी पूजा के लिये हैं। निद्रा तमोगुण का परिणामरूप नहीं है किन्तु समाधिरूप शान्ति में विश्राम और आनन्द भोगरूप है। इतस्ततः भ्रमण आपकी अनन्त मूर्ति का प्रदक्षिणारूप है। समस्त वाणी आपकी स्तुतिरूप हैं और समस्त कर्म विषय विलासमय संसार में भोग-प्रवृत्ति के लिये नहीं हैं किन्तु आपकी आराधनारूप है। इस प्रकार समस्त कार्य, समस्त चेष्टाएँ और समस्त चित्तवृत्तियां जब भगवत् कार्य तथा भगवद्भाव में ही भावित हो जाती हैं, तभी आर्यजीवन उपासनामय होकर आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा में पहुँच सकता है। यही कल्याणवाहिनी आर्यजीवनतरंगिणी की सच्चिदानन्द समुद्र की ओर अविराम गति है और यही अनार्यजाति से आर्यजाति की विशेषता का एक प्रधान लक्षण है।

अनार्यजाति से आर्यजाति की विशेषता का द्वितीय लक्षण आर्यजाति का सदाचार है। श्रुति, स्मृति और पुराणों में जितने प्रकार के सदाचार वर्णन किये गये हैं उनके मूल में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के उन्नतिकर वैज्ञानिक तत्त्व किस प्रकार भरे हुए हैं और उनके पूर्ण प्रतिपालन से शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति किस प्रकार से हो सकती है, इसका पूरा वर्णन अगले किसी अध्याय में किया जायगा। आर्य्यजातीय जीवन के प्रत्येक कार्य्य के साथ धर्म का अतिघनिष्ठ संबंध है। प्रथम धर्मरूप आचार का प्रतिपालन करने में ही आर्य्य का आर्य्यत्व है, इसमें सन्देह नहीं। बहि:प्रकृति अन्त:प्रकृति की धात्री है। बहि:प्रकृति में आर्यभाव न रहने से अन्त:प्रकृति में आर्य्यभाव नहीं रह सकता। बहि:प्रकृति को आर्य्यभावयुक्त रखने के लिये जो कुछ

प्रक्रिया और अनुष्ठान हैं, वे ही सदाचार कहलाते हैं। स्थूल दृश्यजगत् में सर्वत्र ही देखा जाता है कि एक जाति के साथ अन्य जाति की प्रत्यक्ष विशेषता आचार की विशेषता के द्वारा ही निर्णीत हुआ करती है। आचार की स्थिति के द्वारा ही एक जाति अन्य सब जातियों के बीच में अपनी पृथक् सत्ता को स्थिर रखने में समर्थ होती है। जो जाति अपने परम्परागत आचार का त्याग कर देती है अथवा अन्य जातीय आचारों को मान कर अपने जातीय आचारों के प्रति उपेक्षा करती है, वह जाति, धीरे धीरे अपनी स्वतन्त्रसत्ता को खोकर अन्य जाति, जिसका कि वह अनुसरण करती है, उसी में लय हो जाती है। पृथ्वी के इतिहास का स्वाध्याय करने से विदित होगा कि इसी प्रकार अनेक विजित जातियाँ अपने आचारों को छोड़ विजेता जाति के आचारों का पालन करती हुई अन्त में उसी में लय हो गई हैं; परन्तु आर्य्यजाति पर इतनी बार विदेशीय जातियों का आक्रमण होने पर भी आज तक जो यह जाति अपनी स्थिति को रखने में समर्थ हुई है इसमें आर्यजाति का सदाचार पालन ही मुख्य कारण है। आर्य्यजाति में आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता होने से स्थूल आचार की भी पूर्णता होनी स्वाभाविक है और इसलिये सदाचार पालन अनार्यजाति से आर्य्यजाति की विशेषता का एक लक्षण है।

अनार्यजाति की विशेषता का तृतीय लक्षण आर्यजाति का वर्ण और आश्रम धर्म है। आर्यजाति में वर्णधर्म और आश्रमधर्म का बन्धन नहीं रहे तो वह आर्यभावापन्न नहीं रह सकती। यह बात वर्णधर्म के अध्याय में पहले ही सिद्ध हो चुकी है कि आर्यजाति में प्राकृतिक पूर्णता होने से त्रिगुणानुसार चातुर्वर्ण्य की यथावत् स्थिति में रहना इसमें स्वाभाविक है। इसी स्वभावसिद्ध नियम के अनुसार अनादिकाल से यह जाति अपनी आर्यभाव-मूलक जातीयता को अटल रखने में समर्थ हुई है और आज भी इतने दुर्दिन के समय चातुर्वर्ण्य की बीजरक्षा द्वारा सनातन आर्यत्व की बीजरक्षा कर रही है। जातितत्व के विज्ञानों पर संयम और धीर विचार करने वाले लोग अवश्य ही कहेंगे कि प्राकृतिक वर्ण व्यवस्था के बिना कोई भी जाति बहुत वर्ष पर्यन्त पृथ्वी पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता के रखने में समर्थ नहीं हो सकती और दिन दिन अधोगति को प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है या अन्य किसी जाति में लय हो जाती

है। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार आर्यजाति भी यदि वर्णधर्म का पालन करना छोड़ दे तो वह भी आर्यभाव से च्युत होकर अनार्यभावापन्न हो जायगी, जिससे और भी अध:पतित होकर अन्त में नष्ट हो जायगी। यद्यपि त्रिगुणमयी प्रकृति की विलासस्थली भारतभूमि में पूर्णप्रकृतियुक्त आर्यजाति का पूर्ण नाश होना असम्भव तथा विज्ञानविरुद्ध है, क्योंकि यहाँ पर त्रिगुण का विकास स्वत: ही रहने से वर्णधर्म की बीजरक्षा प्रबल तमोगुण के काल में भी अवश्य ही होगी, तथापि वर्णव्यवस्था के बिगड़ जाने से आर्यजाति बहुत ही हीन दशा को प्राप्त हो जायगी और उसमें से अनेक मनुष्य अनार्य हो जायेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बात पहले ही मनुसंहिता और महाभारत के प्रमाण के साथ कही गई है कि क्रियालोप के कारण कितने ही आर्य्यसन्तान अनार्य बन कर पृथ्वी के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बस गये हैं। अब नीचे वर्णव्यवस्था के साथ आर्य्यजाति की सत्ता का क्या सम्बन्ध है सो बताया जाता है। समष्टि सृष्टि और व्यष्टि सृष्टि का विचार करते हुए वर्णाश्रमधर्म के अध्याय में पहले ही कहा गया है कि दोनों सृष्टि की प्रवृत्ति निम्नगामिनी है। समष्टि सृष्टि की प्रवृत्ति निम्नगामिनी होने से प्रथम सत्ययुग और तदनन्तर त्रेता, द्वापर तथा कलियुग होते हैं और उसी के अनुसार समष्टि सृष्टि में पहले सनकादि पूर्ण पुरुष और केवल ब्राह्मण उत्पन्न होकर पश्चात् अन्यान्य जातियाँ उत्पन्न होती हैं। सृष्टि की धारा अधोमुखिनी होने से नीच प्रारब्धयुक्त जीव क्रमश: उत्पन्न होते रहते हैं। इसी तरह व्यष्टि-सृष्टि में भी प्रकृति के अधीन होने के कारण उद्भिज से लेकर पशुयोनि पर्य्यन्त जीव क्रमोन्नति प्राप्त करता है और मनुष्य योनि में स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही उसकी वह उन्नति रुक जाती है और उसकी प्रवृत्ति इन्द्रिय की तरफ होने से पुन: नीचे की ओर होने लगती है। वर्णधर्म समष्टि सृष्टि और व्यष्टिसृष्टि की इन्हीं दोनों निम्नगामिनी प्रवृत्तियों को रोकता है। इसीलिये–

''प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्म:''

वर्णधर्म प्रवृत्ति का रोधक है ऐसा कर्ममीमांसा में सिद्धान्त किया गया है। वर्णव्यवस्था के द्वारा सृष्टि की अधोमुखिनी दोनों प्रवृत्तियाँ रुक कर उनकी उर्द्ध्वगति बनी रहती है। जिस प्रकार कौशल के साथ बाँध बाँध कर फैलने वाली नदी का प्रवाह रोका जाता है, उसी प्रकार

चातुतर्वर्ण्यरूपी बांध के द्वारा जीव की पाशविक प्रवृत्ति रोकी जाती है। पहले ही कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में यद्यपि सभी ब्राह्मण थे और सत्त्वगुण का भी पूर्ण विकास था, तथापि कालान्तर में सृष्टि की धारा नीचे की ओर चलने के कारण जब रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से जीव की गति पाप की ओर होने लगी, तब उस पापगति को रोकना भी परम कर्तव्य हो गया। यदि सृष्टि की वह पापमयी नीचे की ओर चलने वाली धारा न रोकी जाती तो सभी जीव पापी बन कर अपने आर्य्यगुण से भ्रष्ट हो अनार्य्य बन जाते और भारतवर्ष की यह सनातन मर्यादा नष्ट हो जाती। इसलिये सृष्टि की उस विषम धारा को रोक कर जीवन की क्रमोन्नति को बाधारहित करने के लिये श्रीभगवान् मनुजी ने चार वर्ण रूप बन्ध बांध दिये। मनुजी ने किस प्रकार मनुष्यों की स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रकृति को देख कर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था उस समय की थी। यह वर्णव्यवस्था के अध्याय में स्पष्ट रूप से बताया गया है। इन सब विचारों से यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि जब समष्टि सृष्टि की धारा स्वभावत: ही नीचे की ओर है और वर्णव्यवस्था के द्वारा उसमें रुकावट हो जाती है, तो जिस जाति में वर्णव्यवस्था न होगी वह जाति क्रमश: प्रकृति की निम्नगामिनी धारा में पड़कर अधोगति को प्राप्त हो जायगी और अन्त में अधोगति की पराकाष्ठा होने से वह जाति नाश को प्राप्त हो जायगी अथवा और किसी उन्नत जाति में लय हो जायगी। पृथ्वी के इतिहास का अध्ययन करने पर वर्णधर्म विहीन कई एक जातियों का परिणाम दृष्टिगोचर होता है। जिस समय प्राचीन रोम के नाश का समय आया था, उस समय रोम में भी भीषण पाप का प्रवाह बहने लग गया था; जिससे रोम अधोगति की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर नष्ट हो गया। इसी प्रकार ग्रीस, मिश्र और ब्रिटेन की कई एक जातियों का परिणाम पृथ्वी के इतिहास में स्पष्ट है। ऐतिहासिक विद्वान्‌गण पृथ्वी के इतिहास का अध्ययन कर एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि सिवाय वर्णाश्रमधर्म युक्त आर्य्यजाति के और कोई भी प्राचीन जाति इस समय अपने स्वरूप में जीवित नहीं है। रोम, ग्रीस, मिशर आदि अनेक प्राचीन जातियों के नाम इतिहास में मिलते हैं परन्तु उन जातियों के अस्तित्व का साक्षी देने वाला एक भी व्यक्ति इस समय विद्यमान नहीं है। दूसरी ओर वर्णधर्म

माननने वाली आर्यजाति अब भी अपने स्वरूप में विद्यमान है। अत: ऊपर कथित सिद्धान्त से निश्चय होता है कि वर्णव्यवस्था के प्रवृत्ति रोधक बन्ध के बिना संसार में कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती, किन्तु प्रवृत्ति के प्रवाह में बह कर अपनी जातीयता को कालसमुद्र में डुबा देती है। व्यष्टि सृष्टि में उद्भिज से लेकर पशुयोनि पर्यन्त जीव की क्रमोन्नति बाधारहित होने पर भी, जब मनुष्य योनि में आकर जीव की गति इन्द्रियासक्ति बढ़ जाने के कारण पुन: नीचे की ओर होने लगती है, तब वर्णव्यवस्था का बन्धन ही जीव की इस अवनति की सम्भावना को रोक कर उसे प्राकृतिक उन्नतिशील प्रवाह में डाल कर धीरे धीरे शूद्रयोनि से ब्राह्मणयोनि तक पहुँचाता है और अन्त में सत्वगुण की पूर्णता के द्वारा नि:श्रेयस (मुक्ति) पदवी पर उसको प्रतिष्ठित करता है। यदि वर्णव्यवस्था का प्रवृत्तिरोधक बन्ध न होता तो मनुष्ययोनि में आकर जीव पुन: नीचे की ओर जाने लगता। उसकी उन्नति न होकर उसे पुन: पश्वादि योनियों की प्राप्ति होती, जीव मनुष्यत्व पद से गिर कर पशु आदि मूढ़ योनि को प्राप्त करता। अत: सिद्धान्त हुआ कि समष्टिसृष्टि की तरह व्यष्टि सृष्टि में भी वर्णव्यवस्था के न होने से कोई मनुष्य जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती और निवृत्ति की तो बात ही क्या? जिस जाति में वर्णव्यवस्थ नहीं है, उस जाति में प्रवृत्ति के रोकने का कोई भी उपाय न होने से जीवन प्रवृत्तिमय हो जाता है। उस जाति की आध्यात्मिक उन्नति और मुक्ति ही नहीं किन्तु स्थूल शरीर का भोगमात्र ही लक्ष्य हो जाता है जिससे वह जाति आर्य्यत्व के लक्षण से च्युत होकर अनार्य हो जाती है। इसलिये अनार्य्य से आर्य्य जाति की विशेषता के जितने लक्षण हैं उनमें से वर्णव्यवस्था भी एक लक्षण है। वर्णव्यवस्था के न रहने से प्रत्येक जाति आध्यात्मिक अवनति को प्राप्त करके पशु की तरह बन तो जायगी ही अधिकन्तु और भी गम्भीर विचार करने पर यही सिद्धान्त निकलेगा कि वर्णव्यवस्था के न रहने से कोई भी जाति संसार में बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहेगी। अब नीचे इस सिद्धान्त का कारण बताया जाता है।

प्रकृति के राज्य में प्रत्येक वस्तु की स्थिति तभी तक रह सकती है जब तक व्यापक प्रकृति के साथ उस वस्तु का सम सम्बन्ध हो। जिस

वस्तु के साथ व्यापक प्रकृति का समसम्बन्ध नहीं, उल्टा विषम सम्बन्ध है, वह वस्तु बहुत दिनों तक प्रकृति के राज्य में रह नहीं सकती। उसका या तो समूल नाश हो जाता है या किसी सम प्रकृतियुक्त वस्तु में लय हो जाती है। व्यापक प्रकृति की यह एक अकाट्य और नित्य स्थिर नीति है। उसी नीति के अनुसार विचार करने से यही सिद्धान्त होगा कि उद्भिज से लेकर मनुष्य पर्यन्त समस्त जातियों में समप्रकृतिक जाति ही जीवित रहेगी, विषमप्रकृतिक जाति कुछ दिनों के बाद नष्ट हो जायगी या किसी समप्रकृतिक जाति में मिल जायगी। दृष्टान्तरूप में समझ सकते हैं कि घोड़े और गधे के सम्बन्ध से जो एक अश्वतर (खच्चर) की जाति बनती है, उसकी प्रकृति का मेल न तो घोड़े से और न गधे से होने के कारण वह एक विषम प्रकृति की पशु जाति है। उसके साथ प्रकृति की समधारा का मेल नहीं है और इसलिये ऊपर कथित विज्ञान के अनुसार अश्वतर की जाति जीवित नहीं रह सकती। इस बात को सभी लोग जानते हैं कि अश्वतरी (खच्चरी) का वंश नहीं चलता। एक ही जन्म के बाद वह वंश लुप्त हो जाता है। यह सब प्राकृतिक विज्ञान के अनुसार विषम प्रकृति का होने का ही परिणाम है। पशु जाति की तरह उद्भिज तथा अण्डज जाति में भी यही प्राकृतिक नियम दृष्टिगोचर होता है। दो विभिन्न जाति के उद्भिज के सम्बन्ध से जो वृक्ष बनाया जाता है या दो विभिन्न जाति के पक्षियों के मेल से जो पक्षीजाति बनायी जाती है, उसका वंश आगे नहीं चलता। यह प्रकृति की विषम धारा में उत्पन्न होने का प्राकृतिक परिणाम है। इस दृष्टान्त और विज्ञान को मनुष्य जाति में घटाकर विचार करने से यही सिद्धान्त निकलेगा कि, दो विभिन्न वर्णों के मेल से जो वर्णसंकर जाति उत्पन्न होगी वह प्रकृति की समधारा में स्थित न होने के कारण बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकेगी किन्तु कुछ दिनों के बाद ही नष्ट या अन्य समधारावाली जाति में लय हो जायगी। आर्य्यजाति में वर्णव्यवस्था के टूट जाने से एक वर्ण के साथ वर्णान्तर के सम्बन्ध अवश्य ही होंगे, जिसके फल से अनेक वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न होंगी; परन्तु इस प्रकार वर्णसंकर जातियां प्रकृति की समधारा के विरुद्ध होने के कारण कुछ दिनों में ही नाश को प्राप्त हो जायेंगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। भारतवर्ष में जब से वर्णव्यवस्था शिथिल हो गयी

है, तब से कितनी ही वर्णसङ्कर जातियाँ इस प्रकार उत्पन्न होकर कुछ दिनों के बाद नष्ट हो गई हैं या अन्य किसी जाति में लय हो गई हैं। साधारण तौर पर देखा जाता है कि प्राय: उच्च जाति में वर्णसंकर पुरुष या स्त्री की सन्तान नहीं होती और ऐसे मनुष्य प्राय: निर्व्वंश हो जाते हैं। प्रकृति की विषमधारा का ही यह सब परिणाम है। अत: आर्य जाति में वर्णव्यवस्था के टूट जाने से केवल आर्यजाति अनार्य ही नहीं हो जायगी, अधिकन्तु व्यापक प्रकृति में अनेक विषमधाराओं की सृष्टि करके कुछ दिनों के बाद उसके अतलगर्भ में डूब जायगी। अत: सिद्धान्त हुआ कि आर्यजाति में वर्णव्यवस्था का रहना इस जाति के जीवित तथा आर्यभावयुक्त रहने के लिये परम हितकर है। इसी विचार को अन्यान्य जाति में घटाने से सिद्धान्त होगा कि वर्णव्यवस्था के बिना कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। अगष्ट कौमूटि ने गम्भीर अनुसंधान के द्वारा इसी सिद्धान्त को पहले प्रकट कर दिया है। मनुष्य के नीचे के जीवों में देखिये। वे जीव प्रकृति के तम:प्रधान राज्य में होने के कारण यद्यपि उनमें वर्णव्यवस्था की स्थिति स्पष्ट नहीं दिखाई देती, तथापि उनमें चातुर्वर्ण्य है; क्योंकि प्रकृति का कोई भी राज्य त्रिगुण से बाहर न होने के कारण त्रिगुण के अनुसार चार वर्णों की स्थिति सर्वत्र ही स्वाभाविक है। जब मनुष्येतर प्राणियों में भी चार वर्ण विद्यमान हैं, तो चाहे अनार्य ही क्यों न हो, सभी मनुष्यों में चार वर्ण अवश्य रहेंगे। केवल विशेषता इतनी ही है कि आर्य्यजाति में त्रिगुण का पूर्ण विकास होने के कारण यहाँ पर कालप्रभाव से वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होने पर भी चातुर्वर्ण्य का बीजनाश कदापि नहीं होगा; परन्तु अन्यान्य जातियों में त्रिगुण का पूर्ण विकास न होने के कारण वहाँ पर वर्णव्यवस्था की पूर्ण स्थिति असम्भव होने से स्वत: ही वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होकर कुछ दिनों में वह जाति अवश्य ही समूलनाश को प्राप्त हो जायगी। यही वर्णव्यवस्था के साथ प्रत्येक जाति के अस्तित्व का सम्बन्ध है और अनार्यजाति से आर्यजाति की विशेषता में यही वर्णव्यवस्था की आवश्यकता का प्रमाण है।

मीमांसा शास्त्र के आचार्यों ने किसी मनुष्य जाति के चिरस्थायी होने के विषय में असवर्ण विवाह, स्वगोत्र विवाह और अयोग्यवयस्क विवाह इन तीनों को प्रधान बाधा के रुपमें वर्णन किया है। अपने अपने

वर्ण में विवाह न करके यदि असवर्ण विवाह का प्रचार किया जाय तो मनुष्य जाति किस प्रकार से लय को प्राप्त हो जाती है उसका प्रमाण हम ऊपर दे चुके हैं। स्वगोत्र विवाह से भी मनुष्य जाति नष्ट हो जाती है। इसके विषय में मीमांसा दर्शनशास्त्र की सम्मति यह है कि, पुरुष से वीर्य की धारा और स्त्री से रज की धारा ये दोनों अलग अलग तथा परस्पर बेमेल जब तक रहती हैं, तब तक दोनों की शक्ति यथावत् बनी रहती है। स्त्री यदि पुरुष का काम और पुरुष यदि स्त्री का कार्य्य करने लगे; स्त्री यदि पुरुष की प्रकृति और पुरुष यदि स्त्री की प्रकृति का अनुकरण करने लगे तो दोनों ही जैसे अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जाया करते हैं, ठीक उसी प्रकार किसी मनुष्य जाति में यदि वीर्य की धारा और रज की धारा एक दूसरे से बेमेल न रक्खी जायगी, तो दोनों धारायें दुर्बल होकर अन्त में उस मनुष्य जाति का नाश कर देती हैं। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर स्थित होकर आर्य्य महर्षियों ने स्वगोत्र कन्या के साथ विवाह करने का प्रबल निषेध किया है और स्वगोत्रा कन्या में गमन करने को मातृगमन के तुल्य वर्णन किया है। आर्य्यजाति में इसी कारण यह साधारण नियम है कि जिस गोत्र का पुरुष हो उसी गोत्र की कन्या के साथ उसका विवाह नहीं हो सकता; अर्थात् वीर्य की धारा को रज की धारा में मिलाना प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुसार अधर्म है। उसी शैली पर पुरुष से कन्या का वय: कम न होना भी आर्य्यजाति में धर्म विरुद्ध माना गया है। सृष्टिप्रवाह में पुरुष प्रधान और स्त्री अप्रधान है। यह विज्ञान नारीधर्म के अध्याय में भली भाँति दिखाया गया है। जब तक प्रकृति के स्वाभाविक नियम की रक्षा होगी, तब तक जीव जीवित रह सकते हैं। प्राकृतिक नियमों के साथ बलात्कार करने से और प्राकृतिक धर्म्म के विरुद्ध चलने से मनुष्य अल्पायु होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं। इसी से विवाह पद्धति में भी वय के विचार से पुरुष का प्राधान्य और स्त्री का गौणत्व रखा गया है। जिस मनुष्यजाति की विवाहरीति में पुरुष का अधिक वय होने और स्त्री के कम वय होने की आज्ञा रहेगी वही मनुष्यजाति प्रकृति के साधारण नियमों का पालन करने से अधिक काल जीवित रह सकेगी। इस प्रकार वैज्ञानिक रहस्यपूर्ण एवं जाति को दीर्घायु बनाने के उपयोगी सदाचारयुक्त नियम आर्य्यजाति में होने से आर्य्यजाति इतने काल से

जीवित है और यही सब सिद्धान्त अनार्य्य से आर्य्यजाति की विशेषता को सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार आश्रमधर्म भी अनार्य से आर्य की विशेषता का अन्यतम लक्षण है। कर्ममीमांसा दर्शन में लिखा है–

प्रवृत्ति रोधको वर्णधर्मः ।

निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः ।

उभयोपेताऽऽर्यजातिः ।

तद्विपरीताऽनार्याः ।

वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक है और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है। जो जाति वर्ण तथा आश्रम दोनों धर्मों से युक्त हो वही आर्यजाति है। इससे विपरीत अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म विहीन जाति अनार्यजाति है। जिस प्रकार प्रवृत्ति का निरोध करके मनुष्य को वर्णधर्म नीचे जाने से रोकता है, उसी प्रकार आश्रमधर्म भी निवृत्तिभाव को बढ़ाकर जीव को आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचाकर मुक्तिपद प्रदान करता है। पहिले ही आश्रमधर्म के अध्याय में कहा गया है कि ब्रह्मचर्याश्रम में संयम के साथ धर्ममूलक प्रवृत्ति की शिक्षा के अनन्तर गृहस्थाश्रम में भावशुद्धि-पूर्वक प्रवृत्ति के पालन से जब निवृत्ति का उदय होने लगता है, तब वानप्रस्थाश्रम में तपस्या के द्वारा शरीर और मन को शुद्ध करके निवृत्ति के अभ्यास की पूर्णता में निवृत्ति के चरम आश्रम सन्यास को मनुष्य प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार से पूर्ण निवृत्ति की प्राप्ति होने से जीव को निःश्रेयस लाभ होता है। जैसा कि उपनिषद् में लिखा है–

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः ।

सकाम कर्म, सन्तान या धन के द्वारा नहीं, किन्तु त्याग के द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जिस जाति में आश्रमधर्म का ठीक ठीक प्रतिपालन होता है, वह जाति स्वाभाविक प्रवृत्तिबाधा को दूर करके अवश्य ही निवृत्ति की पूर्णता में मुक्तिपद को प्राप्त कर सकती है; परन्तु जिस जाति में आश्रमधर्म का प्रचार नहीं है, वह जाति निवृत्तिभाव के पोषण न होने से दिन ब दिन प्रवृत्ति के अन्धकूप में डूबती जाती है नससे उसकी जातीयता का नाश, अधःपतन और अन्त में अस्तित्व क का नाश हो जाता है। जिस जाति में आश्रमधर्म्म नहीं है वह जाति

कभी आध्यात्मिक मार्ग में उन्नति नहीं कर सकती और न निवृत्तिमूलक आर्यभाव को ही कायम रखने में समर्थ हो सकती है। आश्रमधर्म के दुर्बल होने से आर्यजाति आज हीन दशा को प्राप्त हो रही है और इसमें से निवृत्ति का भाव दूर होकर इसमें दिन प्रतिदिन विलासबुद्धि और पाशविक भाव बढ़ रहा है। आश्रमधर्म के नष्ट होने से यह जाति अपनी आर्यता से गिर कर अनार्य बन जायगी। अत: आर्यजाति की जातीयता की रक्षा के लिये आश्रमधर्म का प्रतिपालन करना आवश्यक है और यही अनार्यजाति से आर्यजाति की विशेषता का अन्यतम लक्षण है।

इसी प्रकार जिस जाति में पातिव्रत्य धर्म का पालन नहीं होता, वह जाति कभी अपने आर्यभाव को कायम रखने में समर्थ नहीं हो सकती और उसकी स्थिति भी संसार में बहुत काल तक नहीं होती। नारीधर्म के अध्याय में पहले ही कहा गया है कि जो जाति स्थूल शरीर के भोगविलासों को ही मुख्य मानती है और सूक्ष्म शरीर तथा आत्मा के आनन्द को गौण समझती है, उस जाति की स्त्रियों में एक पतिव्रत का पालन कभी नहीं हो सकता। उन्हें एक पति की मृत्यु होने पर पुरुषान्तर ग्रहण करना स्थूलशरीर के भोग विलास के लिये अवश्य ही प्रयोजनीय होता है। जहाँ पर जीवन का आदर्श इस प्रकार इन्द्रियपरायणता ही हो, वहाँ अन्त:करण की हीनता और उन्नत चरित्र का अभाव होना स्वत:सिद्ध है इसलिये इस प्रकार की जाति में पूर्ण पुरुष तथा आर्य-गुण-सम्पन्न पुरुष कदापि नहीं उत्पन्न हो सकते। जिस जाति के मातापिताओं में तथा पूर्वपुरुषों में जिस संस्कार का अभाव है उस जाति में उस संस्कार से सम्पन्न सन्तान कदापि नहीं उत्पन्न हो सकती। आर्य स्त्री ही जानती है कि पति के स्थूल शरीर का नाश होने पर उसकी आत्मा के साथ आध्यात्मिक आनन्द का भोग तथा सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है। आर्यमाता ही जानती है कि स्त्री का शरीर जब अपने भोगविलास के लिये नहीं किन्तु पतिदेवता की पूजा के लिये नैवेद्य रूप है, तो जिस प्रकार देवता के अन्तर्धान होने से नैवेद्य का कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार पतिदेवता के परलोकवास होने से इहलोक में स्त्री-शरीर रखने का कोई भी प्रयोजन नहीं रह जाता। इस लिये सहमृता होना और जीवित रहे तो केवल पति के कल्याणार्थ ही निवृत्तिधर्म का पालन करते

हुए जीवित रहना पतिप्राणा स्त्री के लिये परम धर्म है। जिस जाति में इस प्रकार का आदर्श उज्ज्वल है, वही जाति आत्मा के सुख के लिये स्थूल शरीर के सुख को त्याग कर सकती है और आत्मानन्द को ही सुख मान कर शरीर का व्यवहार संसार में उसी परमानन्द के लक्ष्य से कर सकती है। यही यथार्थ आर्यभाव है जैसा कि पहले वर्णन किया गया है। जिस जाति में दाम्पत्यप्रेम ऐसे उच्च आदर्श पर प्रतिष्ठित है उसी जाति में आर्यगुणसम्पन्न सन्तान उत्पन्न हो सकती है, अन्य जाति में कदापि नहीं हो सकती इसलिये यदि आर्यजाति में से पातिव्रत्यधर्म्म का सर्वोन्नत आदर्श नष्ट हो जायगा तो आर्यजाति अध:पतन को प्राप्त हो कर अनार्य हो जायगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। यही अनार्य्यजाति से आर्य्यजाति की विशेषता का एक प्रधानतम लक्षण है। पातिव्रत्यधर्म्म के नष्ट होने से न केवल अनार्यत्व प्राप्ति ही होगी अधिकन्तु जिस जाति में पातिव्रत्यधर्म नहीं है वह जाति संसार में कदापि चिरस्थायी नहीं हो सकेगी। संसार में भोग द्वारा वासना का क्षय कदापि नहीं होता। घृतपुष्ट अग्नि की तरह बढ़ती हुई वासना मनुष्य को प्रवृत्ति के अन्धकूप में ले जाती है। सतीधर्म त्याग तथा तपस्यामूलक है। उसके पालन से जाति में प्रवृत्ति की अनर्गलता रुक जाती है और आध्यात्मिक उन्नति की ओर वह जाति बढ़ सकती है। जहाँ पर प्रवृत्ति को नियमबद्ध करने का नियम नहीं है, वहाँ पर प्रवृत्ति भोगद्वारा क्रमश: बलवती होकर जाति को अधोगति प्राप्त करावेगी और इस प्रकार अधोगति की पराकाष्ठा अर्थात् प्रवृत्ति की पराकाष्ठा में प्राप्त होने से वह जाति नष्ट हो जायगी इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। अन्तत: पातिव्रत्यधर्म का नाश होने से कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। इसके सिवाय और भी एक कारण है जिससे सतीधर्महीन जाति जगत् में चिरस्थायी नहीं हो सकती।

नारीधर्म के अध्याय में पहले ही कहा गया है कि स्त्री-जाति प्रकृति की रूप होने से उसमें विद्या और अविद्या दोनों भावों का सन्निवेश रहता है। विद्याभाव के द्वारा स्त्रीपातिव्रत्य की पूर्णता से जगदम्बा बन सकती है और अपनी स्त्री-योनि से मुक्त हो सकती है; परन्तु तामसिक अविद्या भाव की वृद्धि होने से पतिव्रत्यधर्म का नाश होकर स्त्री पिशाचिनी बन जाती है और अविद्या के कराल ग्रास में पतित होकर

अनेक पुरुषों के संसर्ग से इन्द्रियवृत्ति की चरितार्थता और वर्णसङ्कर प्रजा की उत्पत्ति करती है। पहले ही कहा गया है कि पुरुष से स्त्री की विषय प्रवृत्ति अधिक बलवती होती है और उसमें भोगशक्ति भी असीम होती है। ऐसा होने से ही स्त्री के लिये त्यागमूलक तथा तपोमूलक पातिव्रत्यधर्म का उपदेश किया गया है जिससे स्त्री अपनी प्रवृत्ति को नियमित करके देवीभाग को प्राप्त करे और सुसन्तान उत्पन्न करके संसार को पवित्र करे। पातिव्रत्यधर्म के नष्ट होने से स्त्री की प्रवृत्ति नियमबद्ध न होकर अनर्गल हो जायगी। पुरुष की अपेक्षा उसकी भोगपरायणता अनन्तगुण बढ़ जायगी जिससे एक पति उसके लिये यथेष्ट नहीं होगा और वह अवश्य ही उपपति के सङ्ग से वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न करेगी।

जिस जाति में पातिव्रत्यधर्म का पूर्ण आदर्श है ही नहीं, वहाँ तो इस प्रकार वर्णसङ्करता फैलनी स्वाभाविक ही है। वर्णसङ्करता फैलने पर– जैसा कि पहले कहा गया है– सृष्टि की समधारा के बीच में अनेक विषमधाराएँ उत्पन्न हो जायेंगी, जिनका रहना प्राकृतिक नियम के सम्पूर्ण विपरीत होगा। अन्ततः इस प्रकार वर्णसङ्कर प्रजा की सृष्टि प्राकृतिक नियमानुसार शीघ्र ही नाश हो जायगी या अन्य किसी जाति में लय हो जायगी। अतः सिद्धान्त हुआ कि जिस जाति की स्त्रियों में सतीधर्म का आदर्श विद्यमान नहीं है, जिस जाति की स्त्रियाँ इस लोक और परलोक दोनों में ही पति के अस्तित्व को स्वीकार करके आजीवन एक पतिव्रत को धारण करना नहीं जानतीं, जिस जाति की विधवा स्त्रियाँ स्वभाव से ही सन्यासव्रत को धारण करके तपस्विनी बनना नहीं जानतीं और जिस जाति में यथार्थ पातिव्रत्य धर्म का पालन नहीं होता वह जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। आर्यजाति पातिव्रत्यधर्म के पालन द्वारा ही अपने अस्तित्व को और आर्य्यभाव को चिरस्थायी बना सकती है और यही अनार्यजाति से इसकी एक प्रधान विशेषता है।

पूर्वोक्त सब विचार समूहों का सारांश क्या है यदि यह सोचा जाय तो यही सिद्धान्त होगा कि जिस जाति में ज्ञान की पूर्णता का विकास होकर आत्मतत्त्वज्ञान की स्फूर्ति हुई है; अर्थात् जो मनुष्यजाति अपनी अध्यात्मशुद्धि द्वारा जगत् में तत्त्वज्ञान के विचार से जगद्गुरु है वही आर्य्यजाति है। जिस मनुष्यजाति में उस जाति की आधिभौतिक

शुद्धि सृष्टि के अनादिकाल से बनी हुई है; अर्थात् जिस मनुष्यजाति में उसके रज और वीर्य की शुद्धि सृष्टि के आदिकाल से ठीक ठीक बनी हुई है वही जाति हिन्दूशास्त्र के अनुसार आर्य्यजाति है और जिस मनुष्यजाति में दैवराज्य के ज्ञान और कर्मविज्ञान की पूर्णता होने से उसकी अधिदैव शुद्धि चिरस्थायी रहती है वही जाति वेदानुसार आर्य्यजाति कहलायेगी। आर्य्यजाति में इसी कारण धर्म का पूर्ण विकास हुआ है। धर्म्म का सार्व्वभौम और सर्व्वशक्तिमय पूर्ण स्वरूप इसी कारण इस आर्य्यजाति ने देखा है। इसी कारण आर्य्यजाति आचार को प्रथम और प्रधान धर्म्म करके मानती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञान से भरे हुए अद्वैत वाद के धर्म्म से लेकर स्थूल से अतिस्थूल आचार धर्म्म तक यह जाति मानती है इसी कारण यह आर्य्यजाति कहाती है। छोटे-छोटे विषय को भी पूर्ण रीति से देखने से ही दृष्टि-शक्ति की पूर्णता होगी। शरीर की स्थूल चेष्टा के साथ धर्म का सम्बन्ध मानने को ही आचार कहते हैं। आचारधर्म्म को यह जाति मानती है, यही अनार्य्यजाति से आर्य्यजाति की एक प्रधान विशेषता है।

यह बात पहले कही गई है कि कोई भी जाति केवल संख्यावृद्धि के द्वारा उन्नति नहीं कर सकती किन्तु अपनी जातीयता के विशेष विशेष भावों को पुष्ट करने से ही उन्नति कर सकती है। जाति की उन्नति वरीयता से होती है केवल संख्या बढ़ाने से नहीं। आर्य्यजाति में ऊपर लिखित जिन विशेष बातों के रहने से यह जाति संसार की अन्यान्य जातियों की अपेक्षा अपना अस्तित्व अटल रखने में समर्थ हो रही है, उन विशेष बातों को उड़ा देने से आर्यजाति उन्नति नहीं कर सकेगी, उन बातों को स्थायी रखने से ही उन्नति कर सकेगी। यह विशेषता ही जाति के अस्तित्व की रक्षक है। विशेषता के नष्ट होने से जाति का पृथक् अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और वह अन्यजाति में लय हो जाती है। अत: अनार्यजाति के साथ आर्यजाति की विशेषता के विषय में जितने लक्षण ऊपर बताये गये हैं उन लक्षणों के साथ आर्यजाति जब तक युक्त रहेगी, तभी तक संसार में इसका अस्तित्व स्थायी रहेगा और यह जाति दिन ब दिन उन्नति के उच्च शिखर पर आरोहण करेगी। चाहे किसी जाति पर कितनी ही आपत्ति आवे, यदि जातीयता के विशेष विशेष लक्षण स्थिर रहें तो वह जाति कदापि नष्ट नहीं हो सकती; अधिकन्तु समस्त बाधाओं

तथा विपत्तियों को झेल कर पुनः उन्नति कर सकती है; परन्तु यदि जातीयता के विशेष विशेष भाव ही नष्ट हो जायँ तो किसी जाति की व्यावहारिक उन्नति और संख्या वृद्धि चाहे जितनी क्यों न हो, वह जाति विशेषता से भ्रष्ट होने के कारण अपने अस्तित्व को खोकर अन्य जाति बन जाती है और इस दशा में उसकी उन्नति किसी काम की नहीं होती। जातीयता ही जाति का प्राणरूप है। उसी प्राणशक्ति के नष्ट होने से जाति निर्जीव तथा मृत हो जाती है और इस मृत अवस्था में उसकी कोई भी उन्नति यथार्थ उन्नति कहलाने योग्य नहीं होती।

यह पहले ही हम वेद और शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा दिखा चुके हैं कि, जिस मनुष्य जाति में वर्ण तथा आश्रमधर्म विद्यमान हो, जिस जाति के प्रत्येक कार्य्य, भाव और चिन्तन में अध्यात्मलक्ष्य सर्वप्रधान स्थान प्राप्त करता हो, जिस जाति में आचारधर्म का पालन करना सर्व प्रधान कर्तव्य समझा गया हो और जिस जाति की नारियों में सती धर्म का आदर्श विद्यमान हो वही आर्यजाति कहलाती है और जिस जाति में ये सब धर्म लक्षण नहीं मिलते, वही अनार्यजाति कही जायगी। वस्तुतः केवल बहिरङ्ग मुखनासिका आदि के लक्षणों को देखकर आर्य और अनार्य जाति का निश्चय करना सनातनधर्म विज्ञान द्वारा स्वीकृत नहीं हो सकता। जिस जाति में रज और वीर्य की शुद्धि को प्रधान मान कर जन्म, कर्म और ज्ञान के विचार द्वारा वर्णधर्म की शृङ्खला जारी है, वही आर्यजाति कहलायेगी। जिस जाति में यह शृंखला प्रचलित नहीं है, वह जाति सनातनधर्म के अनुसार अनार्य जाति कहलायेगी। जिस जाति के विद्यार्थीगण ब्रह्मचर्यव्रतधारण पूर्वक आत्मा की उन्नति को प्रधान लक्ष्य रख कर विद्याभ्यास में प्रवृत्त रहेंगे और अपने विद्यादाता आचार्य को परम देवता समझ कर अति भक्ति से उनकी सेवा में तत्पर रहेंगे वही आर्यजाति है। जिस जाति के विद्यार्थीयों में इन लक्षणों का एक बार ही अभाव हो जायगा वह जाति सनातनधर्म के सिद्धान्तानुसार अनार्य कहलायेगी। जिस जाति में मनुष्यगण स्त्रीसंसर्ग, धनसंग्रह आदि प्रवृत्तिदायक विषय, विषयभोग-वासना-निवृत्ति के लिये ही ग्रहण करेंगे, जिस जाति के दम्पति इन्द्रिय दमन के लिये ही इन्द्रियभोग शास्त्रनियमानुकूल करेंगे, वही जाति आर्यजाति कहलायेगी और जिस जाति में यह लक्षण नहीं पाये जायेंगे, वही जाति सनातनधर्म विज्ञान के अनुसार अनार्य जाति कहलायेगी। जिस जाति के मनुष्य अपने जीवन

को केवल प्रवृत्ति भोग के लिये ही न समझ कर निवृत्ति को ही जीवन का लक्ष्य समझते हुए अपने इस जीवन के नियत समय से प्रवृत्ति निश्चयपूर्वक सम्बन्ध के त्याग के लिये प्रस्तुत होंगे और अन्त में पूर्णरूप से निवृत्तिधर्म के अधिकार का दावा रखेंगे वही आर्यजाति कहलायेगी और जिस मनुष्यजाति में ये सब लक्षण नहीं पाये जाते; सनातनधर्म के अनुसार वह अनार्यजाति कहलायेगी। जिस मनुष्यजाति के उठने बैठने में, चलने फिरने की सब चेष्टाओं में, भाव तथा चिन्ताओं में, भोजन और आच्छादन में, अपिच सब शारीरिक तथा मानसिक कर्मों में, केवल आत्मसाक्षात्कार-प्राप्तिकारी आध्यात्मिक लक्ष्य ही प्रधान समझा जाता है, वही जाति हिन्दूशास्त्र के अनुसार मनुष्यसमाज में आर्यजाति कहलायेगी और जिस जाति में ये लक्षण विद्यमान नहीं हैं, वैदिक दर्शन-सिद्धान्त के अनुसार वह जाति अनार्यजाति कहलायेगी। जिस मनुष्यजाति में धर्म की सूक्ष्मता का रहस्य इतना समझा गया हो कि, सब प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं के साथ धर्म का सम्बन्ध है और आचार भी धर्म है, वही जाति वैदिक सिद्धान्त के अनुसार आर्यजाति कहलायेगी और जिस जाति में आचार के साथ धार्मिक कर्तव्य का कोई भी सम्बन्ध न माना जाय, सनातनधर्म सिद्धान्त के अनुसार वही जाति अनार्यजाति कहलायेगी। जिस मनुष्य जाति में सतीधर्म का आदर्श विद्यमान हो, जिस जाति की नारियों में मन से भी द्वितीय पुरुष के संग को पाप करके माना गया हो और जिस जाति की कुलाङ्गनायें इहलोक और परलोक दोनों में समानरूप से पति के अनुगमन को ही परधर्म मानती हों, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कही जायगी और जिस मनुष्यजाति में त्रिलोक-पवित्रकर इस प्रकार के सतीधर्म का आदर्श विद्यमान न हो, सनातनधर्म के सिद्धान्तानुसार वह जाति अनार्य जाति कही जायेगी। सब विज्ञान का सारांश यह है कि, वैदिक दर्शनशास्त्र के अनुसार आर्यजाति और अनार्यजाति का भेद मनुष्य के बहिर्लक्षणों से नहीं निश्चय किया गया है। वैदिक शास्त्रों में आर्य तथा आर्यजाति का विचार अन्तर्लक्षणों को देख कर निर्णय किया गया है, इस विषय को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

आजकल भारतवर्ष में कई ऐसी संस्थायें चल पड़ी हैं जिन्होंने आर्यजाति की उपर्य्युक्त मौलिक विशेषता को न समझ कर उसके उड़ाने में ही और अन्यजातियों को अपने में मिला कर केवल संख्यावृद्धि करने

में ही आर्यजाति की उन्नति समझ लीं है और उसी के अनुसार कार्य करके दिन ब दिन अनार्यजाति से आर्यजाति की ऊपर कथिक विशेषताओं को उड़ाने की वे चेष्टा कर रही हैं। इस प्रकार प्रयत्न सर्वथा भ्रान्तियुक्त और आर्यजाति को अनार्य बनाने की सम्भावना से युक्त है। आर्यजाति यदि आर्यभाव को दृढ़ रखकर थोड़ी संख्या में ही रह जाय तो कोई हानि नहीं, क्योंकि इससे आर्यजाति की बीजरक्षा हो जायगी और अनुकूल काल को प्राप्त करके वही बीज वृद्धि को प्राप्त होकर पुनः इस जाति की अपनी प्राचीन संख्या को प्राप्त कर सकेगी; किन्तु यदि नवीन अज्ञानमय सुधार के द्वारा आर्यजाति का बीज ही नष्ट हो जायगा, तो संख्या में चाहे कितनी ही वृद्धि क्यों न हो, जातीयता से भ्रष्ट होने के कारण वह संख्यावृद्धि किसी काम की नहीं होगी। आर्य अनार्य बन कर संख्या वृद्धि करें, हिन्दू अहिन्दू होकर संख्या में बढ़ जायँ तो इस प्रकार की संख्यावृद्धि से फल क्या है? यही अर्वाचीन समाज संस्कार और प्राचीन सनातन समाज संस्कार की विधि में भेद है। सनातन समाज संस्कार जातीयता की बीज रक्षा पर स्थित है और अर्वाचीन समाज संस्कार आर्यजाति के बीज को ही नष्ट करके केवल मनुष्यों की गिनती बढ़ाने पर निर्भर है। विचार करने पर सिद्धान्त होगा कि सनातन समाज संस्कार की विधि ही यथार्थ तथा दूरदर्शिता से पूर्ण है और इसी के द्वारा यथार्थ आर्यजाति पृथ्वी पर विराजमान रहेगी। अर्वाचीन समाज-संस्कार प्रथा से आर्यजाति अपने गौरवान्वित पद से गिर कर अन्यजाति बन जायेगी। अतः प्रत्येक समाज संस्कार की दृष्टि आर्यजाति की विशेषता पर आकृष्ट होनी चाहिये और उसी को दृढ़ रख कर सकल प्रकार का संस्कार कार्य होना चाहिये।

एक असल ब्राह्मण का बीज भारत में रह जाय तो पुनः आर्यजाति में हजारों सच्चे ब्राह्मण उत्पन्न हो सकते हैं; परन्तु हजारों अब्राह्मणों के रहने से आर्यजाति उन्नत न होगी। एक असल क्षत्रिय रह जाय तो पुनः आर्यजाति में प्राचीन क्षत्रिय तेज आ सकता है; परन्तु हजारों अयोग्य क्षत्रियभावहीन मनुष्यों से कुछ नहीं हो सकता। एक यथार्थ आर्यभावसम्पन्न परिवार रह जाय तो उससे आर्यजाति पुनः अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त हो सकती है; परन्तु हजारों अनार्य भावापन्न परिवारों से आर्यजाति ध्वंस ही हो जायगी। उन्नति नहीं करेगी। एक

सावित्री के रहने से हजारों सावित्रीमाता बन सकती हैं; परन्तु लाखों अविद्यामयी स्त्रियों के रहने से आर्यजाति रसातल को चली जायगी, उन्नति नहीं करेगी। एक सच्चे ब्रह्मचारी शुकदेव के सदृश रहने से हजारों शुकदेव बन सकेंगे; परन्तु हजारों व्यभिचारियों की संख्यावृद्धि से आर्यजाति उन्नति नहीं करेगी, किन्तु नाश को प्राप्त हो जायगी। एक भीष्म वा अर्ज्जुन के सदृश बीज रहने से हजारों भीष्म अर्ज्जुन बन सकेंगे; परन्तु हजारों कायर गीदड़ों के रहने से आर्यजाति उन्नति नहीं कर सकेगी। एक वशिष्ठ याज्ञवल्क्य व्यास सदृश ऋषि-बीज आर्यजाति में रह जाने से कालान्तर में अनेक निवृत्तिसेवी जगद्‌गुरु विद्वान् ब्राह्मण और सन्यासी पुनः पैदा होकर जगत् को ज्ञान ज्योति से आलोकित कर सकेंगे, नहीं तो वृथा नास्तिक और कदाचारी मनुष्यों की संख्या बढ़ाने से यह त्रिलोक पवित्रकर आर्यजाति नष्ट हो जायगी। इसी प्रकार जातीय बीजरक्षा की विधि के ऊपर आर्यजाति का संस्कार होना चाहिये। अन्यान्य जातियों से आर्यजाति की विशेषता के विषयों को दृढ़ करके उसी पर जातीय जीवन की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। तभी आर्यजाति का यथार्थ कल्याण होगा यह निश्चय है।

***

समाज और नेता

स्थूल संसार सूक्ष्मजगत् का विकासमात्र है। इस कारण जो पदार्थ और शक्तियाँ सूक्ष्मरूप से सूक्ष्म जगत् में हैं, वे ही पदार्थ और शक्तियाँ स्थूल संसार में भी विद्यमान हैं। जिस प्रकार से सूक्ष्मराज्य की सुरक्षा और सुव्यवस्था होती है, ठीक उसी रीति पर यदि स्थूल राज्य की सुरक्षा और सुव्यवस्था की जाय, तो उन्नति के मार्ग में बाधा होने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

त्रिगुणमय सर्वशक्तिमान् भगवान् के अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में से प्रत्येक ब्रह्माण्ड की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिये जिस प्रकार श्रीभगवान् के साक्षात् विभूतिरूप से ऋषिगण, देवगण और पितृगण विद्यमान रहकर यथायोग्य कर्तव्य साधन में तत्पर हैं, ठीक उसी शैली के अनुसार जब मनुष्य समाज की सुरक्षा और सुव्यवस्था का प्रयत्न हो तभी पूर्णरीत्या कल्याण हो सकता है। ऋषिगण सूक्ष्मराज्य में अवस्थित रहकर ब्रह्माण्ड के ज्ञान-सम्बन्धी अध्यात्मराज्य की सुरक्षा और सुव्यवस्था करते हैं। देवदेवीगण सूक्ष्मराज्य में अवस्थित रहकर ब्रह्माण्ड के अधिदैव कर्मराज्य की सुरक्षा और सुव्यवस्था किया करते हैं। पितृगण सूक्ष्मराज्य में अवस्थित रहकर ब्रह्माण्ड के आधिभौतिक स्थूल अङ्ग की सुरक्षा और सुव्यवस्था करते हैं। तीनों ही श्रीभगवान् की साक्षात् शक्ति को धारण करके अपने अपने कार्य विभागों को यथावत् चलाते हुए स्थावर जंगमात्मक स्थूल और सूक्ष्मलोकमय इस जगत् को नियमाधीन रखकर उन्नति के पथ पर चलाया करते हैं। इसी उदाहरण पर समाज और नेता के स्वरूप का अनुसन्धान करने योग्य है।

चतुर्दश भुवनों में जितने प्रकार के जीवों का वास है, उनमें से मनुष्य शरीरधारी जीव की महिमा शास्त्रकारों ने सबसे अधिक वर्णन की

है। यद्यपि मनुष्य से निम्नश्रेणी के जीव अनेक हैं, यथा– उद्भिज्ज योनि के जीव, स्वेदज योनि के जीव, अण्डजयोनि के जीव और जरायुज योनि के जीव; उसी प्रकार मनुष्ययोनि से उन्नति जीव भी अनेक हैं, यथा– किन्नर, गन्धर्व और उन्नत देवलोक के अनेक जीव इत्यादि। परन्तु मनुष्य इन ऊर्द्ध्व अध: दोनों प्रकार की जीवश्रेणी के मध्य में होने पर भी कर्म करने में विशेष स्वतन्त्र रहने के कारण मनुष्य की महिमा सर्वशास्त्रों से सिद्ध है। इसी कारण मनुष्य समाज की सुरक्षा और मनुष्य समाज की सुव्यवस्था तथा उनकी बिना रोकटोक के क्रमोन्नति होने के लिये पूर्व कथित सिद्धान्त के अनुसार उपाय का अवलम्बन करना ही सब प्रकार से सुविधाजनक है। ऐसी ही पूज्यपाद ऋषिमुनियों ने आज्ञा की है।

देश, काल और धर्म के भेद के अनुसार मनुष्यसमाज स्वतन्त्ररूप से गठित हुआ करता है और इन्हीं तीनों के महत्त्व के अनुसार मनुष्य समाज का महत्व भी प्रतिपादित होता है। जिस मनुष्य समाज की जन्मभूमि सब प्रकार की प्राकृतिक योग्यता से पूर्ण हो, जो मनुष्यसमाज अपेक्षाकृत बहुकाल स्थायी हो और जिस मनुष्यसमाज का धर्म अपेक्षाकृत बहुदर्शिता और धर्म के पूर्ण अङ्गों से युक्त हो, दूरदर्शी पण्डितों के निकट वही मनुष्य समाज से अधिक आदर पाने योग्य होगा और उसी मनुष्यसमाज की सुरक्षा और स्थायी क्रमोन्नति होना स्वत: सिद्ध है। ऐसे मनुष्यसमाज में सब प्रकार के योग्य सामाजिक नेता विद्यमान रहते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य उत्पत्ति, स्थिति और नाशवान् है परन्तु सदाचार और योगादि साधन द्वारा वह दीर्घायु हो सकता है, उसी प्रकार मनुष्य समाज नाशवान् होने पर भी दूरदर्शिता और अध्यात्मलक्ष्य आदि के द्वारा सुरक्षित होने से बहुकाल स्थायी रह सकता है। सदाचार पालन के द्वारा मनुष्य पूर्णायु प्राप्त कर सकता है और योगादि साधन द्वारा मनुष्य अति आयु प्राप्त कर सकता है। यह तो शास्त्र और लौकिक उदाहरण से भी स्वत: सिद्ध है कि, जो व्यक्ति आहार विहार का नियम ठीक ठीक रखते हैं, जो व्यक्ति शरीर और मन दोनों को पवित्र रख सकते हैं, जो व्यक्ति इन्द्रियादि संयम और भगवदुपासना करते हुए

धर्ममार्ग पर चलते रहते हैं और जो व्यक्ति असत् सङ्ग, असत् व्यवसाय और असत् चिन्ता से अपने को बचा कर अपने जीवन को नियमबद्ध रखते हैं, ऐसे सदाचारी अवश्य दीर्घायु हुआ करते हैं। दूसरी ओर महर्षियों के योग विज्ञान ने यह अच्छी तरह से सिद्ध कर दिखाया है कि योगी के निकट संचित क्रियमाण और प्रारब्ध, इन तीनों में से किसी का भी प्रभाव नहीं रहता। इससे योगदर्शन ने दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय, दो प्रकार ही कर्म माने हैं। यदि योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठों योगाङ्गों को पूर्ण रीति से आबद्ध कर सके तो ऐसा योगिराज अपने पुराने कर्मों में से चाहे जितने कर्मों को खेंच कर जितने दिन चाहे शरीर को स्थायी रख सकता है। (योग का विस्तारित विवरण आगे के कांडों में आवेगा) सुतरां पूर्वकथित वर्णन से यह सिद्ध हुआ कि, यदि मनुष्य सदाचारी हो, तो वह अवश्य पूर्णायु होगा और यदि मनुष्य योगिराज बन सके, तो वह अपनी आयु को बहुत कुछ बढ़ा सकता है; ठीक उसी रीति के अनुसार मनुष्य समाज भी दीर्घायु और बहुकाल-व्यापी आयु को प्राप्त कर सकता है। पूज्यपाद महर्षियों के विचार में मनुष्यसमाज की पूर्ण आयु चार युगों की समझी गई है, यथा– सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, और कलियुग। मनुष्य समाज का चार युगपर्यन्त जीवित रहना पूर्णायु समझा जा सकता है और अनेक युग युगान्तर तक जीवित रहना अति दीर्घायु समझा जा सकता है। आर्यजाति के सामाजिक दीर्घजीवन प्राप्ति के लिये पूज्यपाद महर्षियों ने दो प्रकार के अनुशासन बांध दिये हैं। एक वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था और दूसरा आर्यजाति के सामाजिक जीवन में सामाजिक नेताओं का सुप्रबन्ध।

किसी मनुष्यसमाज के सब प्रकार के नेता यदि योग्य बने रहें, तो वह मनुष्यसमाज अवश्य ही पूर्वकथित नियमानुसार दीर्घायु होगा और यह तो पूर्व अध्याय में भली भाँति सिद्ध कर दिखाया गया है कि, वर्णाश्रमधर्मों से युक्त आर्यजाति ही सृष्टि के आदि से अंत तक जीवित रह सकती है। उद्भिज से स्वेदज, स्वेदज से अण्डज, अण्डज से जरायुज, जरायुज से मनुष्ययोनि में जीव की क्रमोन्नति नियमित रूप से होने पर भी मनुष्ययोनि में जीव के पहुँचने पर उसकी स्वाभाविक गति

पुनः नीचे की ओर हो जाती है। अन्यान्य योनियों के जीव प्रकृति माता के नियमाधीन और पराधीन रहने के कारण उनकी क्रमोन्नति प्रकृतिमाता की कृपा से अवश्यम्भावी हुआ करती है; परन्तु मनुष्ययोनि में पहुँच कर जब जीव प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता हुआ स्वाधीन और स्वेच्छाचारी बन जाता है, तो उस दशा में उसकी स्वाभाविक गति पुनः नीचे की ओर हो जाती है। इस अवस्था में प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म किस प्रकार से मनुष्य की क्रमोन्नति के मार्ग को स्थिर करते हैं, सो पूर्व अध्यायों में भलीभाँति दिखाया गया है। सुतरां वर्ण और आश्रमधर्म की यथावत् सुव्यवस्था जिस मनुष्य जाति में जब तक बनी रहेगी, तब तक उस जाति की बीज रक्षा होगी और वह जाति सृष्टि के अन्त पर्यन्त जीवित रहकर बहुत आयु को प्राप्त कर सकेगी।

आर्यजाति के सदाचारों के अनुसार सामाजिक नेता तीन तरह के माने गये हैं। यथा– गृहपति, समाजपति और ब्राह्मण और सन्यासी। वेद और वेद सम्मत शास्त्रों के अनुसार हिन्दू परिवार एक छोटा सा राज्य है और गृहपति उस छोटे से राज्य का राजा होता है। अतः हिन्दू समाज की सुरक्षा और सुव्यवस्था प्रथम हिन्दू गृह से हिन्दू गृहपति के द्वारा प्राप्त होती है। हिन्दू गृहपति हिन्दू समाज में सबसे प्रथम आवश्यकीय नेता है। इस नेतृत्व में गृह ही राज्य और परिवार वर्ग प्रजा होने के कारण बाहर के शत्रुओं से राज्यरक्षा करने की अपेक्षा भीतर की शान्तिरक्षा का ही प्रयोजन अधिक रहता है। बाल बच्चों में कलह, परिवार के स्त्री-पुरुषों में अनबन और कलह आदि इसमें अशान्ति उत्पन्न करता है। गृहपति का कर्तव्य है कि, जिससे ऐसी अशान्ति का कारण ही न हो सके ऐसा प्रयत्न करें और यदि कदाचित् हो भी जाय तो जिससे वह अशान्ति शीघ्र ही नष्ट हो जाय और परिणाम में अशुभ फल उत्पन्न न करे ऐसा प्रयत्न गृहपति को अवश्य ही करना चाहिए। सामाजिक शांतिरक्षा का जो मूल सूत्र है, पारिवारिक शान्तिरक्षा का भी वही मूल सूत्र है। वह मूलसूत्र अकृत्रिम पक्षपातशून्यता है। जिस परिवार के गृहपति निष्पक्ष होकर परिवार में झगड़ा मिटा सकते हैं और दोषी का तिरस्कार तथा निर्दोषी को पुरस्कार दे सकते हैं, वे केवल अपने को और परिवार को शान्तिसुख दे सकते हैं। इतना ही नहीं अधिकन्तु परिवार के भीतर

धर्मबीज बोकर अपने जीवन को भी सफल कर सकते हैं। दया, विनय, महत्ता, कार्यतत्परता आदि समस्त सद्गुणों के मूल में ही न्यायपरायणता रहना आवश्यक है। परिवार में इस न्यायपरता का अभाव होने से समाज में भी इसका अभाव होगा, जिससे सत्यनिष्ठा और श्रद्धा का ह्रास होकर समाज भी हीनबल हो जायगा। अत: गृहपति का कर्त्तव्य है कि दया, क्षमा, दानशीलता आदि कोमल वृत्तियों को मिला कर दोनों का सामञ्जस्य करके अपने परिवार के साथ व्यवहार रखें, तभी गृहपति अपने छोटे से राज्य में असीम शान्ति का विस्तार कर सकेंगे।

एक एक ग्राम अथवा एक एक खंड समाज के अधिपति हिन्दू समाज की दूसरी श्रेणी के नेता हैं। अब भी ऐसे सामाजिक नेता बहुत से स्थानों में सरपञ्च के नाम से अभिहित होते हैं। अति प्राचीन काल से हिन्दू जाति में सामाजिक पंचायत की रीति प्रचलित है। ग्राम पञ्चायत, कई ग्रामों के समूह की पञ्चायत और प्रादेशिक पञ्चायत ऐसी कई प्रकार की पञ्चायतों की विधि हिन्दू समाज में अति प्राचीन काल से प्रचलित है। इसका प्रमाण अर्थशास्त्र और अनेक इतिहासों में भलीभाँति मिलता है। बौद्ध सम्राटों के समय भारतवर्ष में इस प्रकार की पंचायत उपस्थित थी और पंचायतों के नेता चुनाव की सार्वजनिक प्रथा के अनुसार निर्वाचित होते थे, इसका प्रमाण बौद्ध ग्रन्थों के अनेक स्थानों में मिलता है। तदनन्तर मुसलमान साम्राज्य के समय में भी यह पंचायत प्रथा बहुत ही दृढ़ता के साथ भारतवर्ष में प्रचलित थी, इसका प्रमाण उस समय के इतिहास के ग्रन्थों में पाया जाता है।

मुसलमान साम्राज्य के समय इस प्रकार की ग्राम नगर और प्रादेशिक पंचायती प्रथा इतनी सुदृढ़ थी कि मुसलमान राजपुरुषों ने अपनी स्वार्थपूर्ण राजकीय सफलता के विचार से अनेक बार उक्त प्रथा को नष्ट कर देने का बड़ा भारी यत्न किया था और यह तो इतिहास में भलीभाँति सिद्ध है कि जिस समय प्रबल पराक्रमी अफगान और मुगल सम्राटों ने बलपूर्वक हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म के स्थान पर मुसलमान सामाजिक व्यवस्था और मुसलमान धर्म को सारे भारतवर्ष में स्थापन करने का पूरा यत्न किया था, उस समय उनके सब प्रकार के प्रबल पुरुषार्थ विफल ही नहीं हुए थे किन्तु इसी सुदृढ़ सामाजिक सुव्यवस्था

के कारण ही विजयी मुसलमानगणों को हिन्दू आचार व्यवहार का पक्षपाती बनना पड़ा था। पूज्यपाद महर्षियों द्वारा प्रदर्शित सनातनधर्म के सदाचारों की दृढ़ता और सामाजिक अनुशासन व्यवस्था का ही कारण है कि अनेक शताब्दियों से यह आर्यजाति मर्दित होने पर भी इसके आन्तरिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं कर सका है। मुसलमान साम्राज्य के समय हिन्दू पंचायत व्यवस्था का प्रभाव विजयी मुसलमान राजपुरुषों पर इतना अधिक पड़ा था कि, उन्होंने अनेक बार इस प्रथा के पक्षपाती बनकर सामाजिक नेताओं पर अपना राजनैतिक प्रभाव जमाने के अर्थ उनको राजमान से अलंकृत किया था। मण्डल पति, सरपंच, चौधरी, सरदार, मलिक (बंगाली में मल्लिक बन गया है) आदि मुसलमान सम्राटों की दी हुई उपाधियाँ अभी तक जो भारतवर्ष के अनेक प्रदेशों में प्रचलित हैं, सो सब सामाजिक नेताओं की उपाधियाँ हैं।

सनातन धर्मोक्तवर्णाश्रम के सदाचारों के अनुसार जैसे गृहपति स्वाभाविक नेता है, वैसे ही वर्ण के गुरु ब्राह्मण और आश्रम के गुरु सन्यासी हिन्दू समाज के स्वाभावित नेता हैं। भेद इतना ही है कि गृहपति और समाजपति हिन्दू समाज के सदाचार रक्षक नेता हैं और ब्राह्मण और सन्यासी धर्म और आध्यात्मिक उन्नति कराने वाले नेता हैं। सनातनधर्म में आध्यात्मिक लक्ष्य को सबसे बड़ा स्थान दिया गया है इस कारण इन दोनों आध्यात्मिक नेताओं का अधिकार हिन्दुओं में सबसे बड़ा माना गया है। हिन्दू सदाचार के अनुसार हिन्दू समाज में ब्राह्मण स्वभावत: सर्वमान्य हैं। चाहे अन्य किसी वर्ण का मनुष्य हो, चाहे लोकपति राजा क्यों न हो, ब्राह्मण का सम्मान करना, ब्राह्मण को देखते ही प्रणाम करना, विद्वान् ब्राह्मण का परामर्श स्वीकार करना उसका धार्मिक कर्तव्य है। यद्यपि मूर्ख ब्राह्मण और ब्राह्मणवृत्तिहीन ब्राह्मण का परामर्श मानना अथवा श्राद्ध आदि में भोजन कराना शास्त्र में निषिद्ध है, परन्तु विद्वान्, वेदज्ञ और ज्ञानवान् ब्राह्मणों का देववत् आदर करने की आज्ञा शास्त्र के सब स्थानों में पाई जाती है। सनातनधर्म के शास्त्रों के अनेक स्थानों में ऐसी आज्ञा पाई जाती है कि, विद्वान् ब्राह्मणमण्डली धर्मसम्बन्ध में जो व्यवस्था दे, वह व्यवस्था वेद के समान माननीय है। जिस प्रकार वर्ण के गुरु ब्राह्मण हिन्दू समाज में स्वाभाविक रीति से हिन्दू-समाज के नेतृत्व

को प्राप्त किये हुए हैं, आध्यात्मिक कार्यों में, आध्यात्मिक उपदेश ग्रहण कराने में और आध्यात्मिक नेतृत्व के विचार से सब आश्रमों के गुरु सन्यासीगण भी अतिशय माननीय समझे गये हैं। यह एक सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है और आर्यजाति नामक प्रबन्ध के द्वारा पहले ही प्रतिपादन किया गया है कि पूर्ण प्रकृति की विकासभूमि भारतवर्ष ही है और इसीलिये सामाजिक पूर्णादर्श का विकास भारतवर्ष में ही हो सकता है। भारत के प्राचीन इतिहास पर पर्यालोचन करने से स्पष्ट मालूम होता है कि, वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रमगुरु सन्यासियों ने ही चिरकाल से इस समाज की रक्षा की है। जब तक हिन्दू समाज में महर्षि वशिष्ठ जैसे ब्राह्मण नेता होते थे, तबतक रामराज्य की शान्ति और उन्नति भारत में विद्यमान थी और जब तक भारतवर्ष में महर्षि याज्ञवल्क्य जैसे सन्यासी नेता हिन्दू समाज रूपी नाव के कर्णधार थे तब तक प्रबल विपत्तिरूपी आंधी के धक्के से भी हिन्दुस्तान नहीं हिला। आर्य्यजाति की अतिवृद्ध दशा में भी श्रीभगवान् शंकराचार्य जैसे सन्यासी ने भारतवर्षव्यापी हिन्दू समाज का पुनः संस्कार करके भारतवर्ष के चार कोनों में चार धर्मराजरूपी चार धर्माचार्यों को बैठा कर हिन्दू समाज को पुनः सुदृढ़ किया था। रत्नप्रसविनी भारतमाता है। इसलिये भारत के इस दुर्दशा के दिनों में भी भारत बीजशून्य नहीं है और इसी के फल से आज दिन सामाजिक जीवन में बाहर से इतना धक्का लगने पर भी भारत का सामाजिक जीवन अभी तक नष्ट नहीं हुआ है।

समाज मनुष्यों के सम्मिलन से उत्पन्न होता है इसलिये अन्तः सम्मिलन जितना दृढ़ होगा समाज उतना ही बलवान् होगा और उसकी क्रियाशक्ति भी उतनी ही बढ़ेगी। सम्मिलन बढ़ता है सहानुभूति की वृद्धि से, सम्मिलन बढ़ता है स्वार्थत्याग से, फलतः सम्मिलन बढ़ता है धर्म की वृद्धि से, अतः जिस समाज में धर्म की जितनी वृद्धि होगी उसमें समाज की सकल प्रकार उन्नति भी उतनी ही होगी। समाज की यथार्थ उन्नति केवल शिल्पादि की उन्नति से नहीं होती, केवल स्थूल जीवन की भोग्य वस्तुओं को सुलभ बनाने पर भी नहीं होती, धन की विशेष वृद्धि द्वारा भी नहीं होती, बाहरी साम्यभाव का विस्तार करने से भी नहीं होती और आत्मप्रशंसा करने पर भी नहीं होती है। जिस समाज में मनुष्योचित

आदर्श जितना उच्च है, उसके प्रति प्रीति, भक्ति और उसकी साधनचेष्टा जितनी अधिक है, वह समाज उतना ही धार्मिक और उन्नतिशील हुआ है इसमें सन्देह नहीं। महान् शोक का विषय है कि वर्त्तमान हिन्दू समाज में से उल्लिखित आदर्श दिन ब दिन लुप्त होता जाता है। हिन्दू धर्मसमाज से त्याग, विषयवैराग्य और सदाचार का प्रवाह घट कर उसमें दिन प्रतिदिन विषयतृष्णा का प्रबल वेग होता जाता है। वर्णाश्रम की मर्यादा इतनी शिथिल हो गई है कि यथार्थ वर्णधर्म और आश्रमधर्म का आदर्श जीवन कदाचित् बहुत ही अन्वेषण से दिखाई पड़ता है। साथ ही साथ नारीगण में पतिसेवा रूपी धर्म की न्यूनता होकर विलास बुद्धि हो चली है। आर्यनारीगण में पतिभक्ति का अभाव, आर्यपुरुषों में सत्यप्रियता का अभाव और आर्य बालक बालिकाओं में पितृ-मातृ-भक्ति और गुरुजनों में भक्ति का अभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही दिखाई देता है। अन्त:शुद्धि जो हिन्दू समाज का प्रधान लक्ष्य था उसका लोप होकर बाह्याडम्बर की ओर अधिक लक्ष्य पड़ने लगा है। परोपकार-प्रवृत्ति, स्वजाति-अनुराग, स्वदेशप्रेम, उत्साह, न्यायदृष्टि, सरलता, पवित्रता, एकता, आस्तिकता, शौर्य्य, पुरुषार्थशक्ति आदि मनुष्यजाति की उन्नत गुणावली का अभाव हिन्दू समाज में दिन ब दिन बढ़ता ही जाता है। गुणपरीक्षा की शक्ति समाज में से एक बार ही जाती रही है। समाज में यहाँ तक लघुता आ गई है कि जो महापुरुष देश, जाति तथा धर्म के लिये कदाचित् आत्मोत्सर्ग करते हैं, उन्हीं को लोग स्वार्थी, प्रवञ्चक और कपटी समझ कर उनके साथ दुर्व्यवहार करने में प्रवृत्त होते हैं और बाह्याडम्बरयुक्त स्वार्थी और कपटाचारी लोग ही समाज में धर्मसेवी माने जाते हैं। मुसलमान राज्य के समय अनेक प्रकार की असुविधा होने पर भी इस समाज में जो आर्यजनोचित रीति, नीति, धर्म, कर्म, शिल्प, वाणिज्य, वेष, भाषा और सदाचार आदि की प्रतिष्ठा थी, किन्तु आज ब्रिटिश राज्य में समाजोन्नति के विषय में सकल प्रकार की सुविधा रहने पर भी वह आर्यजनोचित रीति, नीति, धर्म, कर्म, सदाचार आदि लुप्तप्राय देखने में आ रहे हैं। इतिहासज्ञ पुरुष मात्र ही अनुसन्धान द्वारा जान सकते हैं कि आर्यजाति ही पृथ्वी की अन्यान्य सकल जातियों की आदि तथा शिक्षागुरु है। धर्म की उन्नति, वैज्ञानिक उन्नति, शिल्प की

उन्नति, संगीतविद्या की उन्नति, युद्ध विद्या की उन्नति, चिकित्सा विद्या की उन्नति, ज्योतिषविद्या की उन्नति, दार्शनिक उन्नति, समाज की उन्नति और भाषागत उन्नति आदि के विषय में हिन्दू समाज ही सबसे प्रथम पूर्णाधिकार को प्राप्त हुआ था और तदनन्तर उसकी ही ज्ञानप्रभा शिष्यपरम्परा द्वारा पृथ्वी भर में प्रकाशित हुई है। इन विषयों के अनेक प्रमाण और दृष्टान्त पूर्व प्रबन्ध में पहले ही दिये गये हैं। कराल काल की विकराल गति का पार नहीं। प्रायः दो सहस्र वर्ष पहले जो जाति पशुवत् थी अब वही जाति योग्यता प्राप्त करके अध:पतित आर्यजाति की शिक्षागुरु होने के लिये अग्रसर हो रही है और अति प्राचीन काल से जो जाति जगद्गुरु नाम से प्रसिद्ध थी, उसी आर्यजाति की वर्तमान हीनावस्था देख कर पृथ्वी की अन्य जातियाँ उपहासपूर्वक उँगली उठाने लगी हैं। अनुकरण-शून्यता और एकता के न होने से जातीय भाव की उन्नति नहीं हो सकती और बिना जातीय भाव की रक्षा के कोई जाति चिरकाल पर्यन्त जीवित नहीं रह सकती। स्वजातीय ऐक्य का अभाव और परजातीय अनुकरण की वृद्धि द्वारा आज दिन हिन्दू समाज बहुत ही हीनता को प्राप्त हो गया है। वेश और भाषा की तो इतनी दुर्दशा हो गई है कि हिन्दू समाज अपना जातीय वेष और अपनी मातृभाषा को छोड़ कर विजातीय वेष और भाषा के ग्रहण करने में अपने को सम्मानित समझने लगा है। विचार द्वारा यह अनुमान में आ सकता है कि नाना प्रकार से लांछित और पीड़ित होने पर भी मुसलमान साम्राज्य के समय इस हिन्दू समाज के सात्त्विक तेज की इतनी क्षति नहीं हुई थी जितनी इस समय में प्रतीत होती है। बुद्धिमान् ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के धर्म और समाज सम्बन्धीय उन्नति के विषय में हिन्दू समाज को सभी प्रकार की स्वाधीनता देने पर भी अपनी प्रमाद बुद्धि के कारण हिन्दू समाज दिन ब दिन अधिकतर हीन दशा को प्राप्त होता जाता है। अब इस समाज की न तो अपनी मातृभाषा की ओर दृष्टि है और न इसमें स्वदेशीय शिल्प की ही उन्नति दीख पड़ती है। वैदिक धर्म का यथार्थ स्वरूप और आर्य सदाचार का तो इतना लोप हुआ है कि, जिससे इस जाति में से धर्म और सदाचार के स्थूल चिन्ह तक लुप्त होने लगे हैं। अब हिन्दू समाज की यह अवस्था हुई है कि अपने समाज और जातिगत आचारों

को छोड़कर विरुद्ध आचारों को ग्रहण करने पर भी तथा अपने सदाचारों का नाश करके अन्य जाति का उच्छिष्ट भोजन करने पर भी अपनी जाति में प्राय: कोई निन्दनीय नहीं होते जिसके कारण सकल वर्णो में स्वेच्छाचार का प्रवाह दिन प्रतिदिन प्रबल होता चला जाता है। जाति और समाजगत उन्नति के लक्षण गुणपक्षपात, पुरुषार्थ और ज्ञान हैं। इस विज्ञान के अनुसार कहना होगा कि जातिगत अवनति के लक्षण दोषदर्शनप्रवृत्ति, आलस्य और अज्ञान हैं। हिन्दू समाज में यद्यपि प्राचीन काल में ऊपर लिखित उन्नति के लक्षण विद्यमान थे तथापि इस समय केवल अवनति के लक्षण ही देखने में आते हैं। फलत: जाति और समाजगत बन्धन की शिथिलता के कारण अब हिन्दूसमाज के मनुष्यों को न तो पिता माता और कुटुंब के लोगों की लज्जा का विचार है और न समाज में निंदनीय होने का ही कुछ भय है। अब सर्वत्र भीषण निरंकुशता, आचारहीनता और असच्चरित्रता फैल गई है। इस कारण हिन्दूसमाज दिन प्रतिदिन रसातल को जा रहा है। जिस आर्यजाति के लक्ष्य स्थिर कराने के अर्थ श्रीभगवान् ने स्वयं आज्ञा की है कि मैं ''पौरुषं नृषु'' अर्थात् पुरुषों में पुरुषार्थरूपी हूँ, जिस जाति में प्राचीन काल के निवृत्तिपथगामी वानप्रस्थ और सन्यासिगण तक केवल संसारहितकर कार्यों में प्रवृत्त रहकर एकमात्र पुरुषार्थ के अवलम्बन द्वारा कर्मयोगी हो अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह किया करते थे, उसी जाति में अब निवृत्तिसेवी सन्यासियों का तो कहना ही क्या है प्रवृत्ति मार्ग के अधिकारी गृहस्थगण तक आलस्य ग्रसित होकर उद्यमहीन हो गये हैं। तुरीयाश्रमी सन्यासी अपने आश्रमधर्म को भूलकर कामिनी काञ्चनासक्त हो रहे हैं। ब्राह्मणों में तप, संयम, जितेन्द्रियता और त्याग का नाश होकर धनलालसा, आलस्य लोभ, विषयभोगप्रवृत्ति तथा इन्द्रियपरायणता की वृद्धि हो रही है। क्षत्रियों में शौर्य का नाश होकर घोर कामासक्ति बढ़ रही है। वैश्यगण उद्यमहीन होकर निर्धन हो गये हैं और कृषि-गोरक्षा-वाणिज्यविमुख होकर दुर्दशाग्रस्त हो रहे हैं। शूद्रगण सेवाधर्म छोड़कर अनधिकार चर्चा में प्रवृत्त दिखाई देते हैं। संस्कृत विद्या के विद्वान्‌गण प्राय: आचारहीन और धर्मज्ञानविहीन हो रहे हैं और राजभाषा के ज्ञाता पुरुषगण शास्त्रश्रद्धा-विहीन, स्वेच्छाचारी और अनार्य

भावापन्न होते जाते हैं। कलियुग में दानधर्म प्रधान होने पर भी धनाढ्य पुरुषगण केवल नाम के लिये और राजसम्मानप्राप्ति के लिये ही प्राय: दान दिया करते हैं। सब ओर ही इस प्रकार के अपने विपरीत लक्षण दिखाई दे रहे हैं। जातीय पाप के फल से देशव्यापी कठिन महामारी, प्लेग आदि भीषण रोग उत्पन्न होकर प्रतिदिन हिन्दू प्रजा का क्षय और अधोगति करा रहे हैं। घोर सर्वनाशी दुर्भिक्ष ने सारे भारतवर्ष को ग्रास कर लिया है। समष्टि प्रजा की अधर्मप्रवृत्ति तथा दुर्गति के कारण पंचतत्त्वों में विकार होकर ऋतुविपर्यय आदि दोष तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि भूमिकम्प, उल्कापतन, धूमकेतूदय और स्थायी महामारी आदि राष्ट्रीय शान्ति नाशकारी अमङ्गल के लक्ष्य प्रकाशित हो रहे हैं। अतएव भारतवर्ष की इन सब आधिभौतिक विपत्तियों पर विचार करने से यही सिद्धान्त होगा कि हिन्दू समाज अब कर्मभ्रष्ट, धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट और शक्तिभ्रष्ट होकर अत्यन्त हीन दशा को प्राप्त हो गया है।

हिन्दू समाज की इस प्रकार हीन दशा का सुधार कैसे हो? सुधार के लिये सुधारक नेता चाहिए। यदि संसारचक्र के नेता सर्वशक्तिमान् परमात्मा न होते तो प्रकृति की यह मनोहर स्थिति कदापि नहीं रह सकती। यदि ज्ञान जगत् के नेता पूर्ण ज्ञानी नित्य ऋषिगण न होते तो संसार में ज्ञान की नित्य और नियमित स्थिति कदापि न बनी रहती। यदि दैवजगत् के नेता शक्तिमान् देवतागण न होते तो कर्मानुसार जीव की यथार्थगति कभी देखने में नहीं आती। यदि स्थूलजगत् के नेता नित्य पितृगण न होते तो धनधान्यपूर्ण पृथ्वी कदापि जगज्जनों के सन्मुख शोभायमान नहीं रहती। अत: किसी समष्टिकार्य की उन्नति के लिये योग्य और शक्तिमान् नेता अवश्य ही चाहिए। हिन्दू समाज की वर्तमान दीनदशा के सुधार के लिये भी हिन्दूजाति को योग्य नेता का अन्वेषण या प्रकटन अवश्य करना पड़ेगा। अब इस प्रकार के महात्मा नेता का आविर्भाव कैसे हो सकता है, इसके लिये कोई उपाय है कि नहीं यही हिन्दू समाज की वर्तमान चिन्ता का विषय है। चिन्ता करने पर सिद्धान्त होता है कि इस विषय में हिन्दू समाज के अवश्य कर्तव्य दो कार्य हैं, जिनके नियमित अनुष्ठान से हिन्दू समाज में योग्य नेता प्राप्त हो सकेंगे। प्रथमा– जब किसी शुभकार्य के साधन के लिये हम स्वयं

इच्छा करते हैं, तो उस समय यदि किसी दूसरे को वही अथवा उस प्रकार के कार्य में यत्नशील देखें तो अन्यान्य विषय में मतभेद होने पर भी उसके साथ हमें योगदान करना चाहिए। जगन्नाथ देव के रथ में एकचित्त होकर अनेक मनुष्य हाथ लगाते हैं तभी रथ चलता है। द्वितीयतः- प्रतिवेशी हो, परिचित हो अथवा प्रसिद्ध कोई भी स्वजातीय व्यक्ति हो जिसको हम सम्मान के वास्तविक योग्य हृदय से समझते हैं उसका अवश्य ही सम्मान करना चाहिए। हम जाति में हिन्दू हैं, हम अपने हाथ से मिट्टी उठाकर, उसे छानकर, प्रतिमा बना कर उसकी पूजा करने को और उससे वर प्रार्थना करने को अच्छी तरह जानते हैं। अतः अपनी जाति के स्वभाव के अनुसार प्रकृतिस्थ रहने से हम छोटे को बड़ा बना ले सकते हैं। बड़ा देखने और बड़ा बनाने की चेष्टा करते करते हमारे भाग्य से बड़े अवश्य ही उत्पन्न हो जायेंगे क्योंकि संसार इच्छाशक्ति का ही परिणामरूप है। जिस देश में ईर्ष्या, द्वेष और दोषदर्शिता का आधिक्य है, उस देश में यथार्थ महात्मा का आविर्भाव नहीं हो सकता और यदि होता भी है तो ऐसे महात्मा अल्पायु होते हैं क्योंकि जातीय गुणपूजावृत्ति की सम्मिलित शक्ति के द्वारा ही इस प्रकार विभूतियुक्त महात्माओं का जन्म होता है और उन्हें दीर्घायु प्राप्ति होती है। उसी प्रकार से जातीय दोषदर्शनप्रवृत्ति के फल से समाज और जाति में पूर्वोक्त विभूति का अभाव हो जाता है, ऐसे महात्मा उत्पन्न नहीं होते और कदाचित् होने पर भी अल्पायु हो जाते हैं। हिन्दू समाज की इस अधःपतित दशा में ईर्ष्या, द्वेष और दोषदर्शितारूपी दुष्प्रवृत्तियों की विशेष वृद्धि हुई है। हिन्दू जाति स्वदेशी तथा स्वजातीय किसी को महापुरुष रूप से देखना और जानना नहीं चाहती है। उनके विचार में अपनी जाति के सभी तीन कौड़ी के मनुष्य हैं। जैसा साधन, सिद्धि भी वैसी ही होती है। हम तीन कौड़ी के आदमी देखना चाहते हैं इसलिये हमारे भाग्य में तीन कौड़ी के ही आदमी मिलते हैं। हिन्दू समाज में से यह भीषण दोष जब तक नहीं दूर होगा तब तक हिन्दू जाति के भीतर महापुरुष का आविर्भाव नहीं हो सकेगा। फलतः अनुवर्ती (मानने वाले) लोगों के रहने से ही महात्मा पुरुष नेता या अग्रणी हो सकते हैं। स्वजातीय मनुष्यों की निन्दा करना, स्वजातीय मनुष्यों का दोषानुसन्धान करना और स्वजातियों का

अनुवर्तन न करना यही हिन्दू जाति का मर्म्म तथा मज्जागत महापाप है और हमारे समाज का वर्तमान अध:पतन और दुर्दशा इसी महापाप का अवश्यम्भावी फल तथा उसका प्रायश्चित्तरूप है। जब यह प्रायश्चित्त पूर्ण होगा तभी हम स्वदेशीय महात्माओं की गुणगरिमा को देख सकेंगे औ: तभी अर्थलोलुप, लघुचित्त, विषयविलासी तथा अनुदारप्रकृति अनार्य्यवृत्तिसम्पन्न जनों को सर्वगुणाधार नहीं समझेंगे और उनकी मनस्तुष्टि के लिये स्वदेशीय पूर्वाचार्यों का अपमान, स्वदेशीय रीति-नीति के प्रति घृणा और स्वजातीय लोगों की कुत्सा तथा निन्दाप्रचार करके अपनी जिह्वा और जीवन को कलङ्कित नहीं करेंगे।

भारतभूमि वास्तव में ही रत्नप्रसविनी है। यहाँ पर सदा ही यथार्थ में महान् बीजों का अंकुर निर्गत होता रहता है। यदि ऐसा न होता तो इतने नवीन नवीन सम्प्रदायों की उत्पत्ति कैसे होती? चाहे छोटे से छोटे ही हों, जिनमें एक एक सम्प्रदाय बनाने की शक्ति है, उनमें कुछ न कुछ माहात्म्य अवश्य ही है ऐसा समझना चाहिए; परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता कि जो कोई संस्कार या सुधारक नामधारी हो उसी का अनुवर्तन करना होगा। दूसरी ओर बिना सोचे अनुवर्तन करना भी अच्छा है तथापि किसी में शक्ति या गुण का लेशमात्र देखते ही असूया या ईर्ष्या करना उचित नहीं है; परन्तु जो महात्मा पुरुष हिन्दू समाज के यथार्थ नेता बनेंगे, उनमें निम्नलिखित लक्षण अवश्य होने चाहिएँ ऐसा पहले से ही स्मरण रखा जाय।

(१) वे परम धार्मिक, आध्यात्मिक, उन्नतिशील, त्यागी, परार्थपर और स्वजातीय जनों के हिताकांक्षी हों।

(२) वे समस्त हिन्दू जाति में परस्पर सम्मिलन के उपयोगी उपायों का ही आविष्कार करेंगे। अत: अधिकार भेद विज्ञान को अटूट रखते हुए भी समस्त सम्प्रदायों के प्रति पक्षपातशून्य हों।

(३) वे पूर्ववर्ती स्वदेशीय शिक्षादाता और नेताओं का कुछ भी अगौरव नहीं करेंगे; अधिकन्तु अपने उदारतर मतवाद के बीच में पूर्वाचार्यों से प्राप्त समस्त शिक्षासूत्रों का सन्निवेश करेंगे।

(४) वे सनातनधर्म की सर्वव्यापकता तथा पितृभाव को भलीभाँति प्रत्यक्ष करते हुए, आर्य और अनार्य के भेद को समझते हुए

और स्वयं विद्वान् होते हुए भी किसी उपधर्म, पन्थ अथवा मत और धर्म सम्प्रदाय के निन्दक वा विरोधी नहीं होंगे।

(५) वे वेदार्थ की गम्भीरता के साथ पुराणादि शास्त्रों तक में उसी गम्भीर ज्ञान के प्रतिबिम्ब देखते हुए, वैदिक सप्दर्शनों का भूमिज्ञान और विभिन्न अधिकारियों के अधिकारज्ञान में अतिविज्ञ होने पर भी धर्माधिकार में अति छोटे से छोटे अधिकारी का भी अनादर नहीं करेंगे।

(६) वे पारमार्थिक ज्ञान के साथ व्यवहार-कुशलता की योग्यता भी पूरी रक्खेंगे और इसकी सहायता से आर्यमर्यादा के मौलिक आदर्श समूह का देशकालानुसार सामञ्जस्य करने में समर्थ होंगे।

(७) उनके मतवाद में शास्त्र, दार्शनिक विज्ञान और युक्ति का समस्त सारतत्व सम्मिलित रहेगा।

(८) वे परोपकार और परमोपकार दोनों के महत्त्व को समझकर सदा निष्काम व्रत को ही जीवन का प्रधान लक्ष्य समझेंगे।

(९) वे स्वयं वर्णाश्रम धर्म के दृढ़ पक्षपाती और अनुष्ठान करने वाले और प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म के ज्ञाता होकर यथाधिकार शिक्षा के पक्षपाती होंगे।

(१०) सूर्यदेव की तरह भारताकाश में पूर्व से उदित ग्रहनक्षत्रादि को अपनी ज्योति में लय कर लेंगे परन्तु किसी को नष्ट नहीं करेंगे।

इन सब लक्षणों के साथ उनमें तीक्ष्णबुद्धिमत्ता, अगाध पाण्डित्य, असाधारण वाक्शक्ति; अपूर्व लेखकुशलता, असीम उदारता और समस्त प्रखर ओजो गुणों का भी सम्मेलन रहेगा। प्रकृति के नियमानुसार वर्णों के गुरु ब्राह्मण और आश्रम के गुरु सन्यासी हैं। इसलिये ब्राह्मण तथा सन्यासियों में से ही इस प्रकार के नेता का आविर्भाव होना प्रकृत्यनुकूल होगा। ऊपरलिखित इन सब लक्षणों के देखते ही निम्नलिखित भगवद्वाक्य का स्मरण करना चाहिए।

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम् ।।

जिसमें प्रभा, श्री और तेज देखा जाय वही भगवान् के तेज से सम्पन्न है, ऐसा समझना चाहिए।

अत: जिस पुरुष में ऊपरलिखित नेतृलक्षणों का आभास मिले उसके गौरव को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। देश के बुद्धिमान् लोग

यदि इस नियम का अनुसरण करें तो देश में ऐसे कोई महापुरुष उत्पन्न हो गये हों तो वे शीघ्र ही प्रकट हो जाएँगे और यदि ऐसे कोई महात्मा अभी तक प्रकट न हुए हों तो उनके भी प्रकट होने का समय निकट हो जायगा। सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् की शक्ति व्यापक है। जिस प्रकार प्रकृति माता के हृदय की प्रार्थना और भक्तों की प्रार्थनाशक्ति के आकर्षण से युगानुसार धर्मरक्षा के लिये श्रीभगवान् की व्यापक शक्ति केन्द्रविशेष के द्वारा असाधारण रूप से प्रकटित होकर अवतार का कार्य करती है; उसी प्रकार समस्त हिन्दूजाति के हृदय की प्रार्थनाशक्ति तथा गुणपंक्षपातशक्ति के आकर्षण से भगवान् की शक्ति हिन्दू जाति के अभ्युदय के लिये ऊपर कथित लक्षणों से अलंकृत योग्य नेतारूप से प्रकट होकर भारत का भाग्योदय कर देगी इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है। मन्दाकिनी की दिव्य लोकविहारिणी दिव्यशक्ति को भक्त भगीरथ की तप:शक्ति ने ही मर्त्यलोक में आकर्षण कर लिया था। श्रीभगवान् की र्वव्यापिनी शक्ति को भक्त प्रह्लाद की प्रार्थनाशक्ति ने मूर्त्तिमती बना कर तम्भ के भीतर से प्रकट करा दिया था। अत: हिन्दूजाति की इच्छा शक्ति के सम्मिलित होने से भगवद्विभूतिरूप नेता का आविर्भूत होना असम्भव नहीं होगा। हिन्दूमात्र के हृदय में इस प्रकार आशा का संचार होने से हिन्दू समाज के अध:पतननिवारण, उन्नति साधन और कल्याणप्राप्ति के लिये स्वजातीय नेता का आविर्भाव अवश्य ही होगा, इस प्रकार की आशा के साथ विश्वास भी सम्मिलित रहना चाहिए; क्योंकि श्रीभगवान् ने कहा है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

धर्महानि तथा अधर्म के उदय होने पर अवतार या विभूति रूप से श्रीभगवान् प्रकट होते हैं। अत: इस प्रकार का विश्वास हृदय में दृढ़ होने से हिन्दू जाति का कार्यसमूह, व्यवहार और चित्तवृत्ति ऐसी ही विशेषता को प्राप्त हो जायगी।

महापुरुष नेता का आविर्भाव होगा यह सत्य है; परन्तु कहाँ होगा, कब होगा, इसका अनुमान करना कठिन है, इसलिये ऐसी घटना

अपने ही घर में हो सकती है, प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में ऐसी धारणा होनी चाहिए और तदनुसार अपने गृह को प्रकट होने वाले देवता के पवित्र मंदिर की तरह बना रखना चाहिए। द्वेष, हिंसा, लोभ, ईर्ष्या आदि नीच प्रवृत्तियों से अपने मन की रक्षा करनी चाहिए। अपनी अपनी सन्तानों के विषय में ऐसी धारणा होनी चाहिए कि मानों अपना छोटा सा शिशु ही इस प्रकार का महात्मा होगा। ऐसा होने से ही हिन्दूजाति सम्मिलन सूत्र में बद्ध होगी, ऐसा होने से ही जन्मभूमि यश की माला से सुशोभित हो जायगी और ऐसा होने से ही भारतवर्ष में धर्म का अभ्युदय होगा, जिससे समग्र हिन्दूजाति निष्पाप तथा पुण्यवान् हो जायगी। एक शिशु की भावी अवस्था या शक्ति क्या हो सकती है या क्या नहीं हो सकती, इसका निश्चय कौन कर सकता है? अपने अपने अन्त:करण में नेता महापुरुष के आविर्भाव की आशा इस प्रकार दृढ़ और उदार रूप से संचित रख कर अपने जीवन को पवित्र बनाने के निमित्त यत्नवान् होने से तथा शिशु और युवकों की सुशिक्षा के लिये निरन्तर चेष्टा करने से सभी मनुष्यों के चित्त दिन ब दिन उन्नत हो जायेंगे। अनेकानेक सुशील मनुष्यों के हृदय इस प्रकार उन्नत, पवित्र और एकाग्र होने भी नेतृमहापुरुष के आविर्भाव का दूसरा कारण स्वरूप हो जायगा। एकप्राणता तथा पुरुषार्थ के साथ कतिपय मनुष्यों की चित्तोन्नति न होने से किसी देश में महापुरुषों का आविर्भाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार अधित्यका से ही उच्चतम पर्वतशृङ्ग उत्थित होता है, उसी प्रकार हृदयवान् व्यक्तियों के बीच में ही उच्चतम महात्माओं का आविर्भाव होता है। हिमालय पर्वत की अधित्यका से ही काञ्चनगिरी की उत्पत्ति हुई है, किसी निम्नदेश से नहीं हुई है। अत: देश तथा समाज के जनसाधारण के हृदय में जिससे आशा, भगवत्कृपा पर विश्वास, गुरुभक्ति, अध्यवसाय, एकाग्रता, सत्यनिष्ठा, सहानुभूति, जातीयता और धर्मभाव की वृद्धि हो ऐसा प्रयत्न करना वर्तमान हिन्दू समाज के लिये अवश्य कर्तव्य है। शिक्षाकार्य, बुद्धिमत्ता, बहुज्ञता, आत्मनिर्भरता, वाक्शक्ति, उदारता और ओजस्वितावृद्धि की चेष्टा के साथ साथ स्वजातिवात्सल्य के प्रति एकाग्र होकर परिचालित होना आवश्यक है।

इस प्रकार उल्लिखित नेतृलक्षणों से विभूषित नेता के प्रकट होने

पर हिन्दू सामाजिक जीवन की उन्नति के लिये उस नेता का क्या क्या कर्तव्य होगा सो नीचे क्रमश: बताया जाता है–

(१) प्रथमत; नेता को विचार द्वारा यह निर्णय करना होगा कि जिस जाति तथा समाज की उन्नति के लिये वे श्रीभगवान् की ओर से उत्तरदाता (जिम्मेवार) हैं उस जाति की मौलिक सत्ता क्या है; क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा गया है, प्रत्येक जाति और समाज की उन्नति मौलिक सत्ता की उन्नति से– जिन विशेष बातों की उन्नति के ऊपर जातीय जीवन का अस्तित्व और उन्नति निर्भर है उन विशेष बातों की उन्नति से– ही होती है।

यह बात भी पहले ही कही गई है कि उन्नति बीजवृक्षन्याय से होती है अर्थात् जिस प्रकार वृक्ष की उन्नति जिस वृक्ष का जो बीज है, उस बीज के पूर्ण प्रकट होने से ही होती है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति और समाज की उन्नति उस जाति और समाज के आदि बीज की उन्नति और उसके पूर्ण प्रकट होने के द्वारा ही होती है। अत: हिन्दूसमाज की उन्नति के लिये उपाय निर्धारण के पहले नेता महाशय को विचारपूर्वक निर्णय करना होगा कि आर्य्यजाति का जातीय मौलिक बीज क्या है। आर्यजाति तथा अनार्य से उसकी विशेषता नामक पूर्व ग्रन्थ में बताया गया है कि आर्य्यजाति के जातिगत जीवन के मौलिक बीज कौन कौन हैं और अन्य जातियों के साथ किन किन बातों में आर्यजाति की विशेषता है, प्रत्येक जाति अपने जातिगत जीवन की विशेषता को दृढ़ रखकर और उसी की उन्नति के द्वारा उन्नत होती है। कोई जाति अपनी जातिगत जीवन की विशेषता को नष्ट करके या अन्य जाति में अपने आप को मिलाकर उन्नत नहीं हो सकती है। अत: इस विषय में नेता महात्मा का ध्यान पहले ही आकृष्ट होना चाहिए। उसको हिन्दूजाति की अन्य जाति से विशेषता के ऊपर दृष्टि रखकर तब जातीय उन्नति का उपाय निर्धारित करना चाहिए। आर्यजाति केवल व्यावहारिक जीवन की उन्नति से पूर्णोन्नत नहीं हो सकती। आध्यात्मिक पूर्णता सम्पादन ही आर्यजाति के समस्त कर्तव्य का लक्ष्य है। भारत की प्रकृति पूर्ण होने से उस प्रकार की आध्यात्मिक पूर्णता भारतीय प्रकृति के अनुकूल भी है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म के तथा पातिव्रत्यधर्म के पूर्ण पालन द्वारा ही

आर्य नरनारी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। वर्णाश्रमधर्म और सतीधर्म के बिना आर्यजाति कदापि चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकती। आर्यजाति पर सहस्त्रों विजातीय अत्याचार होने पर भी आजतक जो यह जाति अपनी सत्ता को दृढ़ रखने में समर्थ हो रही है, इसका भी कारण वर्णाश्रम और नारियों में पातिव्रत्यधर्म ही है। सदाचार के साथ आर्यजातीय जीवन की सकल प्रकार की उन्नति का क्या सम्बन्ध है इन सब विषयों के पूर्ण रहस्य पूर्व प्रबन्ध में बताये गये हैं। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजनीय है। हिन्दू नेता को सदा ही सावधान रहना चाहिए कि विदेशीय शिक्षा या कालप्रभाव से हिन्दू जाति की मौलिक सत्ता के प्रति हिन्दू समाज की उपेक्षा न हो जाय और आर्यजाति के प्रत्येक मनुष्य के हृदयक्षेत्र में उसका बीज विद्यमान रहे।

(२) प्रत्येक देश के मनुष्यों में और उनकी बाह्य प्रकृति में कुछ कुछ विशेष लक्षण पाये जाते हैं। एक ही देश में उत्पन्न तथा प्रतिपालित मनुष्यों की बाह्य (बाहरी) प्रकृति एक ही प्रकार की होने से तथा उनके परस्पर मिले रहने से उनकी आन्तरिक वृत्तियाँ भी एकरूप हो जाती हैं। इस प्रकार एकरूपता ही स्वदेश और जाति के प्रति प्रेमभाव का गू कारण है और यही कारण पुरुषपरम्परा से जातीय जीवन में कार्यकार होने से प्रत्येक जाति में एक मौलिक जातीयभाव की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से उत्पन्न जातीय भाव एकजातीयजन की अन्तःकरण-निर्माण-विशेषता तथा नाना बाह्य सादृश्यों के द्वारा प्रकट होता है, उनमें से आकार और रूपसादृश्य, भाव और चिन्तासादृश्य, धर्म तथा आचारसादृश्य, भाषा और उच्चारणसादृश्य और राज्यशासन और सामाजिक रीतिसादृश्य, इतने सादृश्य (मेल) मुख्य हैं। अतः इन सब जातिगत बहिर्विषयों के साथ जातीय भावरक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। जिस जाति में कोई विशेष जातीय भाव नहीं है, उस जाति का जीवन ही व्यर्थ है और भावहीन जातीय जीवन क्षणप्रभा बिजली की तरह क्षणकालस्थायी भी है। अतः हिन्दूनेता को चाहिए कि हिन्दू समाज की उन्नति के लिये हिन्दूभावों की सुरक्षा तथा उन्नति करें। आर्य्यजातीयभावों में विदेशीय या विजातीय भावान्तरों का प्रवेश कदापि न होने देवें और धर्म, आचार, भाषा, सामाजिक रीति

आदि भावों से उत्पन्न जातीय बाहरी सादृश्यों के दृढ़ रखने के विषय में सदा ही चेष्टा करें। व्यष्टि तथा समष्टि जीवन के एक ही रूप होने से प्रत्येक मनुष्य के जीवन में निम्नतम स्तर (अवस्था) से लेकर उच्चतम स्तर पर्यन्त जितने भाव होते हैं, पृथ्वी के समस्त समाज में उन्नति के स्तर पर भेदानुसार उतने ही भाव होते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार विचार करने से समस्त जातीय व्यष्टि तथा समष्टि जीवन में तारतम्यानुसार भावों के दस स्तर देखने में आते हैं (क) केवल अपने ऊपर अनुराग। यह भाव बहुत ही निकृष्ट है। जहाँ पर ऐसा भाव मनुष्यों में प्रबल होता है, वहाँ कोई जाति या समाज नहीं बन सकता और पहले से कुछ बना हुआ हो तो वह भी टूट जाता है। इस भाव में जातीय जीवन या सामाजिक जीवन का अंकुर तक नहीं जम सकता। (ख) अपने परिवारवर्ग के प्रति अनुराग। इस भाव के उदय होने से गृहपति अपने क्षुद्र गृहरूपी राज्य का अनुशासन भली प्रकार से कर सकते हैं। हृदय की उदारता अपने में से दूसरे के प्रति विस्तृत होने का अभ्यास इस भाव में प्राप्त हो जाने से सामाजिक जीवन का बीज इस भाव में उत्पन्न हो जाता है। (ग) बन्धुबान्धव तथा स्वजनों के प्रति अनुराग। इस भाव में सामाजिक जीवन का पूर्वोत्पन्न बीज अंकुरित होने लगता है। (घ) निजग्रामवासियों के प्रति अनुराग। (ङ) निज प्रदेशवासियों के प्रति अनुराग। इन दोनों भावों के उदय होने से पूर्वोक्त सामाजिक जीवन के अङ्कुर पल्लवित होने लगते हैं। तदनन्तर छठा भाव (च) स्वजातिवात्सल्य या स्वदेशानुराग है। इस भाव की वृद्धि के साथ साथ जातीय जीवन रूपी कल्पतरु पूर्णोन्नत होकर शाखापल्लव तथा फलफूलों से सुशोभित होने लगता है। प्राचीन ग्रीक तथा रोमीयगण इस भाव का विशेष गौरव करते थे और अपनी जाति के जिन जिन महात्माओं में ऐसा महान् भाव देखते थे। उनकी देवता के सदृश पूजा करते थे। नवीन यूरोपियों में भी इस प्रकार का भाव देखने में आता है। वे भी स्वदेश और स्वजातिवात्सल्य का गौरव करते हैं; परन्तु प्राचीन ग्रीक और रोमीयगण जिस भाव से ऐसा करते थे, इनमें वह भाव प्रायः नहीं देखा जाता है। किसी यूरोपीय पंडित ने कहा है– "स्वदेशानुरागरूपी वृक्ष का मूल अभिमान है, इसकी शाखाप्रशाखा तथा पत्रादि बाह्य

आडम्बर है, इसका काण्ड अन्य जाति के प्रति विद्वेष है, इसके फल पुष्पादि अपने देश की समृद्धि और परदेश का पीड़न भी है, यह एक गुणदोषमिश्रित उपधर्ममात्र है।'' वर्तमान पाश्चात्य जातियों में उल्लिखित छठा भाव इसी प्रकार काहै। (छ) स्वजाति से किंचित् भिन्न अन्यजातीय लोगों के प्रति अनुराग। इस भाव के उदय होने से छठे भाव की परजातिविद्वेषरूप सङ्कीर्णता कम होने लगती है। यूरोप के प्रसिद्ध संस्कारक विद्वान् अगष्ट कोमटि के मतानुयायी पुरुषों का अधिकार यहाँ तक है। (ज) मनुष्यमात्र के प्रति अनुराग। यह भाव बहुत ही उदार है। इसके उदय होने से परजातिविद्वेषरूपी अग्नि एकदम शान्त हो जाती है। सरलमना शिशु का यही भाव है और महात्मा ईसामसीह का भी यही भाव था। (झ) मनुष्य से लेकर मनुष्येतर जीवमात्र के प्रति अनुराग। श्रीभगवान् बुद्धदेव का यही भाव था और बौद्धधर्म का भी यही अधिकार है। (ञ) सजीव, निर्जीव समस्त प्रकृति के प्रति अनुराग और प्रकृति के परपार में विराजमान मन-वाणी से अगोचर परमात्मा में अनन्त आनन्दमय विश्राम। जगद्गुरु आर्य महर्षियों का यही भाव था और उनकी सन्तान आर्यजाति का यही सर्वोत्तम आदर्श है। दशम भाव के नीचे के किसी भाव में रहने से उसके ऊपर के भावों का अधिकार किसी को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये उस निम्नभाव के पक्षपाती बनकर ऊपर के भाव की निन्दा भी उस प्रकार के निकृष्ट या मध्यम अधिकारी कर सकते हैं। आर्यजाति के प्रति अन्य निम्नश्रेणीय जातियों ने जो कहीं कहीं कटाक्ष किया है, उसके मूल में भी यही कारण विद्यमान है; परन्तु दशम भाव के अधिकार पर विराजमान जाति अन्य निम्नभाव के अधिकारी जाति पर कभी कटाक्ष नहीं करेगी; क्योंकि ऊपर के भावों के प्राप्त होने से नीचे के भाव नष्ट नहीं हो जाते परन्तु ऊपर के भावों में ही लय हो जाते हैं। यही कारण है कि जिससे आर्यजाति अन्य जातीय भावों पर कटाक्ष या उनकी निन्दा नहीं करती, किन्तु अपने अपने अधिकार के अनुसार सबके कल्याण की ही चिन्ता करती है; इसी कारण आर्य्यगण के प्रधान धर्माचार्यों की आज्ञा है–

धर्म्मं यो बाधते धर्म्मो न स धर्म्मः कुधर्म्म तत् ।
अविरोधी तु यो धर्म्मः स धर्म इति निश्चयः ।।

तात्पर्य यह है कि जो धर्म्म अन्य धर्म्म को बाधा दे, वह सद्धर्म नहीं है, कुधर्म्म है।

यह भी सिद्धान्त निश्चय है कि जिस मनुष्य अथवा जाति में ऊपर का कोई भाव है, उसमें नीचे के भाव स्वतः ही होंगे, क्योंकि प्रकृति नीचे के भावों से पुष्ट होती हुई, ऊपर के भावों को प्राप्त करती है। इसलिये आर्यजाति में सर्वोच्च दशम भाव के साथ साथ और भी भावों के पूर्ण विकास हैं। आर्यजाति में प्रकृतिपारङ्गत ब्रह्मभाव का उदय होने से उसके परिवार के प्रति अनुराग, ग्राम के प्रति अनुराग, देश तथा जाति के प्रति अनुराग आदि भाव नष्ट नहीं हुए हैं, अधिकन्तु पुष्ट और विशुद्ध ही हुए हैं और ऊपर के उन्नत भावों का समावेश होने के कारण ये निम्नभाव की मलिनता से मुक्त तथा परम विशुद्ध हो गये हैं। अन्य जाति की पारिवारिक प्रीति काममोहादि मूलक है, परन्तु आर्यजाति की आदर्श पारिवारिक प्रीति गौरी, बटुक, जगदम्बा आदि दिव्यभावों के सम्बन्ध से हुआ करती है, यथा– श्रीमद्भागवत में–

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेस्तनुः ।।
दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्माऽतिथिः स्वयम् ।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः ।।

आचार्य ब्रह्म की मूर्ति, पिता प्रजापति की मूर्ति, भ्राता पवन देवता की मूर्ति और माता साक्षात् पृथ्वी की मूर्ति है। भगिनी दया की मूर्ति, अतिथि स्वयं धर्मरूप, अभ्यागत अग्नि की मूर्ति और समस्त जीव आत्मा के रूप हैं। यही आर्यजातीय प्रीति तथा पारिवारिक सम्बन्ध के मूल में दिव्य भाव का समावेश है। आर्यजाति का स्वदेश और स्वजातिवात्सल्य पाश्चात्य जातियों की तरह उपधर्मरूप से निन्दित नहीं हुआ है और इसमें अभिमान, बाह्य आडम्बर, परजाति के प्रति विद्वेष, परदेशपीड़न आदि कलंक नहीं लगे हुए हैं। आर्यजाति का स्वजाति तथा स्वदेशवात्सल्य परजाति विद्वेषमूलक नहीं है, किन्तु स्वजाति प्रेममूलक है; क्योंकि आर्यजाति जानती है कि सत्त्वगुण से ही वस्तु की स्थिति होती है और तमोगुण से संसार का नाश होता है; इसलिये तमोगुण से उत्पन्न विद्वेष द्वारा कोई जाति कभी चिरकालस्थायिनी उन्नति नहीं कर

सकती, किन्तु सत्त्वगुण से उत्पन्न स्वजाति प्रीति द्वारा ही स्वजाति तथा स्वदेश की अनन्तकालस्थायिनी उन्नति हो सकती है। आर्यजाति स्वदेश को कर्मक्षेत्र, धर्मक्षेत्र, पुण्यक्षेत्र करके मानती है। सर्वव्यापिनी शिवशक्ति और महादेवी सती के अङ्गों के द्वारा स्वदेश का सर्वाङ्ग विनिर्मित है, ऐसा मानती है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियों के मत में भारतवर्ष में महामाया सती के अङ्गों के १०८ विभागों के अनुसार १०८ पीठों में विभक्त हैं। वे ही भारतवर्ष के तीर्थस्थान हैं और इसी कारण आर्यजाति रागद्वेषनिर्मुक्त विशुद्ध प्रेमसुधा से पूर्ण अन्त:करण हो स्वदेश तथा जाति की सेवा करती है। यही आर्यजाति का आदर्श स्वदेश और स्वजाति प्रेम है। आर्यजाति के अष्टम तथा नवम भावजनित जीवानुराग में अन्य जातियों की तरह अज्ञानमय हृदयदौर्बल्य अथवा आस्तिकताशून्य मोहभाव नहीं है। आर्यजाति एकात्मवाद के सिद्धान्त पर आरूढ़ होकर समस्त संसार को गोविन्द का रूप जानकर "जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नम:" इस महामन्त्र से जगज्जीवों की पूजा करती है। आर्यजाति के दशम भाव में अन्य समस्त भावों की सिद्धि और परिसमाप्ति है। इस दशम भाव की उदारता के द्वारा अन्य समस्त भावों को देशकालानुसार परिपालन करके अन्त में अन्तिम परब्रह्म भाव में जीवात्मा को विलीन कर देना ही आर्यजाति का मौलिक जातीयभाव है। अत: सामाजिक नेता को इस आदर्श भाव के प्रति दृष्टि रखकर इसी की उन्नति के साथ साथ हिन्दू जातीय जीवन की उन्नति करनी चाहिए। सनातनधर्म के निम्नलिखित अङ्गों की पुष्टि के बिना आर्यजाति में उपर कथित आदर्श भाव रहना कठिन होगा। अत: निम्नलिखित विषयों की बीजरक्षा के लिये आर्यनेता को सदा ही सन्नद्ध रहना चाहिए। जिससे आर्य प्रजा में ब्रह्मतेज तथा क्षात्रतेज की बीजरक्षा हो, वर्णाश्रम धर्म नष्ट न हो सके, सतीत्व का तीव्र संस्कार आर्यनारियों में से विलुप्त न होने पावे, आर्यप्रजा में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति बनी रहे और साथ ही साथ जाति का लौकिक अभ्युदय भी होता जाय ऐसा उपाय करना परम कर्तव्य है। ब्रह्मचर्याश्रम के धर्मों में वीर्यरक्षा और यथार्थ विद्या प्राप्त करना प्रमुख है; गृहस्थाश्रम के धर्मों में पञ्चमहायज्ञ साधन और यथाशक्ति सात्त्विक दान में अधिक से अधिक रुचि बढ़ाना ये मुख्य धर्म

हैं, वानप्रस्थाश्रम में परोपकारव्रत, कामिनी काञ्चन का त्याग और निवृत्ति सम्बन्धीय नियम पालन करना अभ्युदयकारी धर्म हैं और सन्यासाश्रम के धर्मों में द्वन्द्वरहित होकर अन्तःकरण की वृत्तियों की समता स्थापन करना और प्रजामात्र की आध्यात्मिक उन्नति के अर्थ आत्मोत्सर्ग करना ये निःश्रेयसकारी धर्म हैं। शूद्रों में सेवाबुद्धि और देश की शिल्पोन्नति करना प्रशंसनीय धर्म है, वैश्यों का गोधन की वृद्धि, कृषि की उन्नति और वाणिज्य की वृद्धि से धनोपार्जन करना प्रधान धर्म है, क्षत्रियों के लिये शारीरिक बल, वीरता, स्वदेशानुराग और उदारता ये उन्नतिकारी धर्म हैं और ब्राह्मणवर्ग के लिये विद्या, तप तथा त्याग ये निःश्रेयसकारी धर्म हैं और मनुष्यमात्र के कर्त्तव्यों में स्वजातीय आचारों की रक्षा, स्वदेशोन्नति, स्वजातीयोन्नति, भगवद्भक्ति और आध्यात्मिक ज्ञानवृद्धि में प्रयत्न करना प्रशंसनीय धर्म है। इन सब अधिकार भेदानुसार भिन्न भिन्न धर्माङ्गों के पालन से ही आर्यजाति का आदर्शभाव अटल रहेगा। अतः इनके पालन की ओर सामाजिक नेता की दृष्टि रहनी चाहिए।

(३) पितृमातृहीन शिशु को अनाथ कहते हैं। पिता के अभाव से शिशु के रक्षण में बाधा होती है और माता के अभाव से शिशु के पोषण में त्रुटि होती है। इसलिये इस प्रकार के अनाथ शिशु के जीने की आशा भी कम रहती है। मनुष्य शिशु के विषय में पिता माता का जो प्रयोजन है, मनुष्य समाज के विषय में धर्म तथा भाषा का भी वही प्रयोजन है। धर्म समाज का पिता है; क्योंकि धर्म से ही समाज का जन्म तथा रक्षा होती है और भाषा समाज की माता है, क्योंकि भाषा के ही द्वारा समाज की स्थिति तथा पुष्टि होती है। धन, वाणिज्य, राजनैतिक स्वाधीनता आदि को खोकर समाज जीता रह सकता है, परन्तु जिन लोगों में से धर्म और भाषा नष्ट हो गई है उनका कोई समाज या जातीय जीवन है ऐसा नहीं कह सकते। जगत् के इतिहास में धर्म तथा भाषा के लोप से जातीय अस्तित्व लोप के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। दक्षिण अमेरिका के अनेक प्रदेशों में अभी तक उस देश के आदिम निवासी अनेक इण्डियन लोग विद्यमान हैं; परन्तु उनका धर्म खिष्टा तथा भाषा स्पेनिश आदि होने से उन लोगों में सामाजिक जीवन या जातीय भाव सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है। फलतः अन्य जाति के द्वारा प्रतिष्ठित धर्म

तथा भाषा के ग्रहण करने से सामाजिक उन्नति या स्वतंत्रता का पथ एक बार ही बन्द हो जाता है। अतः सामाजिक नेता को हिन्दू समाज में धर्म और भाषा की रक्षा तथा पुष्टिसाधन के विषय में यत्नवान् होना पड़ेगा। धर्म की रक्षा के लिये क्या क्या कर्तव्य हैं सो पहले ही कह चुके हैं। अब भाषा की रक्षा के विषय में विचार किया जाता है। रोम साम्राज्य की प्रतिष्ठा के समय सिवाय ग्रीस के उस साम्राज्य के अन्तर्गत किसी प्रदेश में प्रादेशिक भाषा शिक्षा का नियम नहीं था। प्रदेशीय सकल स्थानों में तथा अदालतों में भी रोमीय भाषा लाटिन का ही प्रचार था। प्रादेशिक लोगों की सामाजिक रीतियाँ भी रोमीय अनुकरण से रोमीयगण की तरह हो गई थीं। उन्होंने अपनी भाषा और रीतियों को त्याग दिया था। इसका फल यह हुआ कि जिस समय रोम जाति का बल घट गया और दूसरी जाति ने रोम पर अधिकार जमाया उस समय रोम को सहायता देना तो दूर रहा, उन सब प्रदेशवासियों से आत्मरक्षा भी नहीं हो सकी। केवल ग्रीस, जिसमें भाषा तथा रीति अपनी ही थी, कुछ दिनों तक शत्रुओं के आक्रमण से बचा रहा। यह सब भाषा के नाश का ही परिणाम है। पहले ही कहा गया है कि जातीय भाव का विकास जातीय भाषा के द्वारा ही हुआ करता है इसलिये जिस जाति या समाज में जातीय भाषा का आदर नहीं है वहाँ जातीय भाव भी क्षणभंगुर होता है। विजातीय भाषा के साथ साथ विजातीय भाव का भी अधिकार मनोदुर्ग पर धीरे धीरे जम जाता है। नीचे एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। रोमजातीय प्रसिद्ध वक्ता सिसिरो जिस समय सिलिसिया का शासन-कार्य समाप्त करके रोमनगरी में लौट आये, उस समय उनके किसी विपक्षी पुरुष ने सेनेट सभा में कहा कि सिसिरो को एक पूरे प्रदेश का शासनभार मिलने पर भी उनसे कुछ नहीं करते बना, एक युद्ध भी उन्होंने नहीं जीता और एक शत्रु भी उन्होंने नहीं मारा। इस कटाक्ष के उत्तर में विचारवान्, दूरदर्शी सिसिरो ने कहा– "मैंने सिलिसिया में जो कुछ किया है, उससे उस प्रदेश के लोग चिरकाल के लिये रोम को गुरुवत् मानेंगे अर्थात् मैंने सिलिसिया में रोमीय भाषा लाटिन की शिक्षा के लिये १४० विद्यालय स्थापित कर दिये हैं जिसका फल यह होगा कि उस विद्यालय से निकले हुए शिक्षित पुरुष रोमीय मन्त्र ही दीक्षित होकर रोम को ही अपना आदर्श करके

मानेंगे।'' सेनेट सभा ने सिसिरो के उत्तर का सम्पूर्ण अनुमोदन किया था। अतः सिद्धान्त हुआ कि विजातीय भाषाशिक्षा के साथ साथ विजातीय भाव का भी प्रभाव चित्त पर अवश्य ही हो जाता है; परन्तु देशकाल के विचार से अनेक समय विजातीय भाषा-शिक्षा के बिना जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता है। इस दशा में दोनों ओर की सुविधा और बचाव के लिये कर्तव्य यह होगा कि बाल्यकाल से विजातीय भाषाशिक्षा के पहले कुछ स्वजातीय भाषा का भी गौरव उसकी शिक्षा के द्वारा हृदय में बद्धमूल कराया जाय और आगे अन्य भाषा-शिक्षा के साथ साथ स्वदेशीय भाषा की भी चर्चा रखी जाय। ऐसा होने से विजातीय भाषा-शिक्षा का उतना प्रभाव चित्त पर नहीं होगा। हिन्दू सामाजिक नेता का कर्तव्य है कि समाज के मनुष्यों में स्वजातीय देववाणी संस्कृत तथा साधारण राष्ट्र भाषा हिन्दी की शिक्षा का जिससे अधिक प्रचार हो सो करें। अङ्गरेजी भाषा के प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता सदे साहब ने लिखा है– ''हम लोगों की भाषा एक अति महत् और सुन्दर भाषा है; परन्तु जहाँ कहीं किसी अङ्गरेजी भाषा के शब्द से काम निकल सकता हो वहाँ यदि कोई लाटिन अथवा फ्रेञ्च भाषा के शब्द को काम में लावे तो मातृभाषा के प्रति विद्रोहाचरण करने के पाप से उसको फांसी देकर अथवा उसका शरीर खण्ड विखण्ड करके उसको मृत्युदण्ड देना उचित है।'' सदे साहब की तरह मातृ-भाषा प्रेम प्रत्येक हिन्दू के हृदय में होना चाहिए तभी समाज में आर्यभाव की रक्षा तथा वृद्धि होगी। बिना मातृभाषा की उन्नति के किसी जाति की पूर्णोन्नति नहीं हो सकती; बिना मातृभाषा की उन्नति के स्वधर्म का पूर्ण विकास नहीं हो सकता; मातृभाषा की उन्नति के बिना कोई मनुष्यजाति शीघ्र सफलता लाभ नहीं कर सकती; बिना मातृभाषा की उन्नति के देश में ज्ञान का पूर्ण रूप से विस्तार होना असम्भव है; बिना मातृभाषा की उन्नति के देश का गौरव कदापि वृद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता; बिना मातृभाषा की उन्नति के कोई जाति अपने स्वजाति भाव की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकती और बिना मातृभाषा की रक्षा में सफलकाम हुए कोई मनुष्य कदापि पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। इस समय भारतवासियों की मातृभाषा के स्थान में विशुद्ध हिन्दी भाषा को ही समझ सकते हैं। थोड़ा सा यत्न करने पर ही यह भाषा

सर्वसाधारण भारतवासियों के लिये केन्द्ररूप से स्थापित हो सकती है। फलत: अब दृढ़व्रत होकर विद्वान् नेता को ऐसा यत्न करना उचित है जिससे एक वृहत् शब्दकोश के संग्रह से और व्याकरण, दर्शन, काव्य तथा नाना आवश्यकीय ग्रन्थों के प्रणयन से यह मातृ-भाषा अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हो सके। तदनन्तर परम पवित्र संस्कृत भाषा को पितृस्थानीय और हिन्दी भाषा को मातृस्थानीय करके ज्ञानराज्य में लालित पालित होने पर भारतवासियों का सब अभाव शनै: शनै: दूर हो सकेगा। इसलिये प्रथम तो हिन्दी भाषा की पूर्णता सम्पादन के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है और दूसरे उच्च कक्षाओं में संस्कृत भाषा की शिक्षा सुगम रीति पर देते हुए साथ ही साथ मातृभाषा के द्वारा देशकालज्ञान सम्बन्धी अन्यान्य शास्त्रों का अध्ययन कराना युक्तियुक्त होगा। यदि ऐसा सुअवसर प्राप्त हो कि भारतवर्ष के सब प्रान्तों में एकमात्र हिन्दी भाषा ही मातृभाषा हो जाय तो बहुत ही लाभ की सम्भावना है। यदि ऐसा होने में अभी विलम्ब हो तो अभी ऐसा यत्न होना चाहिए कि बङ्गाल, मद्रास, बम्बई, पञ्जाब आदि प्रान्तों में और देशीय रजवाड़ों में, कि जहाँ की विभिन्न मातृभाषाएँ उनके स्वतन्त्र अक्षरों से लिखी जाती हैं, वहाँ प्रवृत्ति दिखलाकर एकमात्र देवनागरी अक्षरों का प्रचार करवाया जाय। ऐसा होने पर सार्वजनिक क्रमोन्नति, विद्या का विस्तार और जातीय भाव की दृढ़ता में विशेष सहायता मिलेगी। अत: आर्यनेता की दृष्टि इस ओर अवश्य ही आकृष्ट होनी चाहिए।

(४) प्रत्येक जाति का मौलिक जातीय भाव जिस तरह जातीय भाषा के द्वारा प्रकट होता है, उसी प्रकार जातीय आचारों के द्वारा भी प्रकट होता है। बिना स्वजातीय आचारों की रक्षा के कोई भी जाति अपनी जातीयता को चिरकाल तक प्रतिष्ठित रखने में समर्थ नहीं होती। बहि:प्रकृति अन्त:प्रकृति का केवल विकास मात्र है। जीवगण की अन्त:प्रकृति जिन जिन भावों से सम्मिलित रहती है, उसके बहिर्लक्ष्य भी ऐसे ही भावमय हुआ करते हैं। इसी वैज्ञानिक नियम के अनुसार सामुद्रिक शास्त्र द्वारा विद्वान् लोग मनुष्य के बहिर्लक्ष्यों को देखकर उसकी प्रकृति तथा प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अन्त:प्रकृति से बहि:प्रकृति का इतना मिश्रसम्बन्ध है कि मनुष्यगण की यावन्मात्र

बहिश्चेष्टाओं के साथ उसका सम्बन्ध रहा करता है। प्रत्येक मनुष्य के खान, पान, उठने, बैठने, श्रवण, मनन, आचार, विचार आदि सब चेष्टाओं के देखने से ही उसके जातिगत विचारों का निर्णय हो सकता है। इसी कारण से तमोगुण पक्षपातिनी एशिया और अफ्रीका की विशेष विशेष जातियों के, रजोगुण पक्षपातिनी वर्तमान यूरोप और अमेरिका की विशेष विशेष जातियों के और सत्त्वगुणपक्षपातिनी आयर जाति के बहिराचारों में बहुत ही अन्तर दीख पड़ता है। उदाहरणस्थल पर विचार कर सकते हैं कि इन तीनों मनुष्यजातियों की भाषा, परिच्छेद, रीति, नीति, आहार, विहार आदि द्वारा स्पष्ट रूप से उनकी विभिन्नता जानी जा सकती है। आर्यजाति स्वभाव से ही जिस प्रकार आहार और विहार आदि की पक्षपातिनी है, उस प्रकार यूरोपीय जाति का विचार देखने में नहीं आता। प्रत्येक जाति का अपने जातिधर्म के साथ अतिघनिष्ठ सम्बन्ध हुआ करता है और उसका यह फल होता है कि आर्यजाति के सदाचारी गण अन्यजाति के आचारों को देखकर उनको बालक के खेल की तरह समझा करते हैं और उसी रीति पर अन्य यूरोपवासी गण भारतवासियों की नीति नीति पर कटाक्ष कर हास्य किया करते हैं। बहिर्भाव से अन्तर्भाव का और अन्तर्भाव से बहिर्भाव का मिश्र सम्बन्ध रहने के कारण जिस प्रकार अन्तर्भाव का प्रभाव बहिश्चेष्टाओं में पड़ता है उसी प्रकार बहि:क्रियाओं का भी प्रभाव अन्तर्भाव पड़ा करता है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्यजाति के योग्य नेतागण अपनी जाति के आचारों की रक्षा करने में सदा तत्पर दीख पड़ते हैं। पृथ्वी की मनुष्यजातियों में से किसी का आचार चाहे कैसा ही हो, चाहे किसी एक जाति का आचार उत्कृष्ट और दूसरी का निकृष्ट हो, अथवा चाहे किसी में कुछ भी योग्यता रहे, परन्तु अपने जातिभाव की रक्षा तभी हो सकती है, अपना जातिगत जीवन तभी तक रह सकता है, जब तक वह जाति अपनी जातिगत रीति, नीति, खान, पान, भूषण, आच्छादन और सदाचार में दृढ़ और तत्पर रहती है। एक जाति जब अपने सदाचारों को छोड़कर दूसरी जाति की रीति नीति, खान, पान, और आचारों को ग्रहण करने लगती है, तब बहिर्लक्षण विचार से उस जाति की जातिगत विभिन्नता का नाश हो जाता है और साथ ही साथ कालान्तर में उस जाति की अन्त:प्रकृति का

भी परिवर्तन होकर उसके पूर्व्वजातिभाव का पूर्णरूप से नाश हो जाता है और अन्त में वह जाति एक नूतन जाति बन जाती है फलतः इस प्रकार के अनुकरण द्वारा उस जाति का जीवन विनष्ट हो जाया करता है। एक जाति जब कभी दूसरी जाति से जानी जाती है अर्थात् अन्य देशवासीगण जब किसी दूसरे देश में जाकर उस देश के निवासिगणों को बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया करते हैं, तब प्रायः ऐसा देखने में आता है कि पराजित जाति क्रमशः विजेता जाति की रीति, नीति, भाषा, आचार और वेष आदि का अनुकरण करने लगती है। संसार में दो ही शक्तियाँ दीख पड़ती हैं, एक लघुशक्ति और दूसरी गुरुशक्ति। गुरुशक्ति द्वारा लघुशक्ति अधिकृत हो जाती है इसी कारण से गुरु सात्त्विक शक्ति द्वारा शिष्य को अधीन कर लेते हैं। धर्माचार्यगण अपने मतावलम्बिगण में ईश्वर का अवतार कहलाने लगते हैं और इसी कारण से जेतागण प्रथम तो अपनी राजसिक शक्ति द्वारा विजित जाति को बलपूर्वक अपने अधीन कर लेते हैं और फिर क्रमशः विजित जाति के आहार, विहार आदि सदाचारों पर भी अपना पूर्ण अधिकार स्वतः ही जमा सकते हैं। इसी अभ्रान्त प्राकृतिक नियम के अनुसार जगत् के इतिहासों में देखने में आया है कि सकल स्थानों में जेतागण की गुरुशक्ति द्वारा पराजित जाति की लघुशक्ति स्वतः ही दब गई है और क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती हुई गुरुशक्ति में लय को प्राप्त हो गई है। इसी अकाट्य नियम के अनुसार जगत्विजयिनी प्राचीन यूनानी जाति रोमन शक्ति में लय को प्राप्त होकर अब एक नूतन क्षुद्र जाति बन गई है। इसी नियम के अनुसार पुनः रोमन जाति का पूर्णरूप से लोप होकर उसी भूमि में एक नई इटालियन जाति का आविर्भाव हो गया है। भारतवर्ष के अतिरिक्त और सब देशों के इतिहास का पाठ करने से यही प्रमाणित होता है कि जहाँ जहाँ जब कभी जेता जाति की गुरुशक्ति ने किसी पराजित जाति की लघुशक्ति को अपने अधीन कर लिया है तो अन्त में उस विजित जाति का लोप ही हो गया है; परन्तु भारतवर्ष के आर्यगण आज प्रायः दो सहस्र वर्षों से नाना जातियों के द्वारा विजित होने पर भी अभीतक पूर्णरूप से अपने स्वरूप और आचार को नहीं भूल गये हैं, आर्यजाति का यह एक अपूर्व महत्त्व है। हिन्दू समाज के नेता के हृदय

में इस महत्त्व की प्रतिष्ठा होनी चाहिए और जिससे हिन्दू जाति अपने शास्त्रीय सदाचारों से भ्रष्ट न हो जाय ऐसा यत्न नेता महापुरुष को सदा करना चाहिए।

(५) आचार के साथ साथ चरित्र की उन्नति भी सामाजिक उन्नति में परम सहायक हुआ करती है। जिस जाति या समाज में चरित्र का आदर्श नहीं है वह जाति या समाज कदापि उन्नत नहीं हो सकता। प्रत्येक उन्नति बीज वृक्ष न्याय से होने के कारण जिस जाति के अतीत जीवन के गर्भ में जिस प्रकार आदर्श चरित्र का बीज रहता है उस जाति में भविष्यत् जीवन का आदर्श भी उसी प्रकार का होता है। जिस जाति का अतीत जीवन गौरवमय संस्कारयुक्त नहीं है; उस जाति का भविष्यत् जीवन भी गौरवमय बन नहीं सकता। कारण, गौरवमय अतीत जीवन बीज के बिना गौरवमय भविष्यत् जीवन वृक्ष बन नहीं सकता। जिस देश के प्राचीन जीवन में भीष्मपितामह का संस्कार विद्यमान है, उसी देश में भविष्यत् में भी भीष्मपितामह उत्पन्न हो सकते हैं। जिस देश के अतीत जीवन में ज्ञानी महर्षियों के चरित्र का आदर्श विद्यमान रहता है; उसी देश में ज्ञानी महर्षियों का आविर्भाव हो सकता है। जिस जाति के अतीत जीवन में सतीधर्म का संस्कार विद्यमान नहीं है, उस जाति के भविष्यत् जीवन में सतीत्व का आदर्श उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस आर्य्यजाति के अतीत जीवन में श्रीशङ्कराचार्य जैसे सन्यासी का आदर्श विद्यमान है, उसी आर्यजाति के भविष्यत् जीवन में सन्यास का यथार्थ आदर्श उत्पन्न हो सकता है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'

यह भगवान् का वाक्य है। जो है नहीं सो आ! नहीं सकता और जो है उसका अभाव भी नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक जाति को अपने सामाजिक जीवन का आदर्श पूर्ववर्ती महात्माओं के आदर्श पर बनाना चाहिए। यह आदर्श जिस जाति में जितना उच्च होगा उस जाति का जातीय चरित्र और उद्देश्य भी उतना ही उन्नत होता है। उस आदर्श के प्रति श्रद्धा भक्ति जितनी गम्भीर होती है, जातीय धर्मनिष्ठा भी उतनी ही गम्भीर होगी। उस आदर्श के अनुरूप होने के लिये जितनी यत्नशीलता होती है, जातीय उन्नति भी उतनी ही होती है। इस प्रकार विचार करने

पर जातीय आदर्श निम्नलिखित आठ श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। यथा–

(क) जिन जातीय मनुष्यों का चित्तादर्श सामान्य संस्कार युक्त है, उस जाति की सभ्यावस्था हीन है।

(ख) जिन जातीय मनुष्यों का चित्तादर्श आँशिक उत्कृष्ट है, उसकी सभ्यावस्था भी पूर्ण नहीं हो सकती अर्थात् उसकी सभ्यावस्था भी आंशिक होती है।

(ग) जिन जातीय मनुष्यों का चित्तादर्श सुसंस्कृत है, उसकी सभ्यावस्था भी उत्कृष्ट है।

(घ) जिन जातीय मनुष्यों का चित्तादर्श दूसरों के सम्बन्ध से उत्कर्ष लाभ करता है, उसकी सभ्यावस्था उन्नतिशील है।

(ङ) जहाँ पर चित्तादर्श समभावापन्न रहने पर भी उसके प्रति अनुराग और उसकी साधन चेष्टा है, वहाँ की सभ्यावस्था सजीव है।

(च) जहाँ पर चित्तादर्श समभावापन्न किन्तु उसके प्रति अनुराग कम होता जाता है, वहाँ की सभ्यावस्था पतनशील समझनी चाहिए।

(छ) जहाँ पर चित्तादर्श पहले जैसा था, उससे मलिन होने लगा है, वहाँ पर सभ्यावस्था भी पतनशील समझनी चाहिए।

(ज) और जिस जाति का चित्तादर्श सुसंस्कृत तथा तत्प्रति अनुराग भी बलवान् है परन्तु उसकी साधनचेष्टा कम हो गई है, उस जाति की सभ्यावस्था उत्तम परन्तु स्थगित गति समझनी चाहिए।

अब इन आठ प्रकार के चित्तादर्शों का हिन्दू समाज और जाति के प्रति प्रयोग करके विचार करना चाहिए। हिन्दू जाति के आदर्श नर-नारी श्रीरामचन्द्र और सीता हैं। हिन्दू जाति के शिरोभूत ब्राह्मणों के आदर्श महर्षि वशिष्ठ और सन्यासी के आदर्श महर्षि याज्ञवल्क्य और शङ्कराचार्य हैं। हिन्दूजाति में त्यागी और ब्रह्मचारी के आदर्श भीष्मदेव, गृहस्थ के आदर्श राजर्षि जनक और पूर्णता के आदर्श भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इन सब आदर्शों से उच्चतर आदर्श क्या कभी किसी देश में प्रकाशित हुआ था? कहीं नहीं। अतः हिन्दूजाति की सभ्यावस्था पूर्वोक्त तृतीय सूत्रानुसार सर्वोत्तम है, यह निश्चय हो गया। हिन्दू जाति के हृदय से इन सब आदर्शों के प्रति श्रद्धा भक्ति क्या कुछ कम हो गई है? कुछ

भी नहीं। अतः पूर्व सिद्धान्तानुसार स्वभावतः हिन्दूजाति परम धार्मिक है, ऐसा स्वीकार करना होगा। हिन्दू जाति अपने अपने कार्यों में क्या उस सब आदर्शों का अनुकरण चेष्टा करती है! नहीं। आजकल बहुत थोड़े ही मनुष्य ऐसा प्रयत्न करते हैं। हिन्दू जाति की चेष्टाशक्ति कम होने से हिन्दू उत्कृष्ट सभ्यावस्थायुक्त और परम धर्मशील होने पर भी उनकी सभ्यावस्था वर्तमान समय में स्थगित गति हो गई है। अतः सिद्धान्त हुआ कि हिन्दूजाति की सभ्यावस्था अष्टम सूत्र के अन्तर्गत है अर्थात् यह उत्कृष्ट किन्तु स्थगित गति है; परन्तु कोई भी समाज स्थगित गति होकर बहुत दिनों तक रह नहीं सकता। या तो वह चतुर्थ अथवा पंचम सूत्र के अन्तर्गत होकर उत्कर्ष लाभ करता है या षष्ठ अथवा सप्तम सूत्र के अन्तर्गत हो हीन हो जाता है। हिन्दू सामाजिक नेता का कर्त्तव्य है कि जिससे अपने समाज के लोगों में प्राचीनत्व के प्रति मर्यादा नष्ट न हो जाय और समाज के हृदय में प्राचीन महापुरुषों के आदर्श पर जीवन गठन करने की इच्छा और चेष्टा बनी रहे, ऐसा उपाय और पुरुषार्थ वे करें। ऐसा उपाय करने से भारत के इस दुर्दिन में भी हिन्दू गृहस्थ नरनारियों में रामसीता के आदर्शों की बीजरक्षा, ब्राह्मणों में महर्षि वशिष्ठ के आदर्श की बीजरक्षा, त्यागी तथा ब्रह्मचारियों में पितामह भीष्मदेव के आदर्श की बीजरक्षा और सन्यासियों में भगवान् याज्ञवल्क्य और शंकराचार्य के आदर्श की बीजरक्षा अवश्य होगी। परार्थपरता ही हिन्दू जीवन तथा हिन्दू समाज का सारतत्त्व है। त्याग, संयम, धर्मभीरुता, क्षमा, दया, धैर्य्य, पवित्रता, सन्तोष आदि देवदुर्लभ गुणावली ही हिन्दू समाज का भूषण है। शान्ति ही आर्यजाति की चिरसहचरी है। दुःख का विषय है कि आधुनिक हिन्दू जीवन में शिक्षा, सङ्ग और अनुकरण के दोष से महर्षिसुलभ परार्थपरता दिन ब दिन विलुप्त होकर ऐहलौकिक तथा पारलौकिक स्वार्थपरता की वृद्धि हो रही है। जिस जाति के लिये श्रीभगवान् ने–

''भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्''

केवल अपने लिये भोजन पकाना पापभोजन मात्र है ऐसा कहकर परार्थपरता की पराकाष्ठा का उपदेश किया है, उस जाति के पवित्र जीवन में आज विजातीय कुसंग के कारण स्वार्थपरता का कलङ्क लग रहा है। किसी नवशिक्षित पुरुष ने कहा था– ''महाशय! उस कार्य

में मेरा स्वार्थ है तब मैं उसे क्यों नहीं करूँगा?'' ''इस लिये उसे नहीं करना चाहिए कि उसके करने से परार्थ नष्ट होता है'' परार्थ रक्षा करने में मेरा इष्ट क्या है? ''परार्थ की रक्षा ही तुम्हारा इष्ट है।'' ''परार्थ रक्षा में पर का इष्ट है मेरा इष्ट नहीं है।'' विचार समाप्त हो गया। मालूम हुआ कि इतने दिनों तक पवित्र शास्त्रशिक्षा के प्रभाव से हिन्दू हृदय में परार्थता का जो भाव प्रविष्ट हुआ था, विजातीय शिक्षा तथा सङ्ग के प्रभाव से एकदम नष्ट हो गया। हिन्दू जातीय पवित्र चरित्र में इन्हीं सब कुभावों का प्रभाव आजकल पड़ रहा है। अत: हिन्दू नेता की दृष्टि इस ओर आकृष्ट होनी चाहिए और विचार के साथ उल्लिखित जातीय चरित्र की आदर्श रक्षा के प्रति उनको पूर्ण पुरुषार्थशील होना चाहिए।

यह बात यहाँ पर कह देना अवश्य ही युक्तियुक्त होगा कि इस प्रकार हिन्दू जातीय चरित्र की आदर्श रक्षा के लिये वर्णों के नेता ब्राह्मण और वर्णों के गुरु तथा आश्रमों के नेता सन्यासियों के वर्त्तमान आचार विचारों का संस्कार अवश्य ही होना उचित है। वे दोनों ही वर्णाश्रमधर्म के शीर्षस्थानीय है। अत: उनकी पुनरुन्नति हुए बिना आर्यजाति या समाज की स्थायी उन्नति नहीं होगी। ब्राह्मण चारों वर्णों में प्रधान हैं, ब्राह्मण ही आर्य प्रजा के सदा चालक होते आये हैं। अत: ब्राह्मणगण जितनी योग्यता प्राप्त करेंगे, समाज में उनका जितना आदर बढ़ेगा, चातुर्वर्ण्य का उतना ही कल्याण हो सकेगा। अस्तु, ब्राह्मण जाति की उन्नति पर ही प्रधानत: आर्यजाति की उन्नति निर्भर हो रही है। शरीर में मस्तक सर्वश्रेष्ठ अङ्ग होने से मस्तक के बिगड़ने से सारा शरीर बिगड़ता है और उसके ठीक रहने से ही सारा शरीर ठीक रहता है। हिन्दू समाज रूपी विराट् शरीर का मस्तक ब्राह्मण तथा सन्यासी हैं। अत: इनकी स्वरूप स्थिति के ऊपर ही हिन्दू समाज की सब प्रकार की उन्नति पूर्णरूप से निर्भर है।

तमोगुण की अधिकता के कारण तथा ब्राह्मणजाति में विद्या का बहुत ही अभाव होने के कारण ब्राह्मणों की बहुधा दृष्टि अब धन की ओर पड़ी है और तपसाधन करना ब्राह्मणगण भूल रहे हैं। अत: विद्याप्रचार के साथ ही साथ ब्राह्मणगण जितना समझेंगे कि, उनका धन सुवर्ण आदि नहीं है किन्तु उनका परम धन विद्या है, ब्राह्मणगण जितना समझेंगे कि

उनका भूषण ऐश्वर्य नहीं है किन्तु उनका भूषण केवल त्याग और तप है, उतनी ही उस जाति की पुनरुन्नति होगी। समाज में यह प्रथा प्रचलित होना उचित है कि धन के द्वारा ब्राह्मणों की मर्यादा न बाँधी जाय, किन्तु केवल तपशक्ति, त्यागप्रवृत्ति और विद्या को देखकर ब्राह्मणों की मर्यादा बाँधी जाय। जिससे उत्तर भारत और दक्षिण भारत के ब्राह्मण भ्रातृसम्बन्ध से परस्पर मिल सकें, ऐसा यत्न करना होगा; महाराष्ट्र ब्राह्मण बङ्गाली ब्राह्मण आदि देशविभागों से जो ब्राह्मण जाति का विभाग बंध गया है, उन सब ब्राह्मण समाजों में परस्पर मैत्री स्थापन होकर एक दूसरे में जो अनाचार हैं, उनको दूर करते हुए उनमें जहाँ जहाँ सदाचार हैं उनको परस्पर में ग्रहण करने की प्रवृत्ति दी जाय; तभी ब्राह्मणजाति की उन्नति हो सकती है। पंचगौड़ और पंचद्राविड़ ब्राह्मणों में इतना वैमनस्य हो गया है कि गृहस्थाश्रम ही की दशा में वे एक दूसरे से अलग हते हैं यही नहीं किन्तु सन्यासाश्रम ग्रहण करने पर भी उनका वैमनस्य ूर नहीं होता; उस दशा में भी उनका पृथक् खानपान, उनकी पृथक् प्रवृत्ति बनी रहती है। अस्तु, समाजानुशासन की प्रवृत्ति करते हुए, आचार का संशोधन कराकर, इस प्रकार के अशास्त्रीय वैमनस्य को दूर करके ब्राह्मणजाति के पारस्परिक प्रेम की सहायता परस्पर को लेना उचित है। ब्राह्मणों में अविद्या के विस्तार के साथ ही साथ पुरुषार्थ प्रवृत्ति एक बार ही नष्ट हो गई है। अत: इस श्रेष्ठ जाति में अब तक निष्काम पुरुषार्थ की पुन: प्रवृत्ति न होगी; जब तक वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रम गुरु सन्यासियों में श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् के कर्मयोगविज्ञान की पुन: प्रवृत्ति नहीं होगी, तब तक इस अध:पतित आर्यजाति की पुनरुन्नति और हिन्दू समाज का पुनरभ्युदय होना बहुत ही कठिन है।

आजकल के सांसारिक लोग प्राय: ऐसा विचार करने लगते हैं कि ज्ञानवान् होने पर ही, संन्यास आश्रमधारी होने पर ही जड़वत् निश्चेष्ट हो जाना उचित है। ब्राह्मणगण में जहाँ कुछ तत्त्वविज्ञान की प्रवृत्ति की उत्पत्ति हुई उसी समय वे समझने लगते हैं कि बस अब हाथ पाँव हिलाना अनुचित है। गृहस्थगण ऐसा विचारकर यह निश्चय करने लगते हैं कि साधुओं को और कुछ भी करणीय नहीं रहता, उनको केवल इतना ही उचित है कि या तो वे लोकालय और मनुष्यसमाज को त्यागकर

निर्जन वन में जाकर एकान्तसेवी हो जायँ अथवा मूक, निष्क्रिय, पुरुषार्थहीन होकर जड़वत् हो रहें। दूसरी ओर आजकल के नानारूपधारी सन्यासाश्रम में प्रवृत्त हुए साधुगणों में वैसा ही प्रकार दृष्टिगोचर होता है। आजकल के भिक्षुकाश्रमधारी साधकों में आलस्य, पुरुषार्थहीनता, पारलौकिक स्वार्थपरता, परोपकारवृत्ति का त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधन का अभाव आदि वृत्तिसमूह देखने में आता है। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के आश्रमधर्म नामक अध्याय में पूर्ण रूप से विचार तथा शास्त्रप्रमाण द्वारा सिद्ध किया गया है कि, बिना निष्काम कर्मानुष्ठान के साधक को कभी पूर्णता प्राप्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि त्रिविध शुद्धियाँ जो कि पूर्णता की साधक हैं, उनमें से आधिभौतिक शुद्धि बिना निष्काम कर्म साधन के हो ही नहीं सकती और निष्काम कर्मानुष्ठान द्वारा अपनी सत्सत्ता परमात्मा की सत्सत्ता से मिलाये बिना जीवत्व का परिच्छिन्न भाव कदापि नष्ट नहीं हो सकता। अत: सन्यासियों को कर्मत्याग करना पूर्णतया शास्त्रविरुद्ध है। इसके सिवाय तम:प्रधान कलियुग में निष्काम कर्मयोग के बिना तमोमूलक आलस्य प्रमादादि दोष दूर करने का और कोई भी उपाय नहीं है। हिन्दू समाज के मुकुटमणिरूप सन्यासीगण आज जो घृणा की दृष्टि से देखे जा रहे हैं; उनको भिक्षा देना तो दूर रहा उनका नाम सुनते ही गृहस्थ लोग घबड़ाने लगते हैं, सहस्रों प्रकार के अनाचार, दुराचार, स्वार्थपरता, लोभ, अर्थलालसा, इन्द्रिय भोगप्रवृत्ति, आश्रम और जीवनभ्रष्टकारी दुर्गुण आजकल साधु-सन्यासियों में प्राय: देखने में आते हैं, यह सब सन्यासजीवन में पुरुषार्थशीलता के अभाव का ही फलरूप है। यदि केवल भारत के साधु तथा सन्यासी ही संयमी, जितेन्द्रिय, एषणा अर्थात् आकांक्षा त्रयहीन और निष्कामव्रतपरायण हो जायँ तो वे हिन्दू समाज की वर्तमान हीन-अवस्था एक दिन में ही सुधार सकते हैं; क्योंकि जहां समाज के मस्तक रूप ब्राह्मण और सन्यासी सुधरे, वहाँ ब्राह्मण से अतिरिक्त सब जाति का कल्याण और अभ्युत्थान अवश्यम्भावी है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अत: ब्राह्मण तथा सन्यासियों के सुधार पर सामाजिक नेता की दृष्टि होनी चाहिए।

(६) बिना शिक्षा के कोई भी जाति या समाज उन्नति नहीं कर

सकता, क्योंकि शिक्षा ही मनुष्य के यथार्थ मनुष्यत्व विकास का कारण है। हिन्दू नेता को चाहिए कि हिन्दू नरनारियों में स्वजातीय शिक्षा का प्रचार करे, क्योंकि स्वजातीय शिक्षा के द्वारा ही स्वजातीय भाव और यथार्थ मनुष्यत्व का विकास हो सकता है। हिन्दू रमणियों को सतीधर्म रक्षा के अनुकूल सत्‌शिक्षा देने से और पुरुषों को प्रथमावस्था में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराकर धर्मानुकूल सत्‌शिक्षा देने से इस समय के सामाजिक प्रबल रोग में सुपथ्य प्रयोग हो सकता है। यदि स्त्रियों और पुरुषों के लिये उपयोगी स्वतन्त्र सत्‌शिक्षा का प्रचार नहीं किया जायगा तो विरुद्ध फल अवश्यम्भावी है। यूरोप और अमेरिका में धर्मानुकूल सत्‌शिक्षा के अभाव का ही कारण है कि वहाँ कि स्त्रियाँ दिन प्रतिदिन पुरुषभावापन्न और विपथगामिनी होती जाती हैं। आर्यसन्तानों में जिस प्रकार की आजकल शिक्षा हुआ करती है, उससे दिन प्रतिदिन आर्यजनों में स्वार्थपरता की वृद्धि होती जाती है; अर्थात् आर्यसन्तानों की दृष्टि शरीर संबंधी व्यापारों पर ही बढ़ती जाती है और उनमें से धर्मभाव और निष्काम कर्तव्य का नाश होता जाता है। जब तक सदाचार एवं धर्मशिक्षा की शैली का प्रचार उनमें न होगा, तब तक कदापि आर्यजाति की उन्नति होनी संभव नहीं है। बालकों को जिस प्रकार से आजकल पढ़ाया जाता है, उस प्रकार के अभ्यास द्वारा वे कदापि सदाचार और धर्मशिक्षा में अपने आपसे उन्नत नहीं हो सकेंगे। आजकल केवल मुख से धर्म धर्म कहने की रीति प्रचलित होती जाती है वैसे वाचनिक धर्म से हिन्दू समाज और जाति का कल्याण होना असम्भव है। जब तक धर्म के साधन पर भारतवासियों की रुचि नहीं बढ़ेगी, तब तक वे कदापि उन्नति को नहीं प्राप्त कर सकेंगे। जिस शिक्षा के द्वारा इच्छाशक्ति का वेग और उसकी स्फूर्ति धर्मानुकूल होकर अपने स्वाधीन और सफल काम होती है, जिस शिक्षाप्रणाली द्वारा मनुष्यों में से स्वार्थपरता का नाश होकर स्वजाति प्रेम और जगत् के कल्याण की बुद्धि का अधिकार प्राप्त होता है, उसी शिक्षा को यथार्थ शिक्षा कहते हैं, परन्तु दुःख का विषय है कि आजकल संस्कृत पाठशाला तथा चतुष्पाठी आदि में शिक्षाप्रणाली की असम्पूर्णता के कारण उल्लिखित शिक्षालक्षणों का अभाव और साथ ही साथ लौकिक ज्ञान का भी अभाव देखने में आता है और स्कूल

कालेजों की शिक्षा में लौकिक ज्ञानप्राप्ति का उपाय रहने पर भी धर्म मूलक अन्यान्य शिक्षा का पूर्ण अभाव देखने में आ रहा है। अत: हिन्दू नेता का प्रधान कर्तव्य है कि वे हिन्दू जीवन में यथार्थ शिक्षा का अंकुर उत्पन्न करें। यथार्थ विद्या की प्राप्ति के लिये प्राचीन ऋषिकाल के आदर्श पर नवीन पठन शैली का आविष्कार किया जाय और साथ ही साथ धार्मिक शिक्षा देने का प्रधान लक्ष्य रक्खा जाय। विद्यार्थिगण किस प्रकार से यथार्थ विद्या को प्राप्त कर सकते हैं, कैसे वे ब्रह्मचर्यव्रत के अधिकारी हो सकते हैं, कैसे वे देशकाल और स्वदेशहितैषी बन सकते हैं, कैसे वे अपने स्वार्थ को कम करते हुए वर्णाश्रम धर्म की उन्नति करने में सफल हो सकते हैं और कैसे वे अपने अभावों को संकोच करते हुए ज्ञानवान् होकर मनुष्यत्व को प्राप्त कर सकते हैं, इसकी खोज सदा की जाय और जो जो सुगम उपाय निश्चित होते जायँ उन्हीं के अनुसार स्कूल, कालेज तथा संस्कृत विद्यालयों में शिक्षाप्रणाली प्रचलित कराई जाय।

पूज्यपाद महर्षियों ने अज्ञान नाशकारिणी और ज्ञानजननी को विद्या कहा है। इस समय विद्या के नाम से जो शिक्षा दी जाती है, वह यथार्थ विद्या की शिक्षा नहीं है। वह आर्यसिद्धान्त के अनुसार विद्या शिक्षारूप से अभिहित नहीं हो सकती। उससे केवल अर्थोपार्जन की योग्यता और देशकाल का ज्ञान हुआ करता है, उससे न आत्मा का अज्ञान नाश होता है और न उससे अध्यात्म विद्या की प्राप्ति होती है। आर्यजाति के लिये ऐसी शिक्षाप्रणाली का जारी होना उचित है कि जिसमें ऊपर कथित दोनों लक्षण पाये जायं; अर्थात् जिस शिक्षा प्रणाली में लौकिक अभ्युदय के सब सामान रहने पर भी जिसका अन्तिम लक्ष्य ज्ञानजननी विद्या के चरणों में ही रहे, वही आर्यजाति के लिये सत्शिक्षा है।

लौकिक शिक्षा के प्रचार करने में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का विचार कदापि करना उचित नहीं है। धर्म के क्रियासिद्धान्त की शिक्षा देने में और वेद तथा वैदिक ज्ञान की शिक्षा देने में अवश्य ही वर्णाश्रम के अधिकार का विचार रखना कर्तव्य है; परन्तु आर्यजाति के पुनरभ्युदय के लिये जबतक सार्वजनिक शिक्षा का विस्तार न किया जायगा, तब तक सफलता की सम्भावना नहीं है। भारत विजय के समय मुसलमान जेता कितना सेनाबल लाये थे? भारत को अपने अधीन करते

समय अङ्गरेज जाति के साथ कितनी सेना थी? सात सौ वर्षों के मुसलमान साम्राज्य में छ; कोटि मुसलमान (अब १२ करोड़) और सौ वर्षों के ईसाई साम्राज्य में एक करोड़ ईसाई हो जाने का कारण क्या है? अर्थलोलुप विदेशीय वणिकों के थोड़े ही यत्न द्वारा भारतवर्ष की अमूल्य शिल्पराशि का नाश क्यों हो गया है? परमोदार समदृष्टिसम्पन्न सनातनधर्म में घोर अमङ्गलकर साम्प्रदायिक विरोध का क्या कारण है? जिन महर्षियों के उपदेशसमूह में कहीं भी अन्यधर्म-विद्वेष की छाया मात्र भी नहीं पाई जाती, उनके ही वंशधरों में स्वधर्मविद्वेष का घोर अनल प्रज्वलित होने का प्रधान कारण क्या है? जिस आर्यजाति के आदि नेता और आदिशिक्षिक पूज्यपाद महर्षिगण अपने स्वार्थ को सम्पूर्ण रूप से त्याग करते हुए केवलमात्र जगत् कल्याण कामना के वशीभूत हो परोपकारव्रतपरायण होकर जीवन निर्वाह करते थे, आज उनके ही वंशसम्भूत क्या गृहस्थ और क्या सन्यासी- घोर आलस्यपरायण, स्वार्थपर और प्रमादग्रस्त होकर प्राचीन परिचय देते हुए लज्जित क्यों नहीं होते हैं? विचार करने पर यही सिद्धान्त होगा कि भारतवर्ष की सकलश्रेणी की हिन्दू प्रजा में अज्ञान का घोर प्रभाव ही इसका प्रधान कारण है। सार्वजनिक शिक्षा से ही वह अभाव दूर हो सकेगा। अत: इस प्रकार जातीय उन्नतिकर शिक्षा के प्रति हिन्दूनेता का ध्यान अवश्य ही रहना चाहिए।

(७) केवल अनुकरण के द्वारा कोई भी समाज या जाति उन्नति नहीं कर सकती, क्योंकि दूसरे किसी का अनुकरण अपने आप को नष्ट करता है। विजातीय अनुकरण स्वजातीय भाव को तिरस्कृत करता है, जिससे स्वजातीय उन्नति का पथ कण्टकमय हो जाता है। पृथ्वी के इतिहास में अनेक चित्र इस प्रकार देखे गये हैं कि, एक जाति अन्य जाति का अनुकरण करती हुई अन्त में अपनी जातीयता तथा पृथक् अस्तित्व खो बैठी है और क्रमश: दूसरी जाति में लय हो गई है। इसलिये विजातीय अनुकरण सर्वथा परित्याज्य है। स्वजातीय उद्भावन या आविष्कार ही उन्नति का सेतु है, विजातीय अनुकरण अवनति का द्वार स्वरूप है। उद्भावन में हृदय, मस्तिष्क, प्रतिभा, बुद्धि आदि की स्फूर्ति होती है, अनुकरण में ये सभी स्फूर्तियाँ नष्ट होकर स्वाधीन

अनुसन्धान प्रवृत्ति समूल नष्ट होकर क्रमशः चित्त में परतन्त्रता का भाव उत्पन्न होता है और अन्त में विजातीय भाव समस्त हृदय को ग्रास कर लेता है। इस प्रकार अनुकरण-परायण हतभाग्य जाति या समाज की दृष्टि में कुछ दिनों के बाद स्वजातीय या स्वसामाजिक कोई भी भाव या आदर्श उत्तम प्रतीत नहीं होता। यहाँ तक कि स्वकीय पूर्वजों तथा पितामाताओं का भी आदर्श उनकी दृष्टि में निकृष्ट मालूम होने लगता है, वे सब विषयों में दूसरों के शिष्य हो जाने में ही अपना गौरव समझते हैं, पूर्वजों के दोष दर्शन में ही अपनी विद्वत्ता समझते हैं और पिता-माता तथा देशाचार और वंशमर्यादा की निन्दा करने में सदा ही तत्पर दिखाई पड़ते हैं और इस महापाप का फल यह होता है कि कुछ दिनों के बाद ऐसी जाति या समाज चिरकाल के लिये कालसमुद्र में डूब जाता है। अतः सामाजिक नेता को चाहिए कि वे अपने समाज को सदा ही इस प्रकार विजातीय अनुकरण-प्रवृत्ति से बचा रक्खें; समाज के हृदय में उद्भावन के गौरव को दृढ़ करें, जिससे नवीन जातीय-भावमूलक उद्भावन के द्वारा सामाजिक उन्नति का द्वार उन्मुक्त हो जाय।

कोई जाति जब अन्य किसी जाति पर राजसिक अधिकार स्थापन करती है, तो विजित जाति के अन्तःकरण में जेता जाति के सकल प्रकार की चेष्टाओं का अनुकरण करना स्वाभाविक हो जाता है, जिससे उपरोक्त परिणाम विजित जाति पर होना भी अवश्यम्भावी हो जाता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु इस प्रकार के अनुकरण में दोष का अनुकरण ही अधिक हो जाता है; क्योंकि गुण की अपेक्षा दोष का अनुकरण सहज है। इसका फल यह होता है कि, इस प्रकार के जातीय सद्भाव से भ्रष्ट, विजातीय कुभावयुक्त, परतन्त्र जाति कुछ दिनों में ही एक ''किम्भूतकिमाकार'' घृणित रूप को धारण कर लेती है। विश्व जगत् के विराट् शरीर में पीप से पूर्ण व्रण की तरह इस प्रकार की जाति का अस्तित्व ही पृथ्वीमाता के लिये कष्टकर हो जाता है। इस दशा में उल्लिखित दुर्दशा से जाति की रक्षा के लिये केवल दो उपाय हो सकते हैं (क) वस्तु का अनुकरण न करके भाव का अनुकरण करना। (ख) विजाति के अन्तर्गत अनुकरण करने योग्य विषयों को इस तरह से हृदयङ्गम करना कि उससे स्वजातीय मर्म नष्ट न होकर उज्ज्वलतर हो

जाँय। दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है। किसी जेता जाति की स्वदेशीय शिल्पोन्नति के प्रति विशेष दृष्टि है; जिससे विदेशीय शिल्प के प्रति उपेक्षा करके भी वह स्वदेशीय शिल्प की ही उन्नति का प्रयत्न करती है। अब इस विषय में विजित जाति का अनुकरण करने योग्य विषय यह होना चाहिए कि जेताजाति के इस अपने जातीय शिल्प के प्रति प्रेम के भाव का अनुकरण करें; अर्थात् अपने जातिगत शिल्प की उन्नति के लिये न्यायसङ्गत और उचित उपाय का अवलम्बन करें, यही भाव का अनुकरण होगा। द्वितीय उपाय का सिद्धान्त यह है– किसी जेता जाति में पदार्थविद्या या सायन्स की विशेष उन्नति हुई, जिससे विजित जाति में उसके अनुकरण के प्रति विशेष आसक्ति उत्पन्न हुई, इस दशा में दो भाव हो सकते हैं, यथा– विदेशी पदार्थ विद्या का प्रत्यक्ष फल देखकर स्वदेशी सूक्ष्म विज्ञान का गौरव भूला जाय और उसकी निन्दा की जाय; या विदेशी पदार्थ विद्या का ज्ञान प्राप्त करके स्वदेशी पूर्वजों के द्वारा प्रदर्शित आचार और अन्यान्य सामाजिक तथा आध्यात्मिक विषयों के मूल में भी सूक्ष्म सायन्स की गम्भीर भित्ति का अन्वेषण किया जाय और संसार को बताया जाय कि अन्यान्य देश के सायन्सवालों ने जो कुछ वर्षों से बताया है हमारे पूर्वजों ने वे सब विषय लाखों वर्ष पहले ही बताये हैं। पूर्व भाव अनुकरण सदोष और द्वितीय भाव यथार्थ अनुकरण है; क्योंकि ऐसा होने से ही अनुकरण योग्य विषयों के द्वारा स्वजातीय मर्यादा का नाश न होकर उसकी और भी पुष्टि तथा उज्ज्वलता होगी। विजित जाति यदि उल्लिखित दोनों उपायों के साथ जेताजाति का अनुकरण करे तो कोरे अनुकरण के कुफल से बचकर समाज और जाति का कल्याण, पूर्वजों की गौरव रक्षा तथा आत्मोन्नति कर सकेगी। अतः सामाजिक नेता को अपने समाज में इन उपायों का प्रचार करना चाहिए।

(८) यह बात पहले ही कही गई है कि, जिस जाति में स्वजातीय मनुष्यों में दोषदर्शन प्रवृत्ति है, उस जाति में गुणी पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते; क्योंकि गुणदर्शन प्रवृत्ति की सम्मिलित शक्ति के द्वारा ही देश में गुणवान् और विभूतियुक्त नेताओं का आविर्भाव हो सकता है। जिस जाति के प्रत्येक मनुष्य में परछिद्रान्वेषण-प्रवृत्ति है, उस जाति के सकल मनुष्यों के ही हृदय दोषदर्शन-प्रवृत्ति के द्वारा कलुषित हो जाते हैं और एतादृश कलुषित समाज या जाति में शुद्ध उदारहृदय महापुरुष

उत्पन्न नहीं हो सकते। यही कारण है कि पराधीन तथा हीन जाति में दोषदर्शन प्रवृत्ति और स्वाधीन और उन्नतिशील जाति में गुणदर्शन-प्रवृत्ति के लक्षण देखने में आते हैं। भारत की वर्त्तमान सामाजिक दीन दशा में दोषदर्शन प्रवृत्ति की बहुत ही वृद्धि हो रही है। हिन्दू समाज में से गुणपक्षपात का भाव दिन ब दिन नष्ट होता है और स्वधर्म और स्वजाति के विद्वेष की आग अत्यन्त प्रबल भाव को धारण कर रही है। हम अपने जाति भाई या एकधर्मी भाई की उन्नति देखकर जल मरते हैं और अत्यन्त ईर्ष्यान्वित होकर यत्न करते हैं कि जातिभाई किसी तरह से समाज की दृष्टि में पतित हो जायं और उनकी उन्नति नष्ट हो जाय। किसी मनुष्य को या मनुष्य संघ को किसी अच्छे कार्य को करते हुए देखने से ही हमारा चित्त ईर्ष्या से जल जाता है और हम उस महत्कार्य में बाधा डालने की चेष्टा करते हैं, भीतर भीतर विरोध बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और गुप्त या प्रकाश्य रूप से उस कार्य की या उन मनुष्यों की निन्दा करते रहते हैं। इन सब जातीय महापापों के कारण से ही हिन्दू समाज की दुर्दशा हो रही है और इसमें न कोई महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं और न किसी महत्कार्य में सिद्धि ही लाभ हुआ करती है। अतः हिन्दू समाज की उन्नति के लिये सामाजिक समस्त मनुष्यों को दोष-दर्शन प्रवृत्ति छोड़कर गुण के पक्षपाती बनना चाहिए। स्वधर्म-विद्वेष तथा स्वजाति विद्वेष के भाव को एकदम त्याग कर देना चाहिए और जहां पर कुछ भी गुण हो उसी का आदर और उसको उत्साह प्रदान करना चाहिए। संसार त्रिगुणमयी माया का लीलाक्षेत्र है। इसमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण सर्वत्र ही रहते हैं। श्रीभगवान् ने कहा है–

''सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।''

प्रत्येक कार्य ही धूम से ढकी हुई अग्नि की तरह दोषयुक्त होता है। शुद्ध सात्त्विक सर्व सद्‌गुणाधार, दोषलेशवर्जित मनुष्य या कार्य संसार में नहीं मिल सकता; क्योंकि परिणामशील संसार में पूर्णता कहीं भी नहीं पाई जाती। जहाँ माया का कुछ भी सम्पर्क है, वहाँ कुछ न कुछ असम्पूर्णता है। अतः हम चाहें कि किसी मनुष्य में सब गुण ही गुण हों, एक भी दोष न हो, सो कदापि सम्भव नहीं हो सकता। अतः विचारवान् पुरुष को चाहिए कि हंस की तरह दोष के प्रति उपेक्षा करके जिस मनुष्य

में या जिस कार्य में जितना गुण हो वह उसी का ग्रहण और योग्य सत्कार करे, कदापि दोषदर्शी न बने। ऐसा करने से ही अपनी और जाति की उन्नति अवश्य होगी। गुणपक्षपात के साथ साथ तिरस्कार तथा पुरस्कार की पद्धति भी अवश्य ही समाज में प्रचलित होनी चाहिए; अर्थात् गुणी पुरुष का यथायोग्य पुरस्कार और गुणहीन का तिरस्कार होना चाहिए। आजकल हिन्दू-समाज में तिरस्कार और पुरस्कार की प्रथा बहुत ही बिगड़ गई है। यहाँ पर सदाशय, सरलचेता, गुणी व्यक्ति प्राय; उपेक्षित होते हैं और कपटाचारी दुर्गुणी ठगों की पूजा तथा आदर हुआ करता है। इसका यही विषमय परिणाम हो रहा है कि गुणी पुरुष समाज में से दिन प्रतिदिन घटते जाते हैं और विषकुम्भ पयोमुख कपटाचारी गुणहीन पुरुषों की ही संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है और अन्धे समाज की दृष्टि में ऐसे ही मनुष्य नेता और पूज्य गिने जाते हैं। जहां पर नेतृत्व भार ऐसे कपटाचारी दुर्गुणी पुरुषों के हाथ में हो उस समाज में मनुष्यों की क्या दुर्गति होगी सो सभी लोग अनुमान कर सकते हैं। किसी महान् पुरुष में विशेष योग्यता और गुण होने पर भी समाज की ओर से उत्साह, सहायता तथा सत्कार न मिलने से वह गुण या योग्यता प्रकट होने नहीं पाती, अरण्य में खिले हुए पुष्प की तरह अरण्य में ही उसका नाश हो जाता है। अतः हिन्दू जाति में प्राचीन गुणगरिमा की पुनः प्रतिष्ठा के लिये गुणपक्षपात के साथ ही साथ जिससे तिरस्कार पुरस्कार की भी शुद्ध रीति का प्रचलन हो, ऐसा उपाय सामाजिक नेताओं को अवश्य करना होगा। जिससे तीर्थों और धर्मस्थानों में विद्वान् ब्राह्मणों का सत्कार बढ़े तथा मूर्ख ब्राह्मणों की अप्रतिष्ठा हो, जिससे समाज में तथा सामाजिक नेताओं के द्वारा विद्वान्, शक्तिशाली तथा सच्चरित्र पुरुषों की अधिक सेवा हो सके, जिससे देशी रजवाड़ों, राजा, महाराजा, जमीन्दारों और सेठ साहूकारों के द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों की जीविका की वृद्धि हो इसका प्रयत्न सदा ही करना उचित है। गृहस्थाश्रम सब धर्मों का मूलरूप है। अतः सदाचारी गृहस्थगण जिससे समाज में अधिक रूप से सम्मानित हो सकें, इसका उपाय करना कर्त्तव्य है। गृहस्थों के पुरोहित आदि पद जिससे योग्य व्यक्तियों को हाथों में दिये जायं, जिससे तपस्वी, भक्तिमान् तथा सदाचारी ब्राह्मण कर्म्मकाण्ड के अधिष्ठाता बनें

ऐसा लक्ष्य रखना होगा। जिससे कुलगुरु मूर्ख होने पर भी उससे दीक्षा ग्रहण की अन्धपरम्परा की शैली से उठकर ज्ञानवान् त्रितापहारी व्यक्ति से गुरुदीक्षा लेने की शैली समाज में प्रचलित हो, जिससे ढोंगी, मूर्ख और कपटवेषधारी साधु सन्यासियों का आदर घटकर तप:स्वाध्याययुक्त त्यागशील तत्त्वज्ञानी और निष्काम कर्म्मयोगी साधु सन्यासियों का आदर समाज में बढ़े और जिससे कपटचारी स्वार्थी व्यक्ति समाज के नेतृत्वपद को प्राप्त न कर सकें इसका प्रयत्न होना चाहिए। ब्रह्मचर्य आश्रम का पुन:प्रवर्तन करते समय यही लक्ष्य रखा जाय कि विद्यार्थिगण सदाचारी, संयमी, चरित्रवान्, स्वदेशहितैषी, नि:स्वार्थव्रतधारी, कर्तव्यपरायण और सद्गृहस्थ के उपयोगी बन सकें। जहां कुछ भी गुण का लक्षण देखा जाय, सहस्र सहस्र दोषों को भूलकर वहां उसी समय उसको उत्साहित किया जाय। पदार्थविद्या, अध्यात्मविद्या, शिल्पकला आदि किसी विद्या में किसी प्रतिभासम्पन्न पुरुष के द्वारा कोई भी नया आविष्कार होने से तन मन धन के द्वारा उसमें सहायता की जाय, जिससे उसके आविष्कर्त्ता का उत्साह शतगुण वर्द्धित होकर उसे अपने कार्य में विशेष निष्ठा या तत्परता प्राप्त हो। इस प्रकार से मधुकर की तरह समाज के प्रत्येक मनुष्य में गुणग्राहिता-वृत्ति के उदय होने से हिन्दू-समाज रूपी कल्पतरु शीघ्र ही अपूर्व उन्नति-फल को उत्पन्न करेगा। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। अत: सामाजिक नेता को उल्लिखित उन्नति के उपायों के प्रति अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए।

(९) हिन्दू-शास्त्र में सकल अवस्था में ही शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक प्रकृति के अनुकूल चलने को ही धर्म और उन्नति का कारण माना गया है। साधक अपनी त्रिविध प्रकृति के अनुसार ही साधन करके उन्नति को लाभ कर सकता है। कर्मयोगी देशकाल की प्रवृत्ति के अनुसार ही सत्पुरुषार्थ के अनुष्ठान द्वारा कर्मयोग में सिद्धि लाभ कर सकता है। नदी में नाव प्रवाह और वायु की प्रकृति के अनुकूल ही चलकर गन्तव्य स्थान में पहुँच सकती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक समाज की उन्नति भी देशकाल तथा युग की प्रकृति के अनुसार हो सकती है। प्रत्येक युग में जीवों की उत्पत्ति युगधर्मानुसार ही हुआ करती है, अत: उन्नति के

लिये युगधर्म का विचार करना उचित है। भगवान् वेदव्यासजी ने इसी युगधर्म का विचार करके ही चार युगों में उन्नति के चार उपाय बताये हैं। यथा–

त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च संघ- शक्तिः कलौ युगे।।

सत्ययुग में ज्ञान की शक्ति के द्वारा, त्रेता में मन्त्र की शक्ति के द्वारा और कलियुग में एकता की शक्ति के द्वारा जाति की उन्नति होती है। अतः श्रीभगवान् वेदव्यासजी के उपदेशानुसार इस युग में समाज और जाति के लिये एकता ही सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है, ऐसा निश्चय हुआ। पृथ्वी के इतिहास की चर्चा करने से इस सिद्धान्त की सत्यता अक्षरशः अनुभव होती है। वर्तमान समय में पृथ्वीभर की जो जो जातियां व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक समस्त उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर आरूढ़ हैं, उनकी उन्नति के मूल में एकता की शक्ति ही कारणरूप से विद्यमान है। आज जो हिन्दू समाज और हिन्दू जाति अन्धकूप में डूब रही है इसका भी कारण एकता का ही अभाव है। भारतमाता रत्नप्रसविनी होने पर भी हिन्दू सन्तान आज जो दरिद्र हैं; ज्ञान का अनन्त भण्डार भारत में भरा रहने पर भी हिन्दू जाति जो आज "बेवकूफों की जाति" कहलाती है; अनन्त शिल्पों का आकर भारतवर्ष में होने पर भी जीवनयात्रा और लज्जानिवारण के वास्ते आज जो हिन्दू जाति को परमुखापेक्षी होना पड़ता है; अनन्त शक्ति का बीज ऋषिसन्तान आर्यजाति के हृदय में प्रच्छन्न रहे पर भी आत्मरक्षा के लिये आज जो आर्यजाति को परनिर्भरता का सहारा लेना पड़ता है, वेदान्त का एकात्मवाद सर्वत्र प्रचारित होने पर भी हिन्दू समाज के प्रतिगृह में ईर्ष्या, द्वेष या कलह का आग धकधका कर जल रही है, यह सब हिन्दू जाति और समाज में एकता के अभाव का ही विषमय फल-स्वरूप है। अतः हिन्दू सामाजिक नेता को समाज के मनुष्यों में परस्पर ऐक्यस्थापन करने के लिये सदा ही प्रस्तुत होकर उदार तथा दूरदर्शितापूर्ण उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। मतभिन्नता, रुचिवैचित्र्य और व्यक्तिगत स्वार्थ ही सामाजिक एकता की सिद्धि में प्रधान अन्तराय अर्थात् बाधक हैं। हिन्दू जाति में जातीय जीवन आजकल नष्ट प्राय होने से व्यष्टिगत

मतभिन्नता और रुचिवैचित्र्य के द्वारा समाज की बहुत हानि हो रही है। सभी नेतृत्व लोलुप व्यक्ति चाहते हैं कि मेरी ही सम्मति मानी जाय, मेरी रुचि के अनुसार ही कार्य हो और यदि मेरी सम्मति तथा रुचि के प्रति उपेक्षा हो, तो समाज की उन्नति नहीं होनी चाहिए और ऐसा समाज टूट जाना चाहिए और हम सारा पुरुषार्थ इसे तोड़ने के वास्ते ही लगावेंगे। इस प्रकार का भाव प्राय: सभी के हृदय में विद्यमान है और इसीलिये सामाजिक उन्नतिकर प्रत्येक कार्य में हजारों लड़ाई झगड़े और विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं जिससे उन्नति का पथ अति दुर्गम हो जाता है। समाज किसी की व्यक्तिगत रुचि या राय का परिणाम नहीं है; परन्तु समष्टिगत रुचि और राय का ही फलरूप है। इसलिये हमारी राय मानी जाय तब समाज रहे या टूटे और हम ऐसे समाज को तोड़ देंगे, यह विचार सर्वथा न्याय तथा आचार से विरुद्ध है। सामाजिक समस्त कार्यों में ही अपनी रुचि और सम्मति को सबकी रुचि तथा सम्मति के साथ मिला देना होगा। अपनी रुचि तथा सम्मति में कुछ व्यक्तिगत पक्षपात रहे तो उसे भी समष्टिभाव में विलीन कर देना होगा और सबकी कल्याणकामना से स्वपाक्षिक भाव को छोड़ देना होगा तभी उन्नतिकर समस्त सामाजिक कार्य में एकता प्राप्त हो सकेगी। अन्यथा विरोध तथा चित्त का पारस्परिक विकार बढ़कर समाज को नष्ट कर देगा। सामाजिक समस्त पुरुषों की ही व्यष्टिजीवन तथा समष्टिजीवन का पार्थक्य हृदयङ्गम करना चाहिए और समष्टिजीवन यज्ञ में व्यष्टिजीवन की आहुति प्रदान के अर्थ सदैव सन्नद्ध रहना चाहिए। सामाजिक एकता का तीसरा अन्तराय व्यक्तिगत स्वार्थ है। इस प्रकार स्वार्थ के द्वारा दो तरह से समाज की हानि होती है। एक– समाज के द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि करना और दूसरा– व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिये सार्वजनिक स्वार्थ में उदासीन रहना या उसकी हानि करना। आजकल समाज के द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि परायण मनुष्यों की कमी हिन्दूसमाज में नहीं है। इस प्रकार नीचाशय मनुष्य किसी न किसी स्वार्थ से समाज में सम्मिलित होते हैं या हो सके तो समाज के नेता बनते हैं और समाज का गला घोंटकर अपनी स्वार्थसिद्धि करने के लिये भीतर भीतर सदा ही प्रयास करते रहते हैं। ऐसे मनुष्य के हृदय में समाज की कल्याण-चिन्ता नहीं होती वे

केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि की ओर खींचने का प्रयास करते हैं और सामाजिक उन्नति के लिये अत्यावश्यकीय होने पर भी ऐसा कोई भी कार्य समाज में नहीं होने देते, जिससे उनकी स्वार्थ सिद्धि न हो या उसमें बाधा हो। जिसका फल यह होता है कि समाज के लोगों में कुछ दिनों के बाद ही मनोमालिन्य तथा मतभेद उत्पन्न होकर समाज एकदम रसातल को पहुँच जाता है। अत: इस प्रकार एकता भ्रष्टकारी नीच मनुष्यों से समाज को सदा ही बचना चाहिए। तीसरा– व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिये सार्वजनिक कल्याणकर कार्य में उदासीन रहना या उसकी हानि करना है। समाज जब सार्वजनिक स्वार्थ का ही साधक है तो बिना व्यक्तिगत स्वार्थ का सङ्कोच किये कोई भी समाज कार्यकारी नहीं हो सकता। सबके कल्याण के लिये अपने स्वार्थ का अवश्य ही सङ्कोच करना पड़ता है; क्योंकि व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ एक व्यक्ति या एक परिवार का और सामाजिक स्वार्थ के साथ अनेक व्यक्ति या अनेक परिवारों का मिश्रसम्बन्ध होने से अनेक समय व्यक्तिगत स्वार्थ और सामाजिक स्वार्थ का सामञ्जस्य नहीं रहता। उस दशा में वृहत् सार्वजनिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये व्यक्तिगत स्वार्थ को त्याग देने से ही समाज में एकता तथा उन्नति हो सकती है; अन्यथा जो मनुष्य उस समय व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये सामाजिक स्वार्थ को तुच्छ करते हैं या उदासीनता अवलम्बन करते हैं, उनके द्वारा न कोई सामाजिक कार्य हो सकता है और न समाज में एकता की प्राप्ति हो सकती है। आजकल हिन्दू समाज में इस प्रकार स्वार्थी मनुष्यों का अभाव नहीं है और यही कारण है कि इतना प्रयत्न होने पर भी हिन्दू समाज की उन्नति यथोचित नहीं देखने में आती। अत: सामाजिक नेताओं का कर्तव्य है कि, समाज में से एकता के अन्तरायस्वरूप इन सब संकटों का उद्धार करें।

(१०) सफलता का बीजमन्त्र नियम है। उन्नतिशील नियम ही धर्म है और धर्म के द्वारा सफलता का लाभ हुआ करता है। स्वाभाविक अनियमित उद्दाम प्रवृत्ति को जो शक्ति नियमित करे उसी का नाम धर्म है इसलिये नियमहीन अनर्गल कार्य अधर्म कार्य कहलाता है। अनुशासन के द्वारा ही नियम की रक्षा हुआ करती है। यह प्राकृतिक अनुशासन का ही कारण है कि सूर्यदेव के उदयास्त से नियमित रूप से

दिन और रात का समागम होता है। यह देवानुशासन का ही कारण है कि जीवों की आवश्यकता के अनुसार पवनदेव वायु का संचार करते हैं, वरुणदेव नियमित समय पर जल बरसाते हैं और षड्ऋतु अपने अपने समय पर प्रकट होकर जीवों की पुष्टि तथा आनन्दवर्द्धन करते हैं। यह प्रकृतिमाता के अनुशासन का ही कारण है कि वृक्ष, लता, गुल्म, औषधि आदि नियमित समय पर मनोमुग्धकर पुष्पों से सुसज्जित होते हुए नियमित समय पर ही जीवों को फल दान दिया करते हैं। यह राजानुशासन का ही फल है कि प्रजा शान्तिसुख का उपभोग करती हुई संसारयात्रा में अग्रसर होती है। यह वेदानुशासन और योगानुशासन का ही फल है कि धार्मिकगण साधनमार्ग द्वारा क्रमशः उन्नति करते हुए अन्त में दुर्लभ मुक्तिपद को प्राप्त कर लेते हैं। और यह एकमात्र अनुशासन का ही फल है कि प्रजा राजा के और राजा प्रजा के हितचिन्तन द्वारा मनुष्य समाज का कल्याण साधन किया करते हैं। अतः मनुष्यों की क्रमोन्नति के अर्थ, अनुशासन (Organisation) की अत्यन्त आवश्यकता है। समाज जब एकजातीय तथा समोद्देश्यपूर्ण मनुष्य संघ का ही विशेष नाम है, तो समाजोन्नति के मूल में भी सामाजिक अनुशासन की अत्यावश्यकता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता, हिन्दू सामाजिक नेता का परम कर्तव्य है कि, वे अपने समाज की उन्नति के लिये सामाजिक अनुशासन (Social Organisation) की सुकौशलपूर्ण तथा देशकालानुकूल व्यवस्था अवश्य करें। इस समय भारतवर्ष के सम्राट् अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण, सामाजिक विषयों में राजदण्ड की पूरी सहायता हिन्दू जाति को नहीं मिल सकती, परन्तु समाजदण्ड का पुनः प्रवर्तन करना हिन्दू समाज के ही हाथों में है, जो इस समय सामाजिक अनुशासन के द्वारा लब्ध हो सकता है। सामाजिक अनुशासन की पुनः प्रतिष्ठा द्वारा राजदण्ड तथा समाजदण्ड दोनों का काम निकल सकता है और साथ साथ वेदानुशासन और आचार्यानुशासन के प्रचार में भी सहायता पहुँच सकती है। समाजानुशासन की उन्नति के बिना आर्यजाति की वर्तमान घोर दुःखदायिनी पीड़ा का नाश कदापि नहीं हो सकता, परन्तु प्राचीन काल में जिस प्रकार सामाजिक अनुशासन की रीति थी उस रीति में अब कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा। देश, काल और

पात्र के परिवर्तन से रुचि और अधिकार का परिवर्तन हुआ करता है। अत: प्राचीन काल में ग्राम और नगरों में समाजपति को जो अधिकार देने की रीति थी, उस समय स्वतन्त्र स्वतन्त्र जाति के लिये जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र पंचायत स्थापन करने की विधि थी, उस समय वंशपरम्परा से जो कुछ अधिकार दिया जाता था तथा एक ग्राम अथवा नगर के साथ दूसरे ग्राम अथवा नगर का इस विषय में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखा जाता था, एक देश वा नगर की पंचायत से दूसरे देश अथवा नगर की पंचायत के साथ कोई सम्बन्ध स्थापन करने की रीति नहीं थी, उन सब रीतियों में इस समय के उपयोगी कुछ कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी। इस समय के देशकालपात्रानुरूप नियम बनाकर सामाजिक अनुशासन स्थापित करना पड़ेगा। पंचायती शक्ति अर्थात् संघशक्ति की जो प्रथा बहुत काल से इस देश में प्रचलित थी, इस समय उसको संस्कृत करके उन्नत करना होगा। इस समय सामाजिक अनुशासन की बहुत कुछ प्रशंसनीय रीति यूरोप और अमेरिका के मनुष्य समाज में देखने में आती है। वहाँ अन्य उपधर्म तथा अनार्य रीतियों के प्रचलित होने के कारण वहां के मनुष्य समाज में बहुत प्रकार की सामाजिक शिथिलता है, परन्तु सामाजिक शक्ति उत्पन्न करने की जो कुछ रीतियां यूरोप और अमेरिका में प्रकट हुई हैं वे सब बहुत ही दृढ़ नियमयुक्त और प्रशंसनीय हैं वहाँ के मनुष्यों में बहुधा सामाजिक अनुशासन इतना दृढ़ और शक्तिशाली है कि वे उसके द्वारा राजा के बिना भी अपने देश का सम्पूर्ण राजसिक प्रबन्ध चालित करने की प्रथा किसी विशेष देश में चला रहे हैं। फ्रांस और यूनाइटेड् स्टेट्स प्रजातन्त्र राजनियम (Republican form of Government) उसी सामाजिक अनुशासन शक्ति का असाधारण फल है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यप्रजा के सनातनधर्म सम्बन्धी पवित्र विचारों के अनुसार राजा को न रख करके प्रजातन्त्र राज्य स्थापन करना सर्वथा निन्दनीय और विज्ञानविरुद्ध समझा जायगा। इस प्रकार के प्रजातन्त्रानुशासन का क्या विषमय परिणाम होना स्वभावसिद्ध तथा अवश्यम्भावी है सो स्वतन्त्र अध्याय में वर्णित किया जा चुका है। अत: उक्त सिद्धान्तानुसार यूरोप और अमेरिका के उक्त राजनैतिक सिद्धान्तों में यद्यपि अनेक असंपूर्णताएँ हैं तथापि उनके राजनैतिक

कौशल पर विचार करने से अवश्य सिद्धान्त होगा कि वहाँ के मनुष्यों में सामाजिक शक्ति उत्पन्न करने की प्रशंसनीय रीतियाँ प्रचलित हैं। वहां की सामाजिक, राजनैतिक तथा नाना विद्या सम्बन्धी सभाओं की गठन प्रणाली पर विचार करके इस समय के आर्यगण अपनी जाति में सामाजिक शक्ति उत्पन्न करने में निःसन्देह बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। उन देशों में सामाजिक शक्ति उत्पन्न करके वहाँ के मनुष्यगण चाहे राजनैतिक और व्यापारसम्बन्धी और ही प्रकार का लाभ उठाते हों, परन्तु इस विषय में उन्होंने इतनी उन्नति की है कि आजकल की आर्य्यप्रजा उनकी प्रबन्धशैली की सहायता से, अपनी धर्मोन्नति के अर्थ, सामाजिक अनुशासन की विधि में लाभ उठा सकती है। उदाहरण के रुप में समझ सकते हैं कि ब्रिटिश द्वीप के अधिवासियों ने सब राज्यभर में व्यापार और धन की वृद्धि के लिये "कोआपरेटिव यूनियन" (Co-Operative union) नाम से जो सामाजिक शक्ति उत्पन्न की है उसकी सफलता पर विचार करने से हिन्दू मात्र ही चकित होंगे। इस महासभा के द्वारा ब्रिटिश जाति ने थोड़े ही काल में इतनी बड़ी लौकिक शक्ति प्राप्त की है कि जिसके सुप्रबन्ध से उस राज्यभर में सहस्रों शाखासभाएँ स्थापित हो गई हैं और ऐसा ग्राम अथवा नगर नहीं है कि जहां धन और व्यापार की वृद्धि के लिये उनका स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित न हो गया हो। समाज के प्रधान प्रधान नेतागण इस महासभा के सभ्य हैं और जाति के धन-समागम और व्यापार की नियमबद्ध उन्नति के अर्थ चाहे वैसा ही कार्य या महासभा कर रही है। व्यापार सम्बन्ध में राजगण को भी इस महासभा का परामर्श स्वीकार करना पड़ता है तथा व्यापारसम्बन्धी शिक्षा लोकसमाज में प्रचलित करने के लिये यह महासभा प्रधान सहायक है। इसी प्रकार से ब्रिटिश जाति की राजनैतिक महासभा के सभ्यगण के चुनाव की शैली, उस राज्य की वैज्ञानिक महासभा और उसकी शाखाओं की गठनप्रणाली तथा वहाँ के विश्वविद्यालय आदि विद्याप्रचारसम्बन्धी सभाओं की प्रशंसनीय प्रबन्धप्रणाली पर जितना लक्ष्य डाला जाता है, उतनी ही उस जाति की सामाजिक शक्ति उत्पन्न करने की असाधारण योग्यता जानी जाती है। हिन्दू जाति तथा हिन्दू सामाजिक नेता को इस समय अपने समाज में सामाजिक शक्ति उत्पन्न

करके धर्म के अभ्युदय, समाज की उन्नति और विद्या के प्रचार के अर्थ अवश्य ही पश्चिमीय जातियों की सामाजिक शक्ति उत्पन्न करने की प्रशंसनीय रीतियों में से बहुत से उपयोगी नियमों की सहायता लेना कर्त्तव्य है। प्रजा राजा का अनुकरण स्वभावत: ही करती है इसलिये वर्तमान समय में हिन्दू जाति के ऊपर पश्चिमीय अधिकार के जितने कारण हैं, उनमें से उपरोक्त सामाजिक अनुशासन शैली का शिक्षाप्रदान भी एक दैवी कारण है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है; अर्थात् हिन्दू प्रजा में सामाजिक एकता तथा अनुशासनशक्ति का अभाव हो जाने से अनुकरण द्वारा उसी की शिक्षाप्रदान के अर्थ ही भगवदिच्छा से हिन्दू जाति पर पश्चिमीय प्रभुता स्थापित हुई है ऐसा विचार करना अयौक्तिक नहीं होगा। अत: हिन्दू सामाजिक नेता को इस दैवीकारण पर विचार रखकर अपने समाज में अनुशासन प्रथा का देशकाल पात्रानुसार प्रचलन करना चाहिए। हां, इसमें सन्देह नहीं कि जो कुछ सहायता पश्चिमीय जातियों से अनुशासन के विषय में ली जाय, सो अपने धर्म तथा आचार के विरुद्ध फल उत्पन्न न कर सके; किन्तु केवल सामाजिक अनुशासन के बांधने में ही सहायक हो, ऐसी रीतियों को ही ग्रहण करना सर्वथा कर्तव्य होगा।

हिन्दू जाति में सामाजिक अनुशासन की धर्मयुक्त प्रणाली प्रचलित न करने के अर्थ तथा उसके द्वारा भारतवर्षव्यापिनी एक सामाजिक शक्ति उत्पन्न करने के लिये विशेष विचार, धैर्य और दूरदर्शिता के साथ सामाजिक नेता को ऐसी एक विराट् सभा स्थापित करनी होगी जिसके द्वारा धर्मोन्नति, समाजसंस्कार तथा विद्याप्रचार के सम्बन्ध में सभी प्रकार के पुरुषार्थ हो सकें। भारतवर्ष के सकल प्रान्तों में इस विराट् सभा के प्रान्तीय केन्द्रसमूह तथा तदन्तर्गत शाखा सभासमूह के स्थापन द्वारा नियमबद्ध प्रबन्धप्रणाली का विस्तार करना चाहिए और जिससे स्थानीय तथा प्रान्तीय धर्माचार्य, नरपतिगण तथा गणमान्य व्यक्ति इन सब केन्द्रों के पृष्ठपोषक और सहायक हों ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए। इस प्रकार से सारे भारतवर्ष में विराट् जनसभा के अधीन होकर

एक सूत्र में बद्ध देश या द्वादश प्रान्तीय केन्द्र तथा उनके अधीनस्थ सहस्रों धर्मसभाएँ यदि एकमत होकर धर्मपुरुषार्थ में प्रवृत्त हों तो थोड़े ही काल में हिन्दू जाति में सामाजिक धर्मशक्ति का आविर्भाव होना निश्चित है। विराट् सभा तथा प्रान्तीय केन्द्रसमूह लोकसंग्रह और धनसंग्रह द्वारा अपनी शक्ति की वृद्धि करके शाखासभाओं की सम्हाल रखें और शाखासभाएँ साक्षात् रूप से वर्ण और आश्रम धर्म की उन्नति करती हुई ज्ञानविस्तार की सहायता से अपनी सभाओं के अधिकारों को दृढ़ करके जाति एवं देश की उन्नति में यत्नवान् हों, योग्य पुरुषों को पुरस्कृत और धर्म विरुद्ध निरङ्कुश व्यक्तियों को तिरस्कृत करके समाज की दृढ़ता सम्पादन करें तथा साथ ही साथ धर्म के रहस्यों का प्रकाश करके प्रजा को धार्मिक बनावें। अयोग्य पुरुषों के तिरस्कार और शासन करने की रीति प्रचलित करने में अपेक्षाकृत कुछ कठिनता पड़ेगी, परन्तु इस जातीय विराट् धर्मसभा की गठन प्रणाली की उत्तमता होने पर वह कार्य भी सुगमतापूर्वक चल सकेगा। असम्मान का विचार, लोकसमाज का भय और जीवन के सुखों में असुविधा आदि ही दण्ड में हुआ करती है। यदि विराट् सभा की प्रबन्धशैली दृढ़ हो तो अयोग्य पुरुषों को अपनी रीति पर शाखासभाएँ सामाजिक रूप से दण्डित अवश्य ही कर सकती हैं। यदि नगर अथवा ग्राम में इस महासभा के उद्देश्य और आर्यजाति के इस समय के कर्तव्यसम्बन्धी सब बातें आर्यप्रजा को समझा दी जायँ तो उस नगर या ग्राम की पञ्चायतीशक्ति पूर्वकाल के अनुसार दृढ़ होकर अयोग्य पुरुषों का तिरस्कार स्वयं ही कर सकती हैं। प्राचीन पञ्चायत मण्डली का कार्य आधुनिक शाखासभाएँ अपने ऊपर ले लेवें और वहाँ के सामाजिक नेताओं की सहायता से अपनी शक्ति को काम में लावें। इस प्रकार से अनुशासन कार्य को सम्हालने का भार लेकर शाखासभाएँ इस विषय में धर्मानुरूप कार्य करती हैं या नहीं, इसकी देखभाल और सुधार का भार प्रान्तीय केन्द्रों के धर्माचार्य तथ नरपतियों पर निर्भर रहना उचित होगा। इस प्रकार से सुयोग्य कौशलपूर्ण प्रयत्न द्वारा इस विराट्

धर्मसभा की सहायता से हिन्दू जाति की सकल प्रकार से उन्नति हो सकेगी। अतः सामाजिक नेता को बहुत ही पुरुषार्थ और दूरदर्शिता के साथ इस प्रकार विराट् सभा की प्रतिष्ठा करनी चाहिए और जैसा जैसा देशकाल तथा पात्र अग्रसर हो वैसा ही इस महासभा के नियमों को भी अग्रसर करना युक्तियुक्त होगा।

जब तक शूद्र और वैश्यगण दीर्घसूत्रता और आलस्य-त्यागपूर्वक यथासम्भव कर्मयोग का साधन करते हुए देश के शिल्प और वाणिज्य की उन्नति में तत्पर नहीं होंगे तब आर्यजति की आधिभौतिक उन्नति होना असम्भव है। जब तक क्षत्रिय और ब्राह्मणगण लोभ और प्रमाद को छोड़कर श्रीगीताजी में कथित निष्कामव्रत का अभ्यास करने में तत्पर नहीं होंगे, तबतक इस जाति की आध्यात्मिक उन्नति होने की कोई भी सम्भावना नहीं है। ब्रह्मचर्य आश्रम की पुनः प्रतिष्ठा करके निष्कामव्रतपरायण मनुष्य उत्पन्न करने पड़ेंगे, प्रत्येक गृहस्थ को यथासम्भव निष्कामकर्म की प्रतिज्ञा करके गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त होना पड़ेगा, कर्मयोगी वानप्रस्थ आश्रमधारी पुरुषगण जब दिन और रात लोकहित में प्रवृत्त होंगे और सन्यास आश्रम का एकमात्र अवलम्बन जब गोतोपनिषद् का विज्ञान हो जायगा, उसी समय इस सामाजिक घोर रोग की शान्ति होगी। सामाजिक अनुशासनाभावरूपी क्षयरोग के साथ स्वार्थपरता रूपी वीर्यभङ्गरोग की उत्पत्ति से आर्यजाति की दशा अब बहुत ही कठिन और शोचनीय हो गई है। फलतः प्रबल पुरुषार्थ के अवलम्बन से जैसा जैसा सामाजिकशक्ति–सञ्चाररूपी औषधि का प्रयोग और निष्कामव्रत–अभ्यासरूपी अनुष्ठान का साधन होता जायगा वैसे ही उक्त घोर रोग की शान्ति हो सकेगी। आर्यजातिरूपी शरीर में सामाजिक अनुशासन की प्रतिष्ठा द्वारा लुप्तप्राय क्षात्रतेज की क्रमोन्नति होगी और श्रीगीताजी में कथित कर्मयोग के साधन द्वारा आध्यात्मिक उन्नतिकारी ब्रह्मतेज का आविर्भाव होगा। अपने ज्येष्ठ संतानों की पुनरुन्नति देखकर ऋषि, देवता और पितृगण प्रसन्नचित्त होकर आशीर्वाद करेंगे और

आर्यजाति तब ही जगत्कल्याणकारिणी होकर परम शान्ति और उन्नति की अधिकारिणी होगी।

उपसंहार में वक्तव्य यह है कि इस प्रकार के योग्य नेता के प्रति श्रद्धा और भक्ति करना प्रत्येक सामाजिक मनुष्य का परम कर्तव्य है। जिस प्रकार सेनापति के प्रति भक्ति और उनकी आज्ञापालन के बिना न युद्ध में जयलाभ हो सकता है और न शत्रुओं से राज्य की रक्षा ही हो सकती है; ठीक उसी प्रकार सामाजिक नेता के प्रति श्रद्धा, भक्ति और उनकी आज्ञा पालन के बिना न समाज की उन्नति हो सकती है और न विरुद्धशक्तियों के आक्रमण से समाज की रक्षा हो सकती है। अतः समाज और नेता में कर्त्तव्यसूत्र के द्वारा परस्पर श्रद्धा-भक्ति और प्रीति का सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। जब नेता अपने नेतृत्व के कर्त्तव्य और जिम्मेवारी को हृदयङ्गम करेंगे और जब समाजान्तर्गत मनुष्यगण नेता के प्रति योग्यतानुसार सम्मान और श्रद्धादर्शन करना तथा वशम्वद होना सीखेंगे तभी हिन्दूसमाज का यथार्थ कल्याण साधन होगा इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इति शिवम्।

***

राजा और प्रजा

यह संसार शक्ति का ही विकास रूप है। सच्चिदानन्द ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिरूपिणी महामाया दोनों में अभेद होने पर भी ब्रह्म तो केवल इस प्रपञ्चमय संसार के साक्षीरूप हैं और स्थूल एवं सूक्ष्म दृश्यरूपी यह जगत् शक्ति का ही विकास है। जिस प्रकार एक अतिक्षुद्र वटबीज में महान् वटवृक्ष शक्तिरूप से निहित रहता है, पुनः पृथ्वी की कालान्तर में सहायता से उसी छोटे से वटबीज से अतिवृहत् वटवृक्ष प्रकट हो जाता है; ठीक उसी तौर पर सृष्टि के पूर्ववर्त्ती समष्टिरूप संस्कार रूपी सृष्टिबीज से कालान्तर में जड़चेतनात्मक मनुष्य आदि मृत्युलोक और देवपितर आदि देवलोकात्मक यह स्थूल सूक्ष्म संसार प्रकट हुआ करता है। अन्ततः यह संसार शक्ति का ही विकास मात्र है।

स्थूलदृष्टि से जगत् प्रसविनी महाशक्ति की तीन दशयें अनुभव करने में आती हैं। एक आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता की दशा, दूसरी केवल आकर्षण की ही दशा और तीसरे केवल विकर्षण की दशा। इन तीनों दशाओं को उदाहरण की सहायता से समझाने का यत्न किया जाता है। अनन्त ग्रह उपग्रह से पूर्ण इस सौरजगत् के सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह सब में ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से आकर्षण और विकर्षणशक्ति विद्यमान है। आकर्षण शक्ति दूसरे ग्रह उपग्रह को अपनी ओर खैंचती है और विकर्षण शक्ति दूसरों को अपनी ओर से दूसरी ओर फेंकने के लिये धक्का देती है। अपने अपने अधिकार के अनुसार सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह तीनों में ही ये दोनों शक्तियां नियमित रूप से कार्य्य कर रही हैं। जबतक आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति समान रूप से कार्य करती रहेगी तब तक सूर्य्यदेव, ग्रहगण और उपग्रहगण अपनी अपनी कक्षा में यथानियम घूमते रहेंगे, न एक दूसरे से टकरायेंगे और न अपनी अपनी कक्षा से बाहर जा सकेंगे। इस दशा में उन्हीं दोनों आकर्षण और

विकर्षण शक्तियों की समता से सौर जगत् की स्थिति बनी रहेगी और प्रलय नहीं होने पावेगा। दूसरी दशा केवल आकर्षण की है और तीसरी दशा केवल विकर्षण की है। जब ये शक्ति की पिछली दोनों दशायें प्रकट होने लगती हैं, तो केवल आकर्षण की दशा के अन्त में उपग्रह ग्रह के साथ और सब ग्रह सूर्य्य के साथ टकराकर नष्ट होकर सौरजगत् का प्रलय कर डालते हैं। इसी तरह केवल विकर्षण की दशा में ग्रह और उपग्रहगण अपने अपने पथ को छोड़कर बाहर निकल जाते हैं और क्रमशः अनियम के कारण या तो आपस में टकराकर और नहीं तो दूसरे सौरजगत् के अधिकार में घुसकर प्रलय का कारण बनते हैं। सौर जगत् के दृष्टान्त पर मनुष्यसमाज में इन दोनों शक्तियों का विकास और इन दोनों शक्तियों का कार्य्यक्रम उदाहरण द्वारा अब समझने योग्य है।

गुरु, माता, पिता आदि गुरुजनों में श्रद्धा के द्वारा, स्त्री, पति, मित्र आदि में प्रेम के द्वारा, कन्या, शिष्य आदि में स्नेह और कृपा के द्वारा आकर्षणशक्ति का विकास स्पष्ट ही प्रकट होता है और शत्रु आदि में विकर्षण शक्ति का विकास मनोवृत्ति द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकट होता है; परन्तु मनुष्यसमाज की समता मनुष्य समाज में शान्ति और मनुष्यसमाज की धर्मोन्नति तभी हो सकती है जब इन दोनों विरुद्ध शक्तियों की समता मनुष्यसमाज में बनी रहे। यदि आकर्षण और विकर्षण शक्तियों की समता बनी न रहती तो मनुष्यसमाज में माता, स्त्री और कन्या का भेद कभी नहीं बना रह सकता था। यदि आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियों की यथार्थ समता मनुष्यसमाज में विद्यमान नहीं रहती तो शिष्य में गुरुभक्ति और गुरु-शूश्रुषा के लक्षण, गुरु में शिष्य पर कृपा करने की प्रवृत्ति, पुत्र में मातापिता पर श्रद्धा के सदाचार, मातापिता में पुत्र कन्याओं पर निःस्वार्थ स्नेह का व्यवहार, अपराधी पर राजा के न्याय का बर्ताव और शत्रु के साथ नीति का व्यवहार कदापि इस संसार में दिखाई नहीं देता। अतः पूर्व कथित विचार से यह सिद्ध हुआ कि, आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति दोनों की अलग अलग क्रिया इस संसार के स्थूल से स्थूल राज्य से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म राज्य तक समान रूप से विद्यमान है और जहां इन दोनों की समता है, वहीं जगत्रक्षा का कारण विद्यमान है और जब कभी इन दोनों शक्तियों की समता नष्ट हो

जाती है और इन दोनों शक्तियों में से कोई एक शक्ति अधिक प्रबल हो जाती है तभी प्रलय होने लगता है। यदि दोनों शक्तियों की समता नष्ट होकर सौर जगत् में कोई शक्ति अपनी प्रधानता को लेकर कार्य करने लगती है, तो उस सौर जगत् का क्रमशः प्रलय हो जाता है। यदि दोनों शक्तियों की समता नष्ट होकर किसी गृहस्थ के स्त्री-पुरुषों में कोई एक शक्ति प्रबल होकर कार्य्य करने लगती है, तो उस गृहस्थ के स्त्री-पुरुषों में से धर्म्माधर्म्म विचार नष्ट हो जाता है और उस गृहस्थ के स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल होकर कदाचारी और अनार्य हो जाते हैं और यदि दोनों शक्तियों की समता नष्ट होकर किसी मनुष्यसमाज अथवा किसी राजा के राज्य में कोई एक शक्ति प्रबल हो कर कार्य्य करने लगती है, तो मनुष्यसमाज अथवा वह राज्य नष्टभ्रष्ट हो जाता है। राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म दोनों में ही इन दोनों शक्तियों की समता समानरूप से विद्यमान रहनी चाहिये नहीं तो राजा और प्रजा दोनों ही धर्महीन होकर नष्ट हो जायेंगे।

सनातन धर्म का सर्वजीव हितकर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् स्वरूप जो पूज्यपाद महर्षियों ने प्रकट किया है उसपर विचार करने से यही सिद्धान्त निश्चय होगा कि उक्त आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति दोनों की समता रखना ही धर्म है। विषमता होते ही अधर्म बन जाता है। धर्म्म के लक्षण वर्णनकारी दो महर्षियों के मत नीचे लिखे जाते हैं। यथा–

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि; स धर्म्मः ।

महर्षिकणादः।

धारणाद्धर्म्मः। अभ्युदयकरः सत्त्वप्राधान्यात् ।
कर्म्मावसाने निःश्रेयसकरः शक्तिमत्त्वात् ।

महर्षिभरद्वाजः।

इन वचनों का तात्पर्य यह है कि, धर्म से ही मनुष्यों की क्रमोन्नति और उनको मुक्ति की प्राप्ति होती है। धर्म्म ने ही सब ब्रह्माण्ड को धारण कर रक्खा है। धर्म्म सत्त्वगुण वर्द्धक है। इसलिये उसके द्वारा मनुष्य की क्रमोन्नति होती है और धर्म में भगवान् की पूर्णशक्ति विद्यमान है। इस कारण धर्म के द्वारा मनुष्य की मुक्ति हुआ करती है। मनुष्य अपने

पिण्डरूपी शरीर का राजा है। वह चाहे जिस तरह से अपने शरीर पर आधिपत्य करे, कर सकता है। उदाहरण से समझने योग्य है कि वह चाहे तो जिह्वास्वाद ग्रहण की उच्छृङ्खलता करके जो चाहे सो खा सकता है और चाहे उसका संयम करके धर्म्म और स्वास्थ्य प्राप्त कर सकता है। मनुष्य अखाद्य भोजन द्वारा अधर्म्म और अस्वादकर पदार्थ के भोजन द्वारा पीड़ा को जब चाहे तब प्राप्त कर सकता है। दूसरा उदाहरण भी सोच सकते हैं कि, मनुष्य उपस्थ इन्द्रिय की यथेच्छ सेवा द्वारा गम्यागम्य विचाररहित होकर घोर नारकी बन सकता है अथवा शास्त्रविहित स्त्रीसङ्ग द्वारा धर्मोपार्जन कर सकता है। जब उसमें इन्द्रियों की ओर पूर्ण आकर्षणशक्ति विद्यमान है, तो उस आकर्षणशक्ति की यथेच्छ वृद्धि से पाप संग्रह होना असम्भव नहीं हो सकता; परन्तु धर्म की रक्षा तभी हो सकती है, जब मनुष्य इन्द्रियसेवनजनित आकर्षणशक्ति का अनियमित यथेच्छ व्यवहार न करे तथा इन्द्रियों की धर्मानुकूल सुरक्षा करके विकर्षण शक्ति का भी अपव्यवहार न करे। जिस प्रकार ग्रह उपग्रह आदि में आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता से ग्रह और उपग्रह अपनी कक्षा से च्युत न होते हुए सृष्टिधर्म का पालन करके सौर जगत् की सुरक्षा करते हैं; ठीक उसी रीति पर धार्मिक गृहस्थ अपनी इन्द्रियों के नियमित धर्मानुकूल सेवन द्वारा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता अपने आचारों में सुरक्षित करते हुए धर्म्म सम्पादन किया करते हैं। इस विज्ञान द्वारा यह सिद्ध हुआ कि शारीरिक, वाचनिक और मानसिक तीनों प्रकार की क्रियाओं में उन्हीं जगत्प्रसविनी महामाया की आकर्षण और विकर्षण शक्तियों की समता-स्थापना को ही धर्म कहते हैं। जिस प्रकार आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता से स्थूल समष्टि ब्रह्माण्ड में ब्रह्माण्डधारक धर्म की सुरक्षा होती है, ठीक उसी प्रकार आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता को नियमित रखने से पिण्डरूपी मनुष्यशरीर में मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयसकारी धर्म की सुरक्षा होती है। राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म इन दोनों में भी इसी प्रकार से इन्हीं दोनों शक्तियों की समता की सुरक्षा होने से धर्म्म की सुरक्षा होगी;

राजधर्म और प्रजाधर्म को सुरक्षित करने के अर्थ आजतक जितने प्रकार की राज्यशासनप्रणाली और राजनीति संसार में प्रचलित हुई हैं, उनके विभाग निम्नलिखित रूप से कर सकते हैं, यथा- (क) प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Republican form of Government), (ख) वर्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Limited Monarchy), (ग) स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Despotic Government) (घ) हिन्दुओं की प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली। इन चारों के लक्षण ये हैं। प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली के अनुसार प्रजा ही राजा और प्रजा दोनों का कार्य करती है; उसमें राजा का नाम मात्र नहीं रहता। उसके नियमानुसार प्रजा ही अपनी प्रतिनिधिसभा नियत करती है, प्रतिनिधि सभा के चुनाव करने में उच्च नीच सब प्रजा समान अधिकार रखती है। वही प्रतिनिधि सभा एक नियमित समय के लिये प्रधान सभापतिरूप से प्रेसिडेण्ट चुन लिया करती है। वही प्रेसिडेण्ट उसी नियमित समय के लिये राजा के कुछ अधिकार प्राप्त कर लेता है। प्रजा ही प्रतिनिधिसभा के द्वारा अपने राज्य के राजकीय नियम (राजानुशासन की नियमावली) अर्थात् कानून का निर्माण करती है। इस राज्य-शासन प्रणाली के अनुसार यदि राजनैतिक योग्यता हो तो प्रजा का एक अति निकृष्ट मनुष्य भी उन्नति करता हुआ कालान्तर में उस प्रजातन्त्र राज्य का प्रेसिडेण्ट बन सकता है। यद्यपि इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली के अनुसार कोई भी स्थायी राज्यपद प्राप्त नहीं कर सकता, स्थायी राजा बनने की कोई इच्छा भी करे तो वह राजद्रोही समझा जाता है, परन्तु प्रजा की शक्ति को नियमबद्ध करने के लिये कई उपाय रखे गए हैं। प्रथम तो प्रेसिडेण्ट को ही कुछ वर्षों के लिये सर्वप्रधान शक्ति राजशक्तिरूप से प्रदान की गई है, दूसरे मन्त्रीसमाज गठन, निम्न प्रतिनिधिसभा और उच्च प्रतिनिधिसभा गठन प्रणाली- इन तीनों के अधिकार भी ऐसे रखे गये हैं कि, जिससे प्रजा उच्छृङ्खल न हो सके। प्रकारान्तर से इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली में राजा के अधिकारी को भी रखा गया है और प्रजा को भी उच्छृङ्खल होने से बचाया गया है। इस प्रकार से प्रजा को सब प्रकार का अधिकार देने पर भी राजा और प्रजा दोनों के पद की असीम शक्ति को सीमाबद्ध करके

आकर्षण और विकर्षण शक्ति की यथासम्भव समता स्थापन करते हुए राज्यरक्षा की एक नई प्रणाली निकाली गयी है।

दूसरी वर्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली में राजा का सम्मान रखा गया है। इसे राज्यशासन प्रणाली के अनुसार प्राचीन राज्यकुल का ही एक व्यक्ति अपने कुलपरम्परागत नियम के अनुसार राजा होता है और जीवनपर्यन्त राजा रहता है; परन्तु उसके अधिकार और क्षमता प्राय: उतनी ही होती है जितनी कि, प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली के प्रेसीडेण्ट की हुआ करती है और मन्त्रीसमाज गठन, निम्न प्रतिनिधिसभा और उच्च प्रतिनिधिसभा गठन-प्रणाली, ये सब भी प्राय: वैसे ही होते हैं कि जैसे कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली में होते हैं। केवल राजभक्ति का अंश इस राज्यशासन प्रणाली में राजाज्ञा द्वारा स्थायी रखा जाता है। इस राज्यशासन प्रणाली में राजा सम्मान के विचार से सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और शक्ति के विचार से प्रजा के हाथ में ही सब कुछ होता है और दोनों के अधिकार विभक्त रहते हैं। उदाहरण स्थल पर समझ सकते हैं कि कानून बनाने का अधिकार प्रजा की प्रतिनिधिसभा के हाथ में रहने पर भी उस कानून को स्वीकार करने का अधिकार राजा को रहता है; उसी प्रकार युद्धाज्ञाप्रचार की क्षमता और सेना को युद्ध में नियुक्त करने का अधिकार राजा के हाथ में रहने पर भी धन व्यय करने का अधिकार प्रजा के हाथ में रहता है। इस प्रकार से राजा और प्रजा दोनों की उच्छृङ्खलता को नियमबद्ध प्रणाली से रोकने का प्रबन्ध रखकर आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता स्थापना की गई है।

तीसरी स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली, जो कि बौद्ध राजाओं के समय से प्रचलित हुई है और जिसका नमूना अभी तक तुर्क देश और चीन देश में उपस्थित था और जो रीति अभी तक भारत के देशी राज्यों में भी कहीं कहीं प्रचलित है; परन्तु उसका पूरा नमूना हिन्दुस्तान के पठान और मुगलसम्राटों के राज्य में प्रकट हुआ था। इस स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली के अनुसार राजा ही सब कुछ समझा जाता है, राजा की निरङ्कुशता दमन करने के लिये प्रजा के निकट कोई बल नहीं है; राजा की राजाज्ञा ही कानून है और राजा की राजाज्ञा

ही धर्म है। इस राज्यशासन प्रणाली में राजधर्म और प्रजाधर्म में आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता स्थापन करने या न करने का अधिकार एकमात्र राजा की इच्छा पर निर्भर करता है।

चौथी हिन्दुओं की प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली है। वह इन पूर्वकथित तीनों से कुछ विलक्षण ही है। हिन्दुओं की इस प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली में एकमात्र धर्म ही अनुशासन रूप से राजधर्म और प्रजाधर्म दोनों के अधिकारों को विभक्त करके आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता स्थापन करता है।

पूर्व्वकथित चार प्रकार की राज्यशासन प्रणालियों में राजा और प्रजा का जिस प्रकार संबंध बाँधा गया है, उन सब नियमों को भलीभाँति अन्वय व्यतिरेक के साथ विचार करने से यह सिद्धान्त होगा कि स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली– जिसका उदाहरण प्राचीन तुर्क और चीन साम्राज्य था, उक्त राज्यशासन प्रणाली में एकमात्र राजा को ही पूर्ण शक्तिमान् बनाया गया है। उसी प्रकार सावधानता के साथ विचार करने से यही सिद्धान्त होगा कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली, जिसका उदाहरण यूरोपीय फ्रांस राज्य और अमेरिका के राज्य हैं, उक्त राज्यशासन प्रणाली में एकमात्र प्रजा को ही सर्वशक्तिमान् बनाया गया है। इन दोनों राज्यशासन प्रणालियों में से प्रथम में तो राजा की ओर और दूसरी में प्रजा की ओर आकर्षणशक्ति झुकी हुई है, यद्यपि इन दोनों में से प्रथम में एकमात्र राजा चाहे तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता अपने सद्विचार के द्वारा स्थापित रख सकता है, उसी प्रकार दूसरी प्रणाली में यदि प्रजा चाहे तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता अपने सद्विचार के द्वारा स्थापित रख सकती है; परन्तु दोनों ही अपने अपने अधिकार के अनुसार पूर्णशक्तिमान् होने के कारण यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वे दोनों सदा के लिये सद्विचारवान् तथा निरपेक्ष रहेंगे। अत: इन दोनों राज्यशासन प्रणालियों में प्रमाद बढ़कर राज्यविप्लव और आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता नष्ट होकर राज्य के नष्टभ्रष्ट होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। पृथ्वी के नाना देशों के इतिहासों से पाठकों को स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि जिन जिन देशों में जब जब स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली

प्रचलित रही, उस समय में जब तक उक्त राज्यकुल में धर्मभीरु प्रजापालक संयमी और न्यायवान् राजा उत्पन्न होते रहे तभी तक उक्त राज्यों में आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता स्थापित रहकर विद्या, बल, धन और धर्म सब कुछ बना रहा, परन्तु राजवंश में से पूर्वकथित गुणों का नाश होते ही वह राज्य नष्टभ्रष्ट हो गया। यदि हिन्दुस्तान के इतिहास पाठक पठान-साम्राज्य की प्रथम स्थिति, मध्यम स्थिति और अन्तिम स्थिति पर विचार करेंगे तो वे इस वैज्ञानिक सिद्धान्त की सत्यता को भलीभाँति समझ सकेंगे। उसी प्रकार से पृथ्वी के नाना देशों और विशेषत: यूरुपीय देशों के इतिहासपाठकों को स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि जब तक किसी प्रजातन्त्र राज्य में प्रजा धार्मिक, न्यायवान्, विद्वान् और नीतिज्ञ बनी रहती है, तभी तक उक्त प्रजातन्त्र राज्य में आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता स्थापित रहकर उस देश में विद्या, बल, धन और धर्म की स्थिति बनी रहती है कि यह प्रणाली यूरोपीय रोम-साम्राज्य से ही निकली हुई है। अभीतक जिस प्रकार स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली के दोष पृथ्वी के इतिहास ने बार बार प्रमाणित करके दिखाये हैं। उस प्रकार से पृथ्वी के इतिहास को अभी तक इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली के दोषों को सिद्ध करके दिखलाने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि यह प्रणाली नवीन है। परन्तु इतिहास में इस पूर्वकथित वैज्ञानिक सिद्धान्त की पुष्टि में कोई प्रमाण ही नहीं मिल सकता ऐसा नहीं, यूरोपीय रोमन-साम्राज्य के इतिहास को जिन्होंने भली भाँति पाठ किया है वे स्पष्ट ही जान सकेंगे कि इस प्रकार से प्रथम रोमराज्य में प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली की सृष्टि हुई और जब रोम प्रजा घोर विलासी, निरंकुश, नीति त्यागी और अधार्म्मिक बन गई तो अपने आप ही रोमन प्रजातन्त्र महाशक्तिशाली राज्य ही नष्टभ्रष्ट नहीं हुआ, किन्तु उस रोमन जाति तक का नाश हो गया। आज दिन यूरोप के उस इटाली देश में कि जहां रोमन साम्राज्य का केन्द्र था, जो अब नई इटालियन जाति बनी है, उस जाति से प्राचीन रोमन जाति का कोई भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, वर्तमान यूरोप के राजनीति तरङ्ग के घात प्रतिघात से इटली देश में वर्तमान इटालियन जाति ने थोड़ी ही शताब्दियों से जन्म लिया है; अत: स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन

प्रणाली और प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली दोनों ही में स्वभावतः आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति दोनों की समता स्थापित रहने के लिये चिरस्थायी अवसर न रहने के कारण दोनों राज्यशासन प्रणालियाँ भयरहित नहीं हैं इसमें संदेह ही नहीं।

मीमांसा शास्त्र ने यह भलीभाँति सिद्ध करके दिखा दिया है कि जीव चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करता हुआ अपनी असम्पूर्णता को क्रमशः पूर्ण करके जब मनुष्यदेह में जीवत्व की पूर्णता को प्राप्त करता है तो स्वतः ही अपने पिण्डरूपी देह का राजा बन जाता है। अन्यान्य स्वेदज, अण्डज, जरायुज योनियों में जीव सम्पूर्ण रूप से जगत्प्रसविनी प्रकृतिमाता के अधीन रहता है, परन्तु मनुष्यदेह में वह स्वेच्छाचारी और स्वाधीन बन जाता है। अन्यान्य योनियों के जीवदेह में पंचकोषों का पूर्ण विकास नहीं होता, उद्भिज योनियों में केवल अन्नमय कोष का ही पूर्ण विकास होता है, स्वेदज में अन्नमय और प्राणमय कोषों का पूर्ण विकास, अण्डज में अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषों का पूर्ण विकास, जरायुज में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाचों कोषों का पूर्ण विकास हो जाता है। इसी कारण अन्यान्य निम्नयोनियों में पंचकोषों की असम्पूर्णता के हेतु जीव पराधीन रहता है, परन्तु मनुष्ययोनि में पंचकोषों की पूर्णता के हेतु स्वाधीन बन जाता है। स्वाधीन होने से ही मनुष्य अपने पिण्ड का राजा बन जाता है और इसी कारण मनुष्य अपनी इन्द्रियों को यथेच्छ कार्यों में ला सकता है। पंचकोषों की पूर्णता का अपने पिण्डरूपी देह पर आधिपत्य करना, इन्द्रियों के चालन में स्वेच्छाचार, विषयों के भोगने में निरङ्कुशता इत्यादि कारणों से जीव मनुष्यशरीर में इन्द्रियपरायण होकर अधोगामी हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य सब जीवों में श्रेष्ठ और उन्नत होने पर भी पूर्ण शक्तिमान् और स्वेच्छाचारी होने के कारण इसकी दृष्टि सदा इन्द्रियभोग की तरफ रहना स्वतः सिद्ध है। वह इन्द्रियभोग का अभिलाषी और इच्छा के पूर्ण करने में स्वतन्त्र होने के कारण उसके अधःपतन होने की सम्भावना सदा रहती है। यही कारण है कि यदि मनुष्य के सब कार्य्यों में, मनुष्य-समाज की गठन प्रणाली में और राजधर्म और प्रजा धर्म के नियमित करने में आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता स्थापित

करके नहीं रखी जायगी, तो वह मनुष्य, वह मनुष्य-समाज और वह राज्य क्रमशः अधार्मिक बहिर्दृष्टि से सम्पन्न और स्वेच्छाचारी होकर नष्टभ्रष्ट हो जायगा। इसी कारण प्रजातन्त्र राजशासन प्रणाली में जब तक प्रजा उन्नत, विद्वान्, विद्वान्, संयमी और धार्मिक बनी रहती है, तब तक प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली से क्षति नहीं होती, परन्तु पूर्वकथित सृष्टिनियम प्रणाली के अनुसार तथा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता के अभाव से प्रजा जब विलासी और निरङ्कुश होकर बहिर्दृष्टिसम्पन्न और अधार्मिक बन जाती है, तो उसके साथ ही साथ वह राज्य भी क्रमशः बलहीन होकर नष्टभ्रष्ट हो जाता है। किसी मनुष्य समाज अथवा राज्य की स्वास्थ्यरक्षा के लिये विद्या, बल, धन और धर्म्माचारों की समान रूप से आवश्यकता है। इन चारों गुणों में से जितने गुणों की न्यूनता होगी, उतनी ही मनुष्यसमाज और राज्य की जीवनशक्ति दुर्बल समझी जायगी और यह भी निश्चय है कि इन गुणावलियों में से एक एक के अपव्यवहार से मनुष्य-समाज या राज्य नष्टभ्रष्ट हो सकता है। उदाहरण के तौर पर समझ सकते हैं कि केवल विद्या को इन्द्रियसुख और लोकनाश आदि अहितकर कार्यों में लगाने से, बल्कि अपव्यवहार से, धन को इन्द्रियसुख और अधर्म्म में लगाने से और सब कार्यों में धर्म का लक्ष्य छोड़ देने से अथवा इनमें से किसी एक के अपव्यवहार से ही मनुष्यजाति या राज्य अपनी जीवन शक्ति का नाश कर डालता है इसमें सन्देह ही नहीं। इसी प्रकार से प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली की प्रजा अपनी स्वाभाविक शक्तियों के अपलाप से क्रमशः अपने राजानुशासन में आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता रखने में असमर्थ हो जाती है; ठीक इसी तरह स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र प्रणाली में स्वेच्छाचारी राजा पूर्वकथित मानवीय दुर्बलता के कारण स्वयं विलासी, स्वेछाचारी, आलसी, असंयमी और अधार्मिक होकर अपनी राज्यशासन प्रणाली में आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता नष्ट कर डालता है। ये सब बातें केवल कल्पना ही नहीं हैं किन्तु विज्ञान सिद्ध, मनुष्य प्रकृति के अनुकूल और प्राचीन इतिहास से प्रमाणित हैं। इस कारण बहुदर्शी अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगीगण इन दोनों राज्यशासन प्रणालियों को अन्त में दुःखदायी, असम्पूर्ण,

अल्पदिनस्थायी और क्रमशः मनुष्य-समाज को अधार्म्मिक और बहिर्दृष्टिसम्पन्न बनाने वाली समझते हैं।

सूक्ष्म विचार के अनुसार अनुसन्धान करने से यही समझा जायगा कि अवशिष्ट दोनों राज्यशासनप्रणाली अर्थात् वर्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Limited monarchy) और हिन्दुओं की प्राचीन राजतन्त्र प्रणाली, दोनों एक ही जाति की राज्यशासन प्रणाली हैं। वर्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासनप्रणाली में प्रत्येक राजा को अपने राजा की भक्ति होने पर भी राजा के अनुशासन कार्य को नियमबद्ध करने के अर्थ अपने देश की प्रतिनिधि सभा संघटन करने में पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है। प्रत्येक प्रजा स्वतन्त्र सम्मति देती है, सब प्रजा की समवेत सम्मति में मताधिक्य के विचार से उस राज्य की प्रतिनिधि सभा का चुनाव होता है। यूरोपीय राज्यसमूह में और विशेषतः हमारे ब्रिटिश सम्राट् की राज्यशासन प्रणालियों में से एक प्रतिनिधिसभा में केवल ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों का चुनाव होता है कि जो वंशानुगत रीति पर राजसम्मान के अधिकारी हैं, इस शैली से जन्मगत और वंशानुगत मर्य्यादा की भी प्रतिष्ठा रखी गई है। ये ही प्रजा की दोनों प्रतिनिधिसभाएँ राजानुशासन की व्यवस्था करती हैं, इन्हीं में से मन्त्री समाज का संघटन होकर राज्यकार्य चलाया जाता है। अतः इस राजानुशासनशैली में राजभक्ति, वंशानुगत मर्य्यादा आदि के साथ ही साथ प्रजा की यथेष्ट शक्ति विद्यमान है और राजशक्ति और प्रजाशक्ति दोनों में आकर्षण शक्ति और विकर्षणशक्ति की समता चिरस्थायी रखने के लिये बहुत कुछ यत्न किया गया है। धर्म्म के सहारे से ये सब बातें हिन्दुओं की प्राचीन राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली में स्वाभाविक तौर से उपस्थित थीं। शास्त्रों के पाठ करने से सबको भलीभाँति प्रतीत हो सकेगा कि हिन्दुओं की ग्राम्यपंचायत प्रणाली, नगर प्रान्त जनपद आदि की पंचायती व्यवस्था और सम्राट् के मन्त्री, समाजगठन की व्यवस्था में आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता की व्यवस्था पूर्णरीत्या रखी गई है। राजा को साक्षात् भगवान् का अवतार मानने की रीति जिस प्रकार हिन्दुशास्त्र में है वैसी पृथ्वी के और किसी देश के किसी शास्त्र में नहीं पाई जाती। राजा को भी प्रजा के लिये स्वार्थत्याग करने की और प्रजा

को अपने पुत्रवत् प्रतिपालन करने की जिस प्रकार की आज्ञा हिन्दूधर्म्मशास्त्र में पाई जाती है वैसी प्रबल आज्ञा और कहीं नहीं पाई जाती। एक ओर प्रजा में राजभक्ति की पूर्णता और दूसरी ओर राजा में प्रजावात्सल्य की पूर्णता हिन्दूशास्त्र में अतुलनीय है। पारिवारिक सदाचाररूपी धर्म्म में एक गृहस्वामी भी हिन्दूशास्त्र के अनुसार एक छोटा सा राजा समझा गया है। प्रथम तो पारिवारिक सुप्रबन्ध ही व्यष्टिरूप से राज्य को सुरक्षित करता है। इस प्रकार धर्म्मरज्जु से बंधा हुआ पारिवारिक अनुशासन पृथ्वी की किसी जाति में विद्यमान नहीं है। द्वितीयत: हिन्दू समाज के सामाजिक नेता के मानने के सदाचार हिन्दू समाज से शास्त्र द्वारा संरक्षित हैं। इन दोनों के द्वारा राजानुशासन प्रणाली में स्वत: ही बड़ी भारी सहायता मिलती है। प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म इन दोनों का हिन्दू जाति के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके द्वारा एक वर्ण अन्य वर्ण का, एक आश्रम अन्य आश्रम का पोषण करता हुआ समाज और राज्य को पूर्ण रूप से आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता स्थापन करने में सहायता करता है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म की शैली ऐसी अपूर्व और दैवी विज्ञान से जकड़ी हुई है, जिसके द्वारा स्वत: ही न प्रजा अपनी मर्य्यादा को छोड़ सकती है और न राजा अपनी मर्य्यादा को छोड़ सकता है। वर्ण गुरु ब्राह्मण जिस प्रकार वर्णों को नियमबद्ध रखते हैं, उसी प्रकार आश्रमगुरु सन्यासी अपने आध्यात्मिक उपदेश द्वारा वर्ण और आश्रम दोनों में किसी प्रकार का विप्लव होने नहीं देते और ये दोनों वर्ण और आश्रम की विभूतियाँ राजा को अपने राजधर्म से कदापि निरंकुश नहीं होने देतीं और साथ ही साथ ये दोनों प्रजा को अपने धर्म्मपालन कराने के लिये स्वत: ही उत्तरदायी हैं। राजा की दिनचर्या, राजा का आचार, राजा का प्रजापालन, राजा की मन्त्री-समाज संगठनप्रणाली, राजा की राजनीति, राजा की युद्धनीति और राजा की धर्मनीति आदि जिस प्रकार वेद और शास्त्र के द्वारा सुदृढ़ और सुरक्षित कर दी गई हैं, उसके द्वारा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता स्थापन में कभी विप्लव हो ही नहीं सकता। यूरोपीय वर्तमान राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली और प्राचीन हिन्दू राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली इन दोनों में विलक्षणता इतनी

ही है कि, यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली में केवल प्रजाशक्ति अपने विचार के फल को राजा के मुख से कहलवाकर आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता चिरस्थायी रखने का यत्न करती है और प्राचीन हिन्दू राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली में पूर्वकथित सब सिद्धान्त वेदाज्ञा रूप से धर्मशास्त्र द्वारा धर्म्मत्वरूपेण जकड़े हुए हैं। यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली मानवीय विचारानुसार परिवर्तनशील है; परन्तु प्राचीन भारतीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली के नियम अपरिवर्तनीय और चिरस्थायी हैं, वे सब वेदवत् पालनीय होने के कारण हिन्दू राजा और प्रजा उनको अपने इहलोक और परलोक दोनों प्रकार के कल्याण के लिये मानने को बाध्य हैं। यद्यपि एक राजानुशासन प्रणाली केवल राजनीति की भित्ति पर और दूसरी राजानुशासन प्रणाली केवल धर्मनीति की भित्ति पर स्थित हैं; परन्तु दोनों में सादृश्य विद्यमान होने के कारण भगवान् ने भारत को हिन्दू जाति की इस अध:पतित दशा में ऐसी ही नीतिज्ञ यूरोपीय राजानुशासन प्रणाली की सहायता दी है कि, जिसके द्वारा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की समता यथासम्भव स्थापित रहकर हिन्दू जाति के अभ्युदय का मार्ग रुके नहीं।

आर्य्यशास्त्र में राजा और प्रजा के स्वरूप तथा परस्पर के प्रति कर्तव्यों के विषय में अनेक उपदेश दिये गये हैं। श्रीभगवान् मनुजी ने कहा है–

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ।।
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ।।
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ।।
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ।।
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ।।
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ।।

संसार अराजक होने से सभी लोग भय से व्याकुल हो जाते हैं इसलिये चराचर जगत् की रक्षा के अर्थ परमात्मा ने राजा को उत्पन्न किया। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर इन अष्ट दिक्पालों के अंशों से राजा की सृष्टि होने से राजा निजतेज के द्वारा समस्त प्राणियों को अभिभूत करते हैं। राजा सूर्य की तरह चक्षु और मन को उत्तप्त करते हैं। इसलिये संसार में कोई भी राजा के सामने आँख उठाकर देख नहीं सकता। राजा प्रभाव में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण और महेन्द्र के तुल्य है। राजा बालक होने पर साधारण मनुष्य जानकर उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि वे नररूपधारी महान् देवता हैं। इन सब देवताओं के अंशों से राजशरीर उत्पन्न होता है। इसलिये इन देवताओं के गुण भी राजा में विद्यमान् हैं, यथा– शुक्रनीति में–

जङ्गमस्थावराणां च हीशः स्वतपसा भवेत् ।
भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा ।।
वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः ।
धर्मप्रवर्त्तकोऽधर्मनाशकस्तमसो रविः ।।
दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद् दण्ड कृद यमः ।।
अग्निः शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक् ।।
पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः ।
करैश्चन्द्रो ह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः ।।
कोषाणां रक्षणे दक्षः स्यान्निधीनां धनाधिपः ।।

राजा इन्द्र की तरह निज तपस्या के द्वारा स्थावरजङ्गमजीव से युक्त संसार के अधीश्वर रक्षाकार्य में दक्ष होते हैं और जिस प्रकार इन्द्र यज्ञभाग को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा भी प्रजा की सम्पत्ति के भागगृहीता होते हैं। जिस प्रकार वायु गन्ध के प्रेरक होते हैं, उसी प्रकार राजा भी सदसत्कार्य के प्रेरक होते हैं। जिस प्रकार सूर्य के द्वारा प्रकाश का विस्तार और अन्धकार का नाश होता है उसी प्रकार राजा भी धर्म के प्रवर्त्तक और अधर्म के नाशक होते हैं। जिस प्रकार यमराज पापकर्म के दण्ड दिया करते हैं उसी प्रकार राजा भी दुष्कर्म के दण्डदाता हैं। अग्निदेव की तरह राजा पवित्र होते हैं और रक्षा करने के हेतु सकल भोग के भोक्ता होते हैं। जिस प्रकार वरुण जल के द्वारा समस्त संसार की पुष्टि

करते हैं, उसी प्रकार राजा भी निजधन के द्वारा प्रजा को पुष्ट करते हैं। जिस प्रकार चन्द्रदेव किरणजाल के द्वारा जीवगण को आनन्दित करते हैं, उसी प्रकार राजा भी निज गुणकर्म के द्वारा प्रजा को आनन्द दान करते हैं। जिस प्रकार कुबेर समस्त रत्नधनों की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार राजा भी निज कोष की रक्षा में निपुण हुआ करते हैं। इस प्रकार से देवताओं के अंश से संसार की रक्षा के लिये जगत्पालक श्रीभगवान् के प्रतिनिधि रूप से प्रकट राजा अष्टलोकपालों की सद्‌गुणावली के द्वारा विभूषित होते हैं। ऊपर कथित दैवी शक्तियों के केन्द्र होने से तत्तत्शक्ति के अनुसार प्रजा के प्रति राजा का क्या कर्तव्य होना चाहिए, इस विषय में भगवान् मनुजी कहते हैं–

इन्द्रस्याऽर्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याऽग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्।।
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्।।
अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्।।
प्रविश्यं सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्।।
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्तकाले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम्।।
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्।।
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः।।
प्रतापयुक्ततेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम्।।
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम्।।

राजा को इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वी

के वीर्यानुरूप चरित्र का अवलम्बन करना चाहिए। इन्द्रदेव चौमासे में जिस प्रकार यथेष्ट जल वृष्टि करते हैं, उसी प्रकार राजा को इन्द्र का व्रत धारण करके प्रजा के द्वारा प्रार्थित सकल विषयों की वृष्टि करनी चाहिए। सूर्यदेव आठ मास तक अपनी किरणों से जिस प्रकार जलशोषण धीरे धीरे करते हैं, उसी प्रकार सूर्य का व्रत धारण करके प्रजा से राजा को धीरे धीरे कर ग्रहण करना चाहिए। वायुदेव जिस प्रकार भूतमात्र में प्रविष्ट होकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार जासूसों को चारों ओर भेजकर राजा को वायु का व्रत धारण कर राजकार्य का निरीक्षण करना चाहिए। समय आ पड़ने पर यम जिस प्रकार प्रिय अथवा अप्रिय का विचार नहीं करते, उसी प्रकार राजा को दण्डविधान के समय प्रिय वा अप्रिय का विचार नहीं किन्तु न्याय का विचार करना चाहिए। इस व्रत का नाम यमव्रत है। वरुण का पाश बड़ा दृढ़ होता है, राजा भी पापी पुरुषों को बाँध कर वरुणव्रत का पालन करें। पूर्ण चन्द्र के दर्शन से जिस प्रकार लोग प्रसन्न होते हैं, उस प्रकार जिसकी प्रजा अपने राजा को देख आनन्दित होती है, वह राजा चन्द्रव्रतधारी है। जो राजा पापियों पर प्रताप दिखलाने वाला, नित्य तेजस्वी और दुष्ट सामन्तों के लिये हिंसाशाली हो, उसे आग्नेय व्रतधारी कहते हैं। पृथ्वी जिस प्रकार सब भूतों को समान भाव से धारण करती है, उसी प्रकार जो राजा सकल प्रजा को समान भाव से पालन करता है, उसे पार्थिव व्रतधारी समझना चाहिए। केवल इतना ही नहीं शुक्रनीतिकार और भी लिखते हैं–

पिता माता गुरुर्भ्राता बन्धुर्वैश्रवणो यमः ।
नित्यं सप्तगुणैरेषां युक्तो राजा न चाऽन्यथा ।।
गुणसाधनसंदक्षः स्वप्रजायाः पिता यथा ।
क्षमयित्र्यपराधानां माता पुष्टिविधायिनी ।।
हितोपदेष्टा शिष्यस्य सुविद्याध्यापको गुरुः ।
स्वभागोद्धारकृद्भ्राता यथाशास्त्रं पितुर्धनात् ।।
आत्मस्त्रीधनगुह्यानां गोप्ता बन्धुस्तु मित्रवत् ।
धनदस्तु कुबेरः स्याद्रूयमः स्याच्च सुदण्डकृत् ।।
प्रवृद्धिमति सुराज्ञि निवसन्ति गुणा अमी ।
एते सप्तगुणा राज्ञा न हातव्याः कदाचन ।।

पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु, कुबेर तथा यम इन सातों के सद्गुणों के द्वारा राजा सदा ही युक्त रहते हैं। राजा पिता के सदृश निज प्रजा के सुगुण सम्पादन में निपुण होते हैं। माता के सदृश अपराध के क्षमा करने वाले और पोषणकर्ता होते हैं। गुरु के सदृश प्रजा के हितोपदेष्टा तथा सुविद्यादानकारी होते हैं। भ्राता जिस प्रकार शास्त्रनियम के अनुसार पिता के धन के अंशभागी होते हैं, उसी प्रकार राजा भी प्रजा की सम्पत्ति के शास्त्रानुसार अंशभाग ग्रहणकारी होते हैं। जिस प्रकार बन्धु, आत्मा, स्त्री, धन तथा गुप्त विषयों के रक्षक तथा एकप्राण होते हैं, उसी प्रकार राजा भी प्रजा के आत्मा, स्त्री, धन तथा गुप्त विषयों के रक्षक तथा प्रजा के साथ सुखदुःख अनुभव करने वाले और एक प्राणता से युक्त होते हैं। राजा कुबेर की तरह धनदाता और यम की तरह उचित दंडकारी होते हैं। उन्नतिशील धार्मिक राजा में ये सब गुण अवश्य ही विराजमान रहते हैं। ऊपर उक्त सप्त गुणों से राजा को कभी च्युत नहीं होना चाहिए। राजा में इन सब गुणों के होने से ही राज धर्म के साथ संसार की रक्षा करने में समर्थ होते हैं जैसा कि बृहस्पतिजी ने कहा है–

राजामूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ।।
राजा ह्येवाऽखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ।।
यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ।।
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहमाः ।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ।।
विमथ्याऽतिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नाऽत्र संशयः ।।
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ।।
हरेयुर्दलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ।।
पतेद्बहुविधं शास्त्रं बहुधा धर्मचारिषु ।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद् यदि राजा न पालयेत् ।।

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ।।
अनयाः सम्प्रवर्त्तेरन् भवेदै वर्णसंकरः ।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ।
विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते ।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ।।
धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुगृहणन्ति चाऽन्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ।।
यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथक्विधैः ।
युक्ताश्चाऽधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ।।
यदा राजा धुरं श्रेष्ठमादाय वहति प्रजाः ।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ।।

संसार में धर्म व्यवस्था ठीक रखने के विषय में राजा ही कारण हैं। प्रजागण राजा के ही भय से परस्पर का अनिष्ट नहीं करते हैं। मर्यादाविहीन, परस्त्रीगामी मनुष्यों को दण्ड द्वारा प्रकृतिस्थ करके राजा ही धर्म और शान्ति की रक्षा करते हैं। जिस प्रकार चन्द्र सूर्य के अभाव से समस्त जीव घोर अन्धकार में निमग्न हो जाते हैं, कोई किसी को नजर नहीं आता है, जिस प्रकार अल्पजल में मत्स्यगण तथा हिंस्रभयरहित स्थान में पक्षिगण यथेच्छ परस्पर की हिंसा करके शीघ्र ही सम्पूर्ण नाश को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार बिना राजा के समस्त प्रजा नष्ट हो जाती है। रक्षकविहीन पशुओं की तरह घोर अन्धकार में मग्न हो जाती है। बलवान् दुर्बल पर आक्रमण करके उसके गृहादि सब कुछ छीन लेते हैं और रक्षार्थ यत्न करने पर उसे मार डालते हैं। धर्मपरायण सज्जनों पर अस्त्राघात होता है और अधार्मिक जन अनायास सुख भोग करते हैं। माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु इन पर अत्याचार होता है, वे अत्यन्त कष्ट को भोग करते हैं। राजनीति के नाश होने से लोग यथेच्छ पापादि में रत होते हैं, जिससे वर्णसङ्कर प्रजा की उत्पत्ति होती है और राज्य में दुर्भिक्ष का प्रबल आक्रमण हो जाता है। राजा अपनी महती शक्तियों के द्वारा इन सब दोषों का निराकरण करके राज्य में शान्ति विधान करते हैं। राजा के द्वारा रक्षित होकर समस्त प्रजा

निर्भयचित्त हो गृहद्वार उन्मुक्त रखकर ही सो जाती है। सब लोग हिंसा छोड़ धर्म का आश्रय करके परस्पर कृपापरायण होते हैं। द्विजगण महायज्ञ का अनुष्ठान तथा सद्विद्या का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार से राजा राज्यभाव ग्रहणपूर्वक जब धर्म और नीति के साथ प्रजापालन करते हैं, तब उनके प्रताप से सर्वत्र शान्ति और आनन्द विराजमान रहता है। संसार में इस प्रकार आनन्द तथा शान्ति की प्रतिष्ठा करने के लिये श्रीभगवान् ने राजा को एक अपूर्व वस्तु प्रदान की है, जिसका वर्णन मनुजी ने निम्नलिखित रूप से किया है–

अस्याऽर्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः ।।
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ।।
तद्देशकालौ शक्तिञ्च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु ।।
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ।।
दण्डः शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाऽभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।।
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ।।
यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवाऽपक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ।।
अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वावलिह्येद्धविस्तथा ।
स्वाम्यञ्च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्त्तेताऽधरोत्तरम् ।।
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगद् भोगाय कल्पते ।
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ।।
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात् ।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ।।

राजा के हितार्थ ही परमात्मा ने आदिकाल में सकल-प्राणि रक्षक, धर्मस्वरूप, आत्मज और ब्रह्मतेजोमय दण्ड की सृष्टि की थी। इसी दण्ड के भय से ही चराचर समस्त जगत् अपने अपने भोग में प्रतिष्ठित है और कोई भी धर्म से विचलित नहीं हो सकता है। देश, काल, शक्ति तथा विद्या इन चारों को यथार्थ रूप से जांच करके अन्यायकारी के प्रति राजा को योग्य दण्ड का विधान करना चाहिए। वास्तव में दण्ड ही राजा, दण्ड ही पुरुष, दण्ड ही नेता तथा शासनकर्त्ता है। महर्षिगण ने दण्ड को ही चार आश्रम तथा धर्म के लिये जिम्मेवार कहा है। दण्ड ही समस्त प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही प्रजा की रक्षा करता है, समस्त संसार के सोने के समय एकमात्र दण्ड ही जाग्रत रहता है, पण्डितों ने दण्ड को ही सकल धर्म का मूल कहा है। यही दण्ड विचारपूर्वक धारण होने से प्रजारञ्जन कर सकता है और अन्यथा प्रजाओं का नाश करता है। यदि राजा सचेष्ट होकर दण्डयोग्य के प्रति दण्डदान न करते तो बलवान् लोग दुर्बल को शूल पर चढ़ी हुई मछली की तरह दुःख देते, यज्ञीय चरु को काक भक्षण कर लेता, मंत्रपूत हवि को श्वान भक्षण कर लेता, सभी अपने अधिकार से च्युत हो जाते और नीच जाति श्रेष्ठ जाति को पराभूत कर देती। केवल दण्ड के भय से ही मनुष्यगण न्यायपथ में रहते हैं क्योंकि स्वभावतः पवित्र लोग संसार में दुर्लभ हैं। दण्ड के ही भय से समस्त जगत् निज निज भोग्य भोगने में समर्थ हैं। देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, विहङ्ग और सर्प ये सब केवल दण्ड के भय से ही कर्त्तव्य पक्ष में रहते हैं। अन्यायरूप से दण्ड देने पर अथवा दण्ड के अभाव से ब्राह्मणादि सभी वर्ण दुष्ट होकर मर्यादा का अतिक्रमण करते हैं और चोरी आदि के कारण सबके हृदय में क्षोभ उत्पन्न होता है। जहाँ पर श्यामवर्ण तथा लालनेत्र दण्ड, पापनाश के लिये भ्रमण करता है और जहाँ पर न्यायानुसार दण्ड का विधान होता है। वहाँ पर प्रजा कभी दुःख नहीं पाती है। इस प्रकार देवांश से उत्पन्न, तेजस्वी, न्यायदण्डदाता, प्रजापालक राजा के प्रति प्रजा का क्या क्या कर्त्तव्य है, सो आर्यशास्त्र में वर्णित किया गया है, यथा मनुसंहिता में–

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ।।
तं यस्तु द्वेष्टि सम्मोहात् स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ।।
तास्माद् धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टञ्चाऽप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ।।

जिनके प्रसन्न रहने से महती श्री का लाभ होता है, जिनके पराक्रम से विजयलाभ होता है और जिनका क्रोध मृत्यु का निवासस्थान है, ऐसे राजा निश्चय ही सर्वतेजोमय हैं। जो मनुष्य मोहवश राजा के साथ द्वेष करता है वह निश्चय ही विनाश को प्राप्त होता है। राजा उसके नाश के लिये शीघ्र ही मन:संयोग करते हैं। अत: शिष्टपालन तथा दुष्टदमन के वास्ते राजा जो कुछ धर्मनियम संस्थापित करते हैं, उनका उल्लङ्घन करना प्रजा के लिये कदापि कर्तव्य नहीं है। राजा के प्रति प्रजा के कर्तव्य के विषय में भीष्मपितामहजी ने भी महाभारत में बहुत कुछ उपदेश किया है, यथा शान्तिपर्व में–

यस्याऽभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः ।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत् ।।
यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाऽप्यनुचिन्तयेत् ।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्याऽपि नरकं व्रजेत् ।।
नास्याऽपवादे स्थातव्यं दक्षेणाऽक्लिष्टकर्मणा ।
न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात् ।।
तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत् ।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ।।

जिनके न रहने से सर्वत्र जीवों का अभाव और रहने से जीवों की स्थिति रहती है, ऐसे राजा की कौन नहीं पूजा करेगा? जो मनुष्य ऐसे राजा के लिये मन से भी पापचिंता करेगा, वह निश्चय ही इहलोक में क्लेशयुक्त और परलोक में नरक में जायगा। बुद्धिमान् पुरुष को राजा के किसी प्रकार के अपवाद में भी संश्लिष्ट नहीं रहना चाहिए। उसकी इच्छा के विपरीत आचरण करने से प्रजा को कभी भी सुख नहीं प्राप्त होता है। उनकी सम्पत्ति के प्रति कदापि लोभ नहीं करना चाहिए। राजधन

हरण से यमराज की तरह डरना चाहिए। इस प्रकार से आर्यशास्त्र में राजा के प्रति प्रजा का कर्तव्य बताया गया है। राजभक्त प्रजा इन धर्मों का अनुष्ठान अकपट चित्त से करने पर प्रजाधर्म पालन द्वारा अवश्य ही इहलोक और परलोक में सुख शान्ति को प्राप्त करेंगी।

अत: संक्षेप से राजधर्म का वर्णन किया जाता है। मन्वादि शास्त्र में राजधर्म के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है, जो उन ग्रन्थों के पाठ करने से परिज्ञात हो सकेगा। यहाँ पर संक्षेप से प्रधान प्रधान विषयों का उल्लेख किया जाता है। मनुजी ने लिखा है–

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ।।
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ।।

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि सभी राजा के द्वारा होते हैं, अत: राजा को युग कह सकते हैं। राजा जब प्रजा की श्रीवृद्धि के प्रति आँखें मूँद लेता है, तब कलि, जब वह राजकार्य में जागृत रहता है तब द्वापर, जब राजकर्म अनुष्ठान में अवस्थित रहता है तब त्रेता और जब यथाशास्त्र कार्यानुष्ठान करते हुए स्वच्छन्द विचरण करता है, तब सत्ययुग होता है। महाभारत के शान्तिपर्व में राजा के साथ काल का अपूर्व सम्बन्ध बताया गया है, यथा–

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो माभूद्राजा कालस्य कारणम् ।।
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्त्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्त्तते ।।
ततः कृतयुगे धर्मो नाऽधर्मो विद्यते क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां नाऽधर्मे रमते मनः ।।
योगक्षेमाः प्रवर्त्तन्ते प्रजानां नाऽत्र संशयः ।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ।।
ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः ।
प्रसीदन्ति नराणाञ्च स्वरवर्णमनांसि च ।।
व्याधयो न भवन्त्यत्र नाऽल्पायुर्दृश्यते क्वचित् ।
विधवा न भवत्यत्र कृपणो न तु जायते ।।

अकृष्टपच्या पृथ्वी भवन्त्योषधयस्तथा ।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ।।
नाऽधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम् ।
इति कार्त्तयुगानेतान्धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ।।
दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्त्तते ।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्त्तते ।।
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्त्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथ्वी भवन्त्योषधयस्तथा ।।
अर्द्धं त्यक्त्वा यदा राजा नित्यार्थमनुवर्त्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्त्तते ।।
अशुभस्य यदा त्वर्द्धं द्वावंशावनुवर्त्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथ्वी भवत्यर्द्धफला तथा ।।
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कात्स्न्र्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्त्तेत तदा कलिः ।।
कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ।।
शूद्रा भैक्ष्येण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्त्तते वर्णसंकरः ।।
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ।।
हसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ।।
विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद् वर्षति पर्जन्यः क्वचित् शस्यं प्ररोहति ।।
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यगद्ण्डनीतिसमाहितः ।।
राजा कृतयुगस्त्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ।।
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नाऽत्यन्तमश्नुते ।।

प्रवर्त्तनाद्द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्त्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ।।
ततो वसति दुष्कर्म्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्त्तिं पापं च विन्दति ।।

काल राजा का कारण है अथवा राजा काल का कारण है इस प्रकार सन्देह होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि राजा ही काल का कारण है। जिस समय राजा पूर्ण धर्मानुसार दण्डनीति के द्वारा राज्य पालन करते हैं, उसी समय काल की प्रेरणा से सत्ययुग का उदय होता है। सत्ययुग के उदय होने से सभी वर्णों की प्रजाओं का मन धर्म पर होता है और अधर्म का नाम भी नहीं रहता है। प्रजाओं का योगक्षेम निःसन्देह निर्वाह होता है और सभी गुण वेदानुकूल होते हैं। समस्त ऋतुएँ सुखमय तथा रोगरहित होती हैं और मनुष्यों के स्वर, वर्ण और मन प्रसन्नता से युक्त रहते हैं। देश में किसी प्रकार की व्याधि और अल्पायु नहीं देखा जाता है, नारी विधवा नहीं होती है और कृपणता भी किसी में नहीं होती है। पृथ्वी कर्षण किये बिना ही शस्य प्रदान करती है और औषधिसमूह भी स्वतः उत्पन्न होते हैं। त्वक्, पत्र, फल तथा मूल वीर्यवान् होते हैं। उस समय कहीं भी अधर्म नहीं होता है और सर्वत्र केवल धर्म ही रहता है। कृतयुग के ये ही सब लक्षण जानने चाहिए। जिस समय राजा दण्डनीति के तीन अंश का पालन करते हैं और चतुर्थांश का परित्याग करते हैं उस समय त्रेता युग का उदय होता है। त्रेतायुग के उदय होने से एक अंश अशुभ और तीन अंश शुभ रहता है। पृथ्वी और औषधियाँ कर्षण के द्वारा ही फल प्रसव करती हैं। जिस समय राजा दण्डनीति के दो अंश का त्याग कर प्रजापालन करते हैं उस समय द्वापर युग का उदय होता है। उस समय दो भाग शुभ और दो भाग अशुभ होता है और पृथ्वी कर्षण करने पर भी अर्द्ध फल को उत्पन्न करती है। जिस समय सम्पूर्ण दण्डनीति को त्याग करके राजा प्रजा को कष्ट दिया करते हैं उस समय कलियुग का उदय होता है। कलियुग में अधर्म बहुत होता है। कहीं पर धर्म नहीं दिखता है। समस्त वर्णों का मन धर्म से च्युत हो जाता है। उस समय शूद्र भिक्षावृत्ति द्वारा और ब्राह्मण सेवावृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, सर्वत्र योगक्षेम का नाश तथा

वर्णसङ्कर प्रजा की उत्पत्ति होती है। समस्त वैदिक कर्म गुणहीन हो जाता है, ऋतुओं का ठीक ठीक सुखकर उदय नहीं होता है और सर्वत्र रोग फैलता है। मनुष्यों का स्वर, वर्ण और मन दुर्बल हो जाता है, व्याधि की उत्पत्ति होती है और लोग अल्पायु होकर मर जाते हैं। नारी पतिहीना और प्रजा नृशंस हो जाती है, वर्षा और शस्य का अभाव हो जाता है और समस्त रसों का क्षय हो जाता है, इस प्रकार से राजा ही सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग के कारण होते हैं। सत्ययुगकर्ता राजा को अक्षय स्वर्ग मिलता है, त्रेतायुगकर्त्ता राजा को सक्षय स्वर्ग लाभ होता है। द्वापर युगकर्त्ता राजा को कर्मानुसार फल मिलता है और कलियुगकर्त्ता राजा विशेष पापभागी होते हैं। एतादृश दुष्कर्मी राजा अनन्तकाल तक नरक में वास करता है और अकीर्ति तथा पाप दोनों ही प्राप्त करता है। अतः जब राजा के राज्यशासन पर ही धर्माधर्म तथा युगपरिवर्त्तन आदि समस्त ही निर्भर करता है, तो उनका कर्तव्य है कि अपनी जिम्मेवारी को समझ कर धर्मानुकूल दण्डनीति का प्रयोग करें अन्यथा वे स्वयं भी राजधर्म से च्युत होकर पापपङ्क में निमग्न होंगे और प्रजा को भी अनन्त दुःख सागर में निमग्न करेंगे। महाभारत में लिखा है–

लोकरञ्जनमेवाऽत्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चाऽर्जवम् ।।
आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चाऽर्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ।।
अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः ।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ।।
पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचारिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ।।

सत्यरक्षा, व्यवहार में सरलता और प्रजारञ्जन ही राजा का सनातन धर्म है। आत्मवान्, क्रोधहीन, शास्त्रार्थ के द्वारा निश्चय करने वाले, धमार्थकाममोक्ष में सदा तत्पर, व्यसनदोषशून्य, मृदुदण्ड देने वाले और जितेन्द्रिय राजा सभी के विश्वासपात्र होते हैं। पितृगृह में पुत्र की तरह जिनके राज्य में प्रजा निर्भर होकर विचरण कर सकती है वही राजा सर्वश्रेष्ठ है। राजधर्म के विषय में महाभारत में और भी कहा है–

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नाऽमात्यानवमन्यते ।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ।।
संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपर्तिदुर्ब्बलान्नरान् ।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्मजायते ।।
यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति ।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ।।
यदा सारणिकान् राजा पुत्रवत् परिरक्षति ।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ।।
यदाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः ।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ।।
कृपणाऽनाथवृद्धानां यदाऽश्रु परिमार्जति ।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ।।
विवर्द्धयति मित्राणि तथाऽरींश्चाऽपि कर्षति ।
सम्पूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ।।
सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति ।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते ।।

जब अपनी सम्पत्ति प्रजाओं में विभक्त करके राजा भोग करते हैं, मन्त्रियों की अवमानना नहीं करते हैं और बलवान् दर्पदुष्ट पुरुषों का निधन करते हैं तभी राजधर्म का यथार्थ पालन होता है। राजा के दुर्बल पुरुषों की सहायता करने से राज्य में बलवान् जन उत्पन्न होते हैं, यही राजा का धर्म है। जब राजा राष्ट्ररक्षा, दस्युदमन और संग्राम में विजय लाभ करते हैं, तभी राजधर्म का पालन होता है। जब राजा सम्पत्ति-विस्तारकारी वणिक्जनों की पुत्रवत् रक्षा करते हैं और किसी प्रकार से भी मर्यादा भंग नहीं करते हैं तभी राजधर्म पालन यथार्थ रूप से होता है। जब राजा काम और द्वेष को त्याग करके श्रद्धा के साथ दक्षिणायुक्त यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं तभी राजधर्म का पूरा पालन होता है। जब राजा दीन, अनाथ और वृद्धों का दुःखाश्रु मार्जन करते हैं और समस्त प्रजाओं का आनन्द वर्धन करते हैं तभी यथार्थ राजधर्म होता है। मित्रों की वृद्धि, शत्रुओं का नाश और साधुजनों की पूजा के द्वारा राजधर्म का पालन होता है। प्रीति के साथ सत्यपालन, नित्य भूमिदान और अतिथि और

भृत्यों के प्रतिपालन द्वारा यथार्थ राजधर्म का अनुष्ठान होता है। धर्म के साथ प्रजा वृद्धि का अमोघ संबंध रहने से राजा के लिये धर्म तथा धर्मयोनि ब्राह्मणों का प्रतिपालन परम राजधर्मरूप से महाभारत में बताया गया है, यथा–

धर्मे वर्द्धति वर्द्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा ।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद् धर्म न लोपयेत् ।।
प्रभवाऽर्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयमभुवा ।
तस्मात् प्रवर्त्तयेद् धर्मं प्रजाऽनुग्रहकारणात् ।।
धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात्तान् पूजयेत् सदा ।
ब्राह्मणानाञ्च मान्धातः कुर्यात् कामानमत्स ।।
ब्रह्मवृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति ।
अरक्ष्यमाणः सततमश्रु पापञ्च वर्षति ।
ब्रह्म वर्द्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्द्धते ।
एवं राज्ञा विशेषेण पूज्या वै ब्राह्मणाः सदा ।।

धर्म की वृद्धि से भूतों की वृद्धि और धर्म के ह्रास से भूतों का नाश होता है इसलिये धर्म को लुप्त नहीं करना चाहिये। भूतों की पुष्टि के लिए ही श्रीभगवान् ने धर्मा का प्रकाश किया है। अतः प्रजानुग्रह-हेतु राजा को अपने राज्य में धर्म की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। शास्त्र में ब्राह्मण ही धर्मयोनि कहा गया है इसलिये द्वेषशून्य होकर राजा को ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। ब्रह्मवृक्ष की रक्षा के द्वारा मधु और स्वर्ण की वर्षा होती है और अरक्षा से अश्रु और पाप की वर्षा होती है। ब्राह्मण क्षत्रिय की पुष्टि करते हैं। क्षत्रिय भी ब्राह्मण की पुष्टि करते हैं। दोनों में परस्पर सम्बन्ध विद्यमान है। इसलिये राजा का कर्त्तव्य है कि, विशेष रूप से ब्राह्मणों की सेवा करे। यदि राजा धर्म और उसके मूलधन ब्राह्मणों की सेवा करेंगे, तो इसका क्या फल होगा सो महाभारत में वर्णित है:-

क्षत्रिय राजा के प्रमत्त होने से महान् दोष उत्पन्न होता है। अधर्म की वृद्धि होती है और प्रजाओं में वर्णसङ्करता फैलती है। असमय में शीत और शीत के समय शीत नहीं होता है, अनावृष्टि, अतिवृष्टि और प्रजाओं में व्याधि उत्पन्न होती है। अनिष्टकर ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु आदि का अत्याचार देखने में आता है, जिससे राज्यनाश की शङ्का होने लगती है। इसप्रकार से अरक्षितात्मा जो राजा प्रजा की भी रक्षा नहीं करते हैं।

उनका प्रजा क्षय होता है और तदनन्तर वे भी नाश को प्राप्त होते हैं। राजधर्म सम्बन्ध में महर्षि याज्ञवल्क्यजीने लिखा है:-

ब्राह्मणों को धनदान और प्रजाओं को अभयदान से अधिक उत्तम धर्म राजओं के लिये और कुछ भी नहीं है। राज्यरक्षा के लिये सन्मुख संग्राम में निहत राजा योगियों की तरह ऊर्ध्व गति लाभ करते हैं। निज सैन्यों के युद्ध में विमुख होने पर भी जो राजा शत्रुओं के अभिमुखीन होते हैं, उनको प्रतिपदक्षेप में अश्वमेध यज्ञ का फल होता है। मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहने वाले क्लीव, निरस्त्र, अन्य के साथ युद्ध में रत, युद्धविमुख, युद्धदर्शी और चारणादिकों को युद्ध के समय आघात नहीं करना चाहिये। राजा ब्राह्मणगण के प्रति क्षमा, प्रेमपात्र के प्रति सरलता शत्रु के प्रति क्रोध और सेवक और प्रजाओं के प्रति पिता की तरह आचरण करेंगे। न्यायानुसार प्रजापालनकारी राजा को प्रजा के पुण्य का षष्ठांश प्राप्त होता है क्योंकि प्रजापालन भूमि आदि समस्त वस्तुओं के दान से अधिक फलका देनेवाला है। प्रजापालनाभाव से अरक्षित प्रजागण जो कुछ असत्कार्य करते हैं, राजा उसके अर्द्धांशके भागी होते हैं क्योंकि रक्षा हेतु ही राजा प्रजा से कर ग्रहण करते हैं। अन्याय पूर्वक राज्य से अर्थ संग्रह करके जो राजानिज राजकोष वृद्धि करते हैं, वे शीघ्र ही श्री भ्रष्ट होकर सबान्धव नाश को प्राप्त होते हैं। प्रजापीडन के सन्ताप से उत्पन्न अग्नि राजा का वंश, लक्ष्मी तथा प्राण पर्यन्त दग्ध न करके निवृत्त नहीं होती है। मनुसंहिता के सप्तम और अष्टम अध्याय में राजधर्म के विषय में बहुत कुछ वर्णन किया गया है, जिसमें से कुछ-कुछ प्रमाण नीचे उद्धृत किये जाते हैं:-

महर्षियों ने सत्यवादी, विचारवान्, प्राज्ञ और धर्मार्थकाम-तत्ववित् राजा को ही यथार्थ दण्डदानकर्त्ता कहा है। विचारपूर्वक दण्डविधान करने से धर्मार्थकामरूप त्रिवर्गों की वृद्धि होती है और क्षुद्र, कामात्मा तथा विषय स्वभावयुक्त राजा दण्डापराध से स्वयं ही निधन प्राप्त होते हैं। अन्याय दण्ड राज दुर्ग, स्थावर अस्थावर सम्पत्ति, समस्त राज्य और ऊर्ध्वलोक के ऋषि और देवताओं को भी दुःख प्रदान करता है। अपने राज्य में न्यायानुसार दण्डविधान, शत्रु को कठिनदण्डदान, आत्मीय स्वजनों के प्रति सरल व्यवहार और ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशीलता, इन सब सद्गुणों से विभूष्ति नृपति यदि उञ्छ वृत्ति के द्वारा

भी जीविका निर्वाह करें तथापि उनका यश जल में तैल की बिन्दु की नाईं विस्तार को प्राप्त हो जाता है।

त्रिवेद के ज्ञाता ब्राह्मणों से वेदत्रय शिक्षा और अर्थशास्त्रज्ञ पण्डितों से दण्डनीति की शिक्षा, तार्किक और वैदान्तिकों से तर्कशास्त्र और ब्रह्मविद्या की शिक्षा और कृषि वाणिज्य और पशुपालनादि द्वारा धनोपार्जन की शिक्षा राजा अवश्य प्राप्त करें। इन्द्रियों पर आधिपत्य लाभ करने के लिये राजा को सर्वदा सचेष्ट रहना चाहिये, क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही अपनी प्रजाओं को वशीभूत रख सकते हैं। दशविध कामज व्यसन और अष्टविध क्रोधज व्यसनका राजाको अवश्य ही त्याग करना चाहिये। कामज व्यसन में आसक्त नृपति धर्म और अर्थ से वञ्चित होते हैं और क्रोधज व्यसन में आसक्त नृपति प्राण से भी वञ्चित हो सकते हैं। मृगया, पाशक्रीड़ा, दिवानिद्रा, परदोषकथन, स्त्रियों में आसक्ति, मदजनितमत्तता, वाद्य, नृत्य, गीत और वृथा भ्रमण ये दश दोष कामज हैं। पिशुनता (वृथा दोष कल्पना), दु:साहस, द्रोह, ईर्षा, द्वेष, परधनहरण, कठिन वाक्य और कठिन दण्ड प्रदान, ये आठ क्रोधज दोष हैं।

पुरुषानुक्रमसे राजकर्मचारी, वेदादि धर्मशास्त्र में पारदर्शी, स्वयं शूर, युद्ध विद्या में निपुण, सत्कुलोद्भव और परीक्षित, सात या आठ मंत्री राजा के पास रहने चाहियें। सन्धि, विग्रह, चतुर्विध सेनाओं का पोषण, राजधनवर्द्धन, प्रजारक्षण और उपार्जित अर्थ का सत्पात्र में दान, इन सब विषयों में मंत्रियों के साथ राजा को सत्परामर्श करना चाहिये।

प्रजापालक राजा समबल, हीनबल अथवा अधिकबल विपक्ष नरपति द्वारा युद्ध के लिये बुलाये जाने पर युद्ध ही क्षत्रिय का धर्म है। इस वाक्य को स्मरण करके कभी युद्ध से विरत नहीं होंगे। ब्राह्मण सेवा, प्रजापालन और संग्राम में विमुख न होना ये सब राजा के परम श्रेयस्कर धर्म हैं। रणक्षेत्र में यथाशक्ति परस्पर हननकारी अविमुख युद्धनिरत नरपतिगण देहान्त में स्वर्गलाभ करते हैं। रण में भयभीत और रण छोड़कर पलायनोद्यत योद्धा के शत्रुहस्त से निधन प्राप्त होने पर वह उसके प्रतिपालक नरपति के समस्त पाप राशि को प्राप्त करता है और उसका परलोकलाभ तथा समस्त पुण्य उसके भर्त्ता को प्राप्त होता है।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्राऽनुसार्यरिः ।।
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्चपराक्रमेत् ।
वृकवच्चाऽवलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ।।
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामाऽऽदिभिरुपक्रमैः ।।

सर्वदा सेनाओं को सुशिक्षा प्रदान करना, सदा पौरुष दिखाना, गोपनीय विषयों को सदा गोपन करना और शत्रुओं का छिद्रान्वेषण करना राजा का कर्तव्य है। बक की तरह अर्थचिन्ता, सिंह की तरह पराक्रम प्रदर्शन, व्याघ्र की तरह शिकार और दुर्बल होने पर शशक की तरह पलायन करना चाहिए। इस प्रकार से विजय के लिये सर्वथा प्रस्तुत राजा का जो विरुद्धाचरण करेगा उसे साम, दाम, दण्ड, भेद इन चतुर्विध उपायों से वशीभूत करना राजा का कर्त्तव्य है।

नोच्छिद्यादात्मनो मूलं परेषाञ्चाऽतितृष्णाया ।
उच्छिदन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ।।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ।।
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमांगतिम् ।

प्रजाओं के प्रति अति स्नेहवश कुछ भी कर न लेकर अपना मूलच्छेदन अथवा अतितृष्णा से प्रजा का सर्वस्व ग्रहण करके उनका मूलच्छेदन करना राजा का कर्त्तव्य नहीं है। कार्य्य के अनुरोध से राजा को कभी मृदु और कभी तीव्र होना चाहिए। इस प्रकार मृदु और तीव्र भावधारी राजा सभी के प्रिय होते हैं। इस प्रकार से शास्त्रनिर्दिष्ट समस्त राजधर्म का अनुष्ठान करने से राजा सर्वपापनिर्मुक्त होकर अन्त में परम गति को प्राप्त करते हैं।

यही संक्षेप से राजा और प्रजाधर्म का वर्णन किया गया। इसका विस्तृत विवरण मन्वादि शास्त्र में देखना उचित है।

***

प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म

विशेष धर्म्म के अनेक अङ्गों में से प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म ये दोनों बहुत ही आवश्यकीय अङ्ग हैं। इन दोनों के रहस्य को समझे बिना विशेष धर्म का स्वरूप ठीक ठीक समझ में नहीं आ सकता। सृष्टिप्रवाह के द्वन्द मूलक होने के कारण जिस प्रकार सृष्टि के सब स्थूल और सूक्ष्म अङ्ग द्वन्द्व स्वरूप होकर दो दो रूप को धारण करते हैं, उसी प्रकार प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म को भी समझना उचित है। जिस प्रकार सूक्ष्म राज में क्लिष्टवृत्ति और अक्लिष्टवृत्ति, पाप और पुण्य, सुख और दु:ख, स्वर्गलोक और नरक लोक, सप्त अधोलोक और सप्त ऊद्र्ध्वलोक, प्रेतलोक और पितृलोक, असुर और देवता आदि द्वन्द मूलकसृष्टि है, उसी प्रकार स्थूल राज्य में भी उजाला और अन्धेरा, दिन और रात, दु:खदायी विषय और सुखदायी विषय, शत्रु और मित्र, द्वेषमूलक पदार्थ और रागमूलक पदार्थ, स्त्रीसृष्टिप्रवाह और पुरुषसृष्टिप्रवाह, सात्त्विक सृष्टिप्रवाह, यथा– गाय, घोड़ा आदि, तामसिक सृष्टिप्रवाह, यथा– भैंस, गधा आदि, उद्भिज आदि की विषमयी प्रकृति और अमृतमयी प्रकृति आदि द्वन्द्वमूलक सृष्टि है; ठीक इसी शैली पर अनादि अनन्त रूप धारी धर्म्म रूपी महासमुद्र में प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म की दो धाराएँ अखिल मानव सृष्टि की कल्याणप्रद हैं।

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म की क्रियाशैली के अनुसार ये दोनों द्वन्द्वमूलक होने पर भी लक्ष्य के अनुसार दोनों ही एक हैं। संसार की अन्यान्य सृष्टि जिस प्रकार एक दूसरे से विरुद्ध पथगामी होने के कारण एक दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध है, फल के विचार से प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म वैसे नहीं हैं। यद्यपि प्रवृत्तिधर्म की क्रिया निवृत्तिधर्म की क्रिया से सर्वथा ही विरुद्ध है, यद्यपि प्रवृत्तिधर्म के साधक के आचार से निवृत्तिधर्म के साधक का आचार एक दम ही विपरीत प्रतीत होता है और

यद्यपि प्रवृत्तिधर्म के अधिकारी और निवृत्तिधर्म के अधिकारी इन दोनों के अन्तःकरण का भाव एक दूसरे से विरुद्ध रहता है; परन्तु दोनों प्रकार के धार्मिक अन्त में एक ही लक्ष्य स्थल पर पहुँच जाते हैं, अवश्य दोनों की गति में और दोनों के देशकाल में बहुत अन्तर है, परन्तु दोनों का गन्तव्य स्थल एक ही है। प्रवृत्तिमार्ग का अधिकारी धार्मिक कामना को मुख्य रख कर आचार्य गुरु और शास्त्र आदि के उपदेश के अनुसार धीरे धीरे चलता हुआ भावशुद्धिपूर्वक अपनी वासनाओं को घटाता हुआ धर्म की अलौकिक और अपरिमित शक्ति के बल से अध्यात्म राज्य में पहुंच कर बहु देशकाल में फिरता हुआ पर-वैराग्य भूमि में पहुँच कर मुक्ति का अधिकारी हो जाता है और निवृत्तिधर्म का अधिकारी विषयवैराग्यशील धार्मिक व्यक्ति पहले ही से कामना-त्याग का अभ्यास करता हुआ विषय भोग से मुँह फिरा कर शीघ्र ही अध्यात्म राज्य में पहुँच कर पर-वैराग्य का अधिकारी होता हुआ मुक्त हो जाता है। धर्मत्वरूप से धर्म व्यापक होने से वह भगवच्छक्तिरूप धर्म जिस प्रकार प्रवृत्तिधर्मपथगामी पथिक को उन्नत करता जाता है, उसी प्रकार निवृत्तिमार्ग के पथिक को भी उन्नत करता जाता है, पहुँचते हैं दोनों एक ही मुक्तिभूमि पर, केवल भेद इतना ही है कि दोनों की गति और दोनों के मार्ग अलग अलग हैं। लक्ष्य के विचार से दोनों ही धर्ममार्ग होने पर भी साधक के अधिकार, साधक के अन्तःकरण का भाव और साधक के आचार के सम्बन्ध से दोनों एक दूसरे से विरुद्ध होने के कारण ये धर्म द्वन्द्वमूलक हैं।

वर्णधर्म और आश्रमधर्म के अध्याय में पहले ही कहा गया है कि वर्ण धर्म तो प्रवृत्तिरोधक है और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है। वर्णधर्म्म प्रधानतः प्रवृत्तिधर्म्म को ही निभाता हुआ क्रमशः मनुष्यों की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति को रोकता हुआ आर्य्य जाति के मनुष्यों को मुक्तिभूमि में पहुँचा देता है; उसी प्रकार आश्रम धर्म क्रमशः आर्य्यजाति के मनुष्यों में निवृत्तिधर्म की वृद्धि करता हुआ आर्य्यजाति को मुक्तिभूमि में पहुँचा देता है।

वेद ने मनुष्यों के देहान्त के अनन्तर उनकी क्रमोन्नति की दो गति स्पष्ट रूप से वर्णन की है, यथा–

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्य-

र्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षड्डुदङ्ङेति मासाँ् स्तान्। मासेभ्यः संवत्सरँ् संवत्सरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनां ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति। अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासाँ् स्तान्नैते संवत्सरमभि-प्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। तस्मिन् यावत्सम्यातमुषि-त्वाऽथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्तन्ते।

–छान्दोयग्य ५ प्रपाठक १० खण्ड।

निवृत्तिपरायण जो तपस्विगण श्रद्धा के साथ अरण्य में निवास करके उपासना और ज्ञानमार्ग में अग्रसर होते हैं, उनकी गति देहावसान में अर्चिरादि लोक अर्थात् सूर्य द्वार पंथा के आश्रय से होती है। वे अर्चिरभिमानिनी देवता के लोक से दिवसाभिमानिनी देवता के लोक, तदनन्तर आपूर्यमाणपक्ष देवता, षण्मास देवता, संवत्सर देवता, आदित्य देवता, चन्द्रमा देवता, विद्युत देवता, इस क्रम से भिन्न भिन्न देवताओं के लोक अतिक्रम करने के बाद उनको एक अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। यही देवयान पन्था है जहाँ से उपासक को संसार में पुनरावर्तन नहीं करना पड़ता है; किन्तु ब्रह्मलोक से ही निःश्रेयस पद की प्राप्ति हो जाती है। दूसरी ओर जो गृहस्थ लोग अपने गृहस्थाश्रम में ही रह कर इष्टापूर्तादि का अनुष्ठान करते हैं। वे मृत्यु के बाद धूम्रयान अर्थात् पितृयान मार्ग से ऊपर जाते हैं। उनको क्रमशः धूमाभिमानिनी देवता, रात्रिदेवता, कृष्ण पक्षदेवता, मासदेवता और दक्षिणायन देवता के लोक को अतिक्रम करके संवत्सराभिमानिनी देवता के लोक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से पितृलोक और आकाश के भीतर से गति होकर अन्त में उनको चन्द्रदेवता का लोक प्राप्त होता है जहाँ पर चन्द्र राजा है। चन्द्रलोक में वे जीव वहां के देवताओं के उपयोग्य बन कर उनके साथ क्रीड़ा करते हैं। वहाँ पर कर्मक्षय-कालपर्यन्त निवास करके जिस मार्ग से चन्द्रलोक प्राप्त हुआ था, उसी मार्ग से जीव संसार में पुनः आ जाते हैं।

श्रीगीताजी में भी भगवान् ने कहा है कि–

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः।।

जिस काल में गमन करने से योगियों को लौटना या नहीं लौटना पड़ता है, सो बताया जाता है। अग्निरभिमानिनी देवता, ज्योतिरभिमानिनी देवता, दिवसाभिमानिनी देवता, शुक्लपक्ष देवता और उत्तरायण देवता, इन सबके द्वारा अधिष्ठित मार्गो को अतिक्रम करके जो देवयान गति है उससे ब्रह्मनिष्ठ योगिगण पुनः न लौटकर क्रमोद्ध्र्वगति द्वारा ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं, परन्तु दूसरी गति जो पितृयान या धूमयानगति कहलाती है उसमें धूमाभिमानिनी देवता, रात्र्यभिमानिनी देवता, कृष्णपक्ष देवता तथा दक्षिणायन देवता, इन सबके द्वारा अधिष्ठित मार्गों को अतिक्रम करके चन्द्रलोक में जाना होता है। इस प्रकार गति के प्राप्त होने से योगी को भोग के अन्त में पुनः संसार में लौटना पड़ता है। यही लौटने तथा न लौटने की कृष्ण और शुक्ल गति विश्वजगत् में अनादि प्रसिद्ध है।

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि, प्रेतत्व नरक आदि अधोगामी गति को छोड़ देने से ऊद्ध्र्वगामी गति जो मनुष्यों को पुण्यकर्मों से प्राप्त होती है सो दो हैं। दोनों में मनुष्यों को उत्तरोत्तर सुख ही प्राप्त होता है, केवल चन्द्रगति के सुख में ज्ञान की कमी है और सूर्यगति के सुख में ज्ञान की अधिकता है। दोनों गतियों में ही मनुष्य नीचे की ओर नहीं उतरता है ऊपर की ओर ही चढ़ता रहता है; भेद इतना ही है कि चन्द्रगति में मनुष्य पितृलोक तथा स्वर्गलोक आदि में पहुँच कर वहां का सुख भोगकर पुनः पृथ्वी लोक में ही जन्म लेता हुआ प्रवृत्ति जनित शुभकर्म करते करते पुनः उसी प्रकार स्वर्गादि उच्चलोक में आना जाना जारी रख कर क्रमशः आत्मोन्नति करता है और सूर्य्यगति में मनुष्य

निवृत्ति प्रधान कर्म करता हुआ ऐसे उन्नत लोकों को प्राप्त करता है कि, जहां से पुनरावृत्ति (लौटना) नहीं होती किन्तु वह अधिकारी क्रमशः उन्नत होता हुआ आध्यात्मिक उन्नत अधिकार को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। चन्द्रगति में स्वर्गसुख और उन्नततर सकाम कर्म करते करते आध्यात्मिक उन्नति की अवस्था में अग्रसर होना होता है और सूर्य्य गति में एक बार ही ऐसे उन्नत लोकों में पहुँचना होता है कि, जहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती और स्वतः आध्यात्मिक उन्नति होती रहती है। दोनों ही मार्ग उन्नति के हैं, एक में सकामभाव की अधिकता के साथ भोग परायणता बनी रहती है और दूसरे में भोगपरायणता पहले ही से नहीं रहती और कामना की कमी के साथ ज्ञान की अधिकता रहतीहै; ठीक इसी उदाहरण के अनुसार प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म को समझना उचित है।

श्रीगीताजी में श्रीभगवान् ने मुक्ति की अवस्था और मुक्त के पथ की शैली दो प्रकार से वर्णन की है। एक कर्मयोग द्वारा और एक सांख्ययोग द्वारा, उनका वर्णन इस प्रकार से है–

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।

मुक्तिपथ में अग्रसर हो उन्नति प्राप्त होने के लिये ज्ञाननिष्ठ साधक के लिये ज्ञानयोग तथा कर्मनिष्ठ साधक के लिये कर्मयोग ये दो साधन विहित हैं। इनमें से ज्ञानयोग का लक्षण, यथा–

सर्वकर्माणि मनसा सन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्ज्जुन ।
ज्ञानाऽग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ।।
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।
नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ।।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियाऽर्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।

ज्ञानयोगी महात्मा मन से समस्त कर्मों को त्याग करके नवद्वार से युक्त पुरी रूप शरीर में निष्क्रिय होकर सुख से अवस्थान करते हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित वह्नि काष्ठ को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा समस्त कर्म भस्म हो जाता है। ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु संसार में और कुछ भी नहीं है। इस ज्ञान के योग में सिद्धिलाभ करके महात्मा योगी बहुकाल के अनन्तर आत्मा में प्राप्त होते हैं। द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है, ज्ञान में समस्त कर्मों का लय होता है। जो महात्मा आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हैं, उनको कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहती है। उनके लिये न तो किसी क्रिया से प्रयोजन ही रहता है और न अक्रिया से ही कोई प्रयोजन रहता है। समस्त संसार में किसी मनुष्य के साथ इनका कोई प्रयोजन सम्बन्ध नहीं रहता है। तत्त्वदर्शी महात्मा स्वरूपस्थित रह कर समस्त इन्द्रियों की चेष्टा करने पर भी "इन्द्रियों का विषय इन्द्रियों से हो रहा है, मुझसे उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है" इस प्रकार अनुभव द्वारा श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, ग्रहण, घ्राण, त्याग आदि विषयों के अनुष्ठान में निर्लिप्त रह सकते हैं। जो योगी पुरुष आत्मा के सुख से सुखी आत्मानन्द में रमने वाले और आत्मज्योतिःसम्पन्न होते हैं वे ब्रह्मरूप होकर निर्वाणमुक्ति को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार कर्मयोग के विषय में लिखा है–

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायोऽह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वाऽतीतो विमत्सरः ।।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्त्वा करोति यः ।।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रामिवाऽम्भसा ।
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ।
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।

कर्म का अनुष्ठान न करने से पुरुष को निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती है और कर्मत्याग के द्वारा सिद्धि नहीं प्राप्त होती है। सदा ही कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए, कर्म के न करने से करना ही अच्छा है क्योंकि कर्म न करने पर शरीरयात्रा भी नहीं हो सकती है। यज्ञ के लिये कर्म न करके स्वार्थभाव से कर्म करने पर बंधन प्राप्त होता है। इसलिये यज्ञबुद्धि से सङ्गरहित होकर कर्म करना चाहिए। अनासक्त होकर कर्मानुष्ठान द्वारा परम पद को पुरुष प्राप्त होते हैं। जो कुछ मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट, द्वन्द्व से अतीत, मत्सर हीन और सिद्धि असिद्धि में समभावापन्न महात्मा कर्म करने पर बंधनप्राप्त नहीं होते हैं। निःसङ्ग होकर ब्रह्म में सर्वकर्म समर्पण पूर्वक कार्य करने से जल में स्थित कमलदल की तरह कर्मयोगी बंधन को नहीं प्राप्त होते हैं। योगीगण आत्मशुद्धि के लिये सङ्ग रहित होकर शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा कर्म करते हैं। इस प्रकार से युक्त कर्मयोगी कर्मफल त्याग करके कर्मयोग द्वारा स्वरूप की शान्ति को प्राप्त करते हैं, परन्तु अयुक्त पुरुष सकाम कर्म द्वारा कर्मफल में आसक्त होकर संसार में बद्ध हो जाते हैं।

इन दोनों योग मार्गों के द्वारा साधकों को अन्त में एक ही स्थान प्राप्त होता है, इस विषय में श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है–

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपिगम्यते ।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

अज्ञानी लोग ही ज्ञानयोग तथा कर्मयोग को पृथक् पृथक् कहते हैं, ज्ञानी लोग ऐसा नहीं कहते हैं; क्योंकि इन दोनों में से किसी का भी आश्रय करने पर दोनों का ही फल मिल जाता है। ज्ञानयोग के द्वारा जो पद प्राप्त होता है, कर्मयोग के द्वारा भी वही पद मिलता है। जो महात्मा इन दोनों योगों को एक समझते हैं वे ही यथार्थदर्शी हैं।

अब इन दोनों मार्गों के द्वारा प्रकृति तथा प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न संस्कार के आश्रय से विविध दशाओं को प्राप्त होते हुए कर्मयोगी और सांख्ययोगी अन्त में कैसे निर्वाण पदवी को लाभ करते हैं, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

इन दोनों शैलियों पर विशेष रूप से ध्यान देने से प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म्म के स्वरूप और गति के समझने में सुगमता होगी। अनादि वासना का स्वरूप वैचित्र्यपूर्ण होने के कारण मनुष्यों की प्रकृति और प्रवृत्ति एक ढंग की नहीं होती, विशेषतः श्रीभगवान् ने निज मुख से गीता में कहा है कि जिसकी जैसी प्रकृति पूर्व संस्कारों से बनती है, वह प्रकृति बलपूर्वक कार्य करा लिया करती है, यथा–श्रीमद्भगवद्गीता में–

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

कर्म न करके क्षणभर भी कोई नहीं रह सकता है। प्राकृतिक गुणों से बद्ध जीवों को विवश होकर कार्य करना पड़ता है। प्रकृति के गुणों में मुग्ध होकर जीव कर्म में आसक्त हो जाता है। इसलिये तत्त्ववेत्ता लोग इस प्रकार अधिकारी को अपने अधिकार के अनुकूल मार्ग से विचलित न करें। ज्ञानी लोग भी अपनी प्रकृति के अनुरूप कार्य करने लगते हैं। समस्त जीव प्रकृति के ही अधीन होकर चलते हैं। उसमें निग्रह क्या करेगा?

अत: प्रकृति-वैचित्र्य के कारण धर्म के पथ में चलने वाला पथिक अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कोई सांख्ययोग और कोई कर्मयोग के अवलम्बन से मुक्तिभूमि में अग्रसर होता है। सांख्ययोग के अवलम्बन से अग्रसर होने वाले योगी पहले ही से कर्म में रुचि कम रखते हैं और कर्मयोगी कर्म में ही विशेष रुचि रखता है। वासना वैचित्र्य के कारण पहिले ही से सांख्ययोगी विचार को अधिक प्रिय समझ कर विचार के अवलम्बन से अपनी ज्ञानशक्ति को बढ़ाता हुआ कर्म से सावधान बना रहता है और जो कुछ कर्म करता है, सो ज्ञान के अवलम्बन से विचार के सहित करता है। दूसरी ओर कर्मयोगी विचार का विशेष प्रयोजन नहीं समझता और कर्म में ही स्वाभाविक रुचि रखता है, वह केवल वासना का त्याग करने में स्वभावत: रुचि रखता है और जैसा अवसर आता है, वैसे ही कर्तव्य बुद्धि से कर्म करता हुआ निश्चिन्त रहता है। सांख्ययोगी एक प्रकार से कर्मत्यागी परन्तु ज्ञान से सावधान होता है; परन्तु कर्मयोगी कर्म ही में रत, परन्तु सर्वथा निश्चिन्त रहता है। इन दोनों पथों को इस प्रकार से समझ सकते हैं कि कर्मचक्र में भ्रमण करते हुए मनुष्य जब उन्नततर भूमि में पहुँच जाते हैं, उस समय अनादि वासना के वैचित्र्य के कारण मनुष्यों की प्रकृति दो प्रकार की बन जाती है, उसी समय किसी में प्रवृत्तिधर्म और किसी में निवृत्तिधर्म पालन की प्रवृत्ति और शक्ति अपने आप ही उत्पन्न हो जाती है। प्रवृत्तिधर्म का अधिकारी व्यक्ति धर्मोन्नति चाहता है, परलोक को इस लोक से अधिक समझता है, उसमें विषय वैराग्य भी उत्पन्न हो जाता है, परन्तु वह जो कुछ धर्म साधन करता है उसमें धर्मोन्नति की इच्छा रखता हुआ पुण्य और पुण्यफलरूपी पारलौकिक सुख की ओर विशेष दृष्टि रखता है और निवृत्तिधर्म का अधिकारी व्यक्ति धर्मोन्नति चाहता है, इस लोक से परलोक को भी अधिक समझता है, किन्तु विषय वैराग्य की अधिकता के कारण धर्मोन्नति करने में इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों की ओर विशेष दृष्टि नहीं रखता। यद्यपि सांख्ययोगी और कर्मयोगी दोनों ही जीवन्मुक्त दशा में पहुँच सकते हैं और उस सर्वश्रेष्ठ पद पर पहुँच कर एक ब्रह्मकोटि के जीवन्मुक्त और दूसरे इस कोटि के जीवन्मुक्त (जिनका विस्तारित वर्णन किसी दूसरे अध्याय में आवेगा) हो

जाते हैं, परन्तु यदि मुक्तिभूमि में अग्रसर होने पर भी जीवन्मुक्त पदवी पर न पहुँच सकें तो ऐसी उन्नततम दशा में भी उनको अपने अपने प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म संस्कार के अनुसार उस अति उन्नत अवस्था में भी बड़ी ही भोग वैचित्र्यता रहती है। प्रवृत्तिधर्म पालन करने वाले कर्मयोगी ही क्रमशः तीव्र वासनावेग के कारण देव-पद और इन्द्रादिक उच्च दैवी अधिकारों को प्राप्त करके ब्रह्मपदादि प्राप्त करते हुए एक ब्रह्माण्ड के महाप्रलय के साथ मुक्त होते हैं। सांख्ययोगी की कुछ और ही विचित्रता है, निवृत्तिधर्म का पालन करने वाले सांख्ययोगी यदि जीवन्मुक्त पदवी को न पहुँच सकें, तो सूर्य्यगति के अवलम्बन द्वारा सूर्य्यलोक भेदन करते हुए कालान्तर में सप्तमलोक से मुक्त हो जाते हैं, ऐसे महात्माओं को देवलोक के बड़े बड़े दैवी अधिकारों के भार को वहन करना नहीं होता है। ये सब प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म के अधिकारों की वैचित्र्य पूर्ण विभूतियाँ हैं। इन दोनों अवस्थाओं के वर्णन तथा वेदविहित सकाम यज्ञादि द्वारा इन्द्रादि पदवी प्राप्ति के वर्णन वेदादि शास्त्रों में अनेक पाये जाते हैं, यथा–

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रेष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियंच ।।
एतानि सर्वाण्युपसेवमान स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार समाहितः संशितात्मा यथावत् ।।
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि तेन देवानामगमद् गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणाऽमुत्र भान्ति रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ।।
यतो राजा वैश्रवणः कुबेरो गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यक्रियाञ्च निषेधमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति ।।

(महाभारत)

"यस्ते नूनॐ शतक्रविन्द्र द्युम्नितमो मदः"

सामवेद

"यज्ञेन हि देवा दिवं गताः!" श्रुतिः ।
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च ।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च ।।

(महाभारत)

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।

(श्रुतिः)

इन सब श्लोकों तथा मन्त्रों का भावार्थ यह है कि इन्द्र, बृहस्पति आदि देवतागणों ने संयमशील तथा जितेन्द्रिय होकर, मन के प्रिय सुखों का त्याग करके सत्य, धर्म्म, दम, तितिक्षा और प्रबल तपस्याओं का आचरण किया था, जिसके ही फल से इनको स्वर्ग राज्य तथा अन्यान्य दैवजगत् की विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं। रुद्र, आदित्य, वसु, यम, कुबेर, गन्धर्व, यक्ष आदि देवपदवी तथा ऋषिपदवी समस्त ही इह लोक में सत्कर्मानुष्ठान का फलरूप है। इन्द्र का इन्द्रत्व शतक्रतु होने का ही फल है। देवताओं का देवत्व यज्ञानुष्ठान का ही फलरूप है। यही सब प्रवृत्ति पथगामी कर्मयोगी साधकों का वासना-वैचित्र्यानुसार गति का तारतम्य है। इसके अतिरिक्त जो निवृत्ति पथसेवी ज्ञानयोगिगण भिक्षाचर्यावलम्बन करते हुए अरण्य में तपस्या और ज्ञानोन्नति करते हैं, उनकी गति उत्तरायण मार्ग से सप्तमलोक तक होती है। जहाँ पर पूर्णज्ञान प्राप्त होकर उनको निर्वाण मुक्ति लाभ हो जाता है।

जैसे कर्मयोगी बनना और सांख्ययोगी बनना प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म के ही उच्चतम फल हैं, जैसे ईशकोटि के जीवन्मुक्त बनना और ब्रह्म कोटि के जीवन्मुक्त बनना प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म के ही उन्नत अधिकार हैं, जैसे इन्द्रादि दैवी पद प्राप्त करना और सप्तमलोक में पहुँच कर त्याग की पराकाष्ठा को प्राप्त करते हुए आध्यात्मिक तेज के बल से सूर्य्यलोक भेदन करते हुए मुक्तिभूमि में पहुँचना प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म की शक्ति का ही परिचायक है, वैसे ही दैवी शक्तियों के प्राप्त करने में भी अनेक भेद हैं। कर्म्म-वैचित्र्य के कारण देवलोक में और सूक्ष्मराज्य में भी ऐसे ही दो भेद पाये जाते हैं। कर्मयोग में प्रीति रखने वाले देवलोक प्राप्त किये हुए योगी देवता बन जाते हैं और सांख्ययोग में अधिक रुचि रखने वाले योगी सूक्ष्मराज्यमय देवलोक में पहुँच कर ऋषि बन जाते हैं। जिन महात्माओं में प्रवृत्तिधर्म जनित आधिभौतिक

सुखभोग की वासना का बीज रहता है, वे देवता और जिन महान् आत्माओं में निवृत्तिधर्म जनित आध्यात्मिक सुख पाने की वासना का बीज रहता है, वे ऋषि बन जाते हैं। ये सब प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म की अन्तिम विभूतियाँ हैं।

ऊपर लिखित रहस्यों से यह प्रकट हुआ कि मनुष्य जब धर्म की ओर झुक कर धर्म का पथ ढूँढने लगता है, उस समय उसके अन्तःकरण के वासना वैचित्र्य के कारण स्वभाव से ही कोई प्रवृत्तिधर्म का अधिकारी और कोई निवृत्ति धर्म का अधिकारी बन जाता है। इस प्रकार बनने में अघटनघटनापटीयसी महामाया की माया ही कारण है और यह भी प्रकट हुआ कि प्रवृत्ति धर्म और निवृत्तिधर्म के पालन करते करते दोनों पथ के पथिक कैसी कैसी विभूतियों को प्राप्त कर सकते हैं। दोनों पथों में प्रवृत्तिधर्म का पथ अति विस्तृत है। विचार करने से यही सिद्ध होगा कि, जहां कामना है, जहां प्रवृत्ति है, वहाँ एक से अनेक शाखाएँ हैं; परन्तु जहाँ कामना के अभाव पर दृष्टि है, जहाँ निवृत्ति है, वहाँ चित्त की गति एक ही होती है। इसी कारण श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है–

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।

वासना रहित निवृत्ति पर निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है; परन्तु प्रवृत्ति परायण द्वैतभावमय जीवों की बुद्धि बहुशाखायुक्त और अनन्त है।

यही कारण है कि उच्चतम दैवी अधिकारों को प्राप्त करने में भी देवताओं के दैवी कर्म कितने विस्तृत और विचित्रता से पूर्ण हैं। शास्त्र में कहा है कि प्रधान तीन देवता, उनसे तैंतीस मुख्य और उनसे तैंतीस करोड़, यथा–

''तिस्रो देवताः'' ''त्रयस्त्रिंशत्ततः प्रभुताऽपि कार्यवैलक्षण्यात्''

(दैवीमीमांसादर्शनम्)

प्रधान देवता तीन हैं, उनसे तैंतीस और कर्म विचित्रता के अनुसार उसी से अनन्त देवता हुए हैं।

उसी शैली के अनुसार ईशकोटि के जीवन्मुक्त ही ब्रह्माण्ड केन्द्र से चलित होकर अनेक विचित्र भोग भोगते हुए लोकहितकर अनेक विचित्र कर्म किया करते हैं। प्रवृत्तिधर्म का महान् स्वरूप ही अवतारादिक

के आविर्भाव का रहस्य प्रतिपादक है। निर्लिप्त निष्क्रिय सर्वतत्त्वातीत श्रीभगवान् भी लीला विग्रह धारण करके प्रवृत्तिधर्म की शक्ति से ही जगत् में अनेक लीला करते हैं, इसी कारण भगवद्वाक्यरूप वेदों में प्रवृत्तिधर्म का वर्णन अधिक है, यथा गीता में–

''त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन''

''कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।''

एवं बहुविध यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।

वेद में त्रिगुण पर कर्मों का ही वर्णन है परन्तु जीव का अन्तिम लक्ष्य त्रिगुणातीत होना है। कर्मवेद से उत्पन्न हैं और वेद अक्षरपुरुष परमात्मा से उत्पन्न हैं। वेद में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। ये सभी प्रवृत्ति पर कर्म से सम्बन्धयुक्त हैं। ऐसा ज्ञान होने पर जीव का मोक्ष होता है। पूर्व मीमांसा में भी लिखा है–

''आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्''

वेद कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादक है। उपनिषद् में भी लिखा है–

एतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि
त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः
पन्था सुकृतस्य लोके ।।

वैदिक मन्त्रों में जो कर्मों के वर्णन मिलते हैं, वे सब कर्म त्रेतायुग में बहुत ही विस्तार को प्राप्त हो गये थे। उन सब कर्मों के अनुष्ठान द्वारा पुण्यपाकरूप उन्नत स्वर्गादि लोक प्राप्त होते हैं।

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म ऐसे व्यापक हैं कि सब धर्माङ्गों के साथ और सब सम्प्रदाय और पन्थों के साधन और आचार के साथ इनका सम्बन्ध है। राजसिकदान प्रवृत्तिधर्ममूलक और सात्त्विक दान निवृत्तिधर्ममूलक है, ऐसा कह सकते हैं। उसी प्रकार राजसिक तप प्रवृत्तिधर्ममूलक और सात्त्विक तप निवृत्तिधर्ममूलक कहा जायगा। काम्य कर्म प्रवृत्तिधर्ममूलक और नित्यकर्म निवृत्ति धर्ममूलक समझा जायगा। इहलौकिक और पारलौकिक सुखप्रार्थी उपासक तथा सिद्धि की इच्छा रखने वाला उपासक प्रवृत्ति धर्मपरायण और कामनारहित भक्तिमान्

उपासक निवृत्तिधर्मपरायण समझा जायगा। वैराग्यहीन ज्ञान मार्ग का पथिक प्रवृत्तिधर्म का अधिकारी और वैराग्यवान् ज्ञानमार्ग का पथिक निवृत्तिधर्म का अधिकारी समझा जायगा। जो धर्म सम्प्रदाय अथवा धर्मपन्थ वर्णाश्रमधर्म को नहीं भी मानते हों, उनमें भी प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म के अधिकार स्वभावत: मिलेंगे। किसी धर्मसम्प्रदाय या धर्मपन्थ में जब कामिनी काञ्चनादि वैषयिक सुख को भोगते हुए अथवा इन भोगों की कामना को रख कर जो साधक उक्त सम्प्रदाय वा पन्थ के धर्मानुसार चलते हैं, वे प्रवृत्ति धर्म के अधिकारी और जो उक्त धर्म में चलते हुए विषय वैराग्य का अभ्यास करते हैं, वे निवृत्ति धर्म के अधिकारी समझे जायेंगे। अत: प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म सब धर्म्माङ्गों में, सब धर्म्मोपाङ्गों में, सब धर्म्मसम्प्रदाय और सब धर्म्म पन्थ में व्यापक है।

यह भी विज्ञानसिद्ध होगा कि जिस धर्म्माङ्ग में प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्म दोनों के अधिकार समान रूप से मिलते हों, वही धर्म्माङ्ग सर्वथा पूर्ण समझा जायगा। उदाहरण के लिये नारी धर्म पर विचार किया जाता है। सहधर्मिणी सती जब पति के लिये ही अपनी शरीर यात्रा निर्वाह करती हुई पतिसेवासुख में रत रहती है, वह सब धर्म प्रवृत्ति धर्ममूलक है, यथा धर्मशास्त्र में–

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ।।
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चदप्रियम् ।।
भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या ।
मुदिते मुदितात्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा ।।
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्वमेव प्रबुद्ध्यते ।
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता ।।
तैलाऽभ्यङ्गं तथा स्नानं शरीरोद्वर्त्तनक्रियाम् ।
मार्जनञ्चैव दन्तानां कुर्यात् पतिमुदे सती ।।
यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्त्ता न चेच्छति ।
यच्च भर्त्ता न चाऽश्नाति सर्वं तद् वर्जयेत्सती ।।

छायेवाऽनुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु ।
दासीवाऽऽदिष्टकार्येषु भार्या भर्त्तुः सदा भवेत् ।।
पतिर्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्मः सनातनः ।
सर्वं कर्म वृथा तासां स्वामिनां विमुखाश्च याः ।।

स्त्री जाति के लिये यज्ञ, व्रत या उपवास रूप से पृथक् अनुष्ठेय धर्म कुछ भी नहीं है, केवल पतिसेवाधर्म द्वारा ही उनको उन्नत लोक प्राप्त होता है। पतिलोक चाहने वाली सती स्त्री अपने पति के जीवित या मृत किसी अवस्था में भी अप्रियाचरण नहीं करेगी। पति के भोजन के बाद भोजन करने वाली, उनके दुःख में दुःखिनी, सुख में सुखिनी, प्रवास जाने पर मलिन वसन धारिणी, निद्रित होने के पश्चात् निद्रित होने वाली, जागृत होने के पूर्व जागने वाली और पति के सिवाय अन्य किसी पुरुष को चित्त में भी न चाहने वाली स्त्री पतिव्रता कहलाती है। सती स्त्री तैलमर्दन, स्नान, शरीरप्रसाधन, दन्तधावन आदि सभी कुछ केवल पतिदेवता के प्रसन्नता सम्पादन के अर्थ ही करे। वे जो कुछ नही चाहते हैं, न पीते हैं या न खाते हैं, उन सभी का सती स्त्री त्याग करे। छाया की तरह पति की अनुगामी, पवित्रा, हितकार्य में सखी की तरह और आज्ञा किये हुए कार्य में दासी की तरह सती स्त्री का पति के प्रति आचरण होना चाहिए। स्त्री के लिये पति नारायणरूप समस्त व्रत तथा सनातनधर्मरूप है। पतिविमुखा स्त्री का समस्त कार्य निष्फल हो जाता है।

जब वही सती पति के लोकान्तरित होने पर सब सुख को तिलाञ्जलि देकर ब्रह्मचारिणी सन्यासिनी विधवा धर्म का, पालन करती है तो त्रिलोक पवित्र कर वे विधवा के धर्मसमूह निवृत्ति धर्म मूलक हैं इसमें सन्देह ही नहीं। निम्नलिखित विधवा के कर्तव्यों पर ध्यान देने से ही नारीधर्म में निवृत्ति धर्म का स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होगा।

कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामाऽपि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ।।
आसीताऽऽमरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ।।
केशरञ्जनताम्बूलगन्धपुष्पादिसेवनम् ।
भूषणं रङ्गवस्त्रं च कांस्यपात्रेषु भोजनम् ।।

द्विवारभोजनञ्चाक्ष्णो रञ्जनं वर्जयेत्सदा।
स्नात्वा शुक्लाम्बरधरा जितक्रोधा जितेन्द्रिया।।
न कल्पकुहका साध्वी तन्द्राऽलस्यविर्जिता।
सुनिर्मला शुभाचारा नित्यं सम्पूजयेद्धरिम्।।
क्षितिशायी भवेद् रात्रौ शुचौ देशे कुशोत्तरे।
ध्यानयोगपरा नित्यं सतां संगे व्यवस्थिता।।
तपश्चरणसंयुक्ता यावज्जीवं समाचरेत्।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा भवेद् यदि रजस्वला।।
नाऽङ्गमुद्वर्त्तयेद् वासैर्ग्राम्याऽऽलापमपि त्यजेत्।
देवव्रता नयेत्कालं वैधव्यं धर्ममाश्रिता।।

विधवा स्त्री के लिये पुष्प, मूल, फल द्वारा कष्ट से जीवन यापन करना श्रेयस्कर है; परन्तु पति की मृत्यु के बाद परपुरुष का नाम तक लेना भी पाप है। विधवा स्त्री को मृत्युपर्यन्त संयमशीला, ब्रह्मचारिणी और शान्तिगुणवती होकर एक पतिव्रता धर्म का पालन करना चाहिए। केशरञ्जन, ताम्बूल सेवन, गंध पुष्पादि सेवन, अलंकार धारण, रङ्गवस्त्रपरिधान, कांसे के पात्र में भोजन, दो बार भोजन, आँखों में अञ्जन धारण, यह सब विधवा को त्याग देना चाहिए। उनको स्नानानन्तर शुभ्रवस्त्रधारिणी, जितक्रोधा, जितेन्द्रिया, तन्द्रालस्यवर्जिता, सुनिर्मला और शुभाचरणशीला होकर पूजापरायण होना चाहिए। उनको पवित्र स्थान में धराशायिनी, ध्यानयोग-परायणा, सत्सङ्गकारिणी और तपश्चरणशीला होकर यावज्जीवन रहना चाहिए। रजस्वला होने पर स्वल्पाहारशीला होना चाहिए। वस्त्र के द्वारा शरीरमार्जन, विषयसम्बन्धीय बातचीत आदि परित्याग करके देवव्रता होकर कालयापन करना चाहिए।

नारीधर्म तप:प्रधान है, यह हम नारीधर्म के अध्याय में विस्तारित रूप से कह चुके हैं। अत: तपमूलक नारीधर्म प्रवृत्ति धर्म को लेकर किस पराकाष्ठा तक पहुँचता है, पुन: वही तपोमूलक नारीधर्म निवृत्ति धर्म्म को साथ लेकर किस किस काष्ठा तक पहुँचता है, यह ऊपर के वर्णन से भलीभाँति प्रकट होगा।

जो धर्म्माङ्ग अथवा धर्म्मोपाङ्ग या कोई विशेष धर्म्म जब सर्व्वशक्ति से पूर्ण हो, वही पूर्ण कहावेगा। जिसमें न्यूनता रहे, वही असम्पूर्ण कहावेगा। जिस मनुष्य जाति के नारी-धर्म में प्रवृत्ति धर्म की पराकाष्ठा और निवृत्ति धर्म की पराकाष्ठा दोनों ही पायी जायं, उसी मनुष्य जाति का नारीधर्म पूर्ण है। जिस मनुष्य जाति में दोनों की पराकाष्ठा न पाई जाय वह अपूर्ण है इसमें सन्देह ही क्या है। जिस मनुष्य जाति में सतीत्व धर्म के सब लक्षण न पाए जायँ, जिस मनुष्य जाति में स्त्री-पुरुष का विवाह इहलोक और परलोक दोनों से ही सम्बन्ध रखने वाला न हो और जिस मनुष्य जाति में विधवा धर्म की त्रिलोक पवित्रकर कठोर तपस्या का चिह्न विद्यमान न हो उस मनुष्य जाति में स्वर्गीय नारी-धर्म की पूर्णता विद्यमान नहीं है, ऐसा कहना ही पड़ेगा। यदि किसी मनुष्य जाति की स्त्रियों में हमारे वेदोक्त सतीत्व धर्म की पराकाष्ठा के लक्षण न पाये जायँ तो सम्भव है कि, स्वाभाविक दाम्पत्य प्रेम की प्रबलशक्ति से उस मनुष्य जाति में कभी कभी सतीत्व धर्म के बहुत से लक्षण प्रकाशित हो सकते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रथम तो प्रवृत्ति धर्म्म मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति के साथ मिला हुआ है। द्वितीयत: स्त्री-पुरुष का प्रेम भी कामादि वृत्ति मूलक होने के कारण स्वाभाविक है और तृतीयत: सात्त्विक स्त्री में प्रेम का प्रबल उच्छ्वास प्रकट होने से पवित्र सतीत्व धर्म के लक्षण स्वत: ही प्रकाशित हो सकते हैं। इस कारण आर्य्य सदाचार रहित जातियों में प्रवृत्ति धर्म्म मूलक सतीत्व के लक्षण कहीं कहीं प्रकाशित हो सकते हैं; परन्तु जिस मनुष्य जाति में विधवा-विवाह प्रचलित है, उस जाति में निवृत्ति धर्म्म मूलक निष्काम भाव से पूर्ण त्रिलोकपवित्रकर आर्य्य विधवा धर्म्म कदापि प्रकट नहीं हो सकते। अत: जिस मनुष्य जाति में नारीधर्म सम्बन्धीय प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनों ही नहीं प्राप्त हो सकें, उस जाति का नारीधर्म असम्पूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं।

जिस प्रकार नारीधर्म में प्रवृत्तिधर्म और निवृत्ति धर्म का स्वरूप समझाने के लिये ऊपर प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार पुरुषधर्म में प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म के प्रवाह के समझाने के लिये वर्ण और आश्रम धर्म की आलोचना करना उचित है। साधारण धर्म और विशेष धर्म का प्रवाह जिस प्रकार अलग अलग बहता हुआ उसी अद्वितीय

निर्विकार निष्क्रिय तत्त्वातीत सच्चिदानन्द परमपद में पहुँच जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्म का प्रवाह भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से बहता हुआ उसी वाक्मन से अगोचर मुक्तिपद में पहुँच जाता है। साधारण धर्म्मप्रवाह महान् ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, सूर्य्यलोक आदि से लेकर क्षुद्र परमाणु तक और स्थावर सृष्टि से लेकर जङ्गम सृष्टि पर्यन्त सबमें समान रूप से विद्यमान है। साधारण धर्म महान् सृष्टि से लेकर क्षुद्र सृष्टि पर्यन्त तथा जड़ से लेकर चेतन पर्यन्त सबके अस्तित्व की समान रूप से रक्षा करता हुआ सब प्रकार की सृष्टि को क्रमशः नीचे की ओर से ऊपर की ओर अग्रसर करता है, इस कारण साधारण धर्म के प्रवाह में कहीं गम्भीरता अधिक हो अथवा कहीं गम्भीरता कम हो परन्तु वह प्रवाह सब में समान रूप से बहता रहता है इसमें सन्देह नहीं। विशेष धर्म भी सबमें है परन्तु विशेष विशेष अधिकार के अनुसार विशेष धर्म के स्वरूप का पार्थक्य होता है। उदाहरण के तौर पर समझ सकते हैं कि गृहस्थ का विशेष धर्म सन्यासी के विशेष धर्म से एक दम ही पृथक् होगा; परन्तु धर्मत्वरूप से पृथक् धर्म सब में पृथक् पृथक् रूप से रहता हुआ भी सबको अपने अपने स्वतन्त्र अधिकार के अनुसार मुक्तभूमि की ओर अग्रसर करता रहेगा। उसी उदाहरण पर समझना उचित है कि, प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म भी अपने अपने स्वरूप के अनुसार अपने अपने अधिकार में मनुष्यों को क्रमशः कैवल्य पद की ओर ही ले जाते हैं। भेद इतना ही है कि प्रवृत्ति धर्म का पथ पृथक् है और निवृत्ति धर्म का पथ पृथक् है। धन का सुख भोगना, राजा होकर राज्य सुख भोगते हुए अग्रसर होना, गृहस्थ ब्राह्मण होकर सात्त्विक सुख भोगना, देहान्त होने पर स्वर्गादि सुख भोगना, क्रमशः अधिदैव राज्य में अग्रसर होते हुए देवता बनना अथवा आध्यात्मिक राज्य में अग्रसर होते हुए ईश कोटि के जीवन्मुक्त हो जाना ये सब प्रवृत्तिधर्म द्वारा क्रमोन्नति के उदाहरण हैं। विषय वैराग्य का सुख अनुभव करना, सन्यास धर्म का सुख अनुभव करना, मुनि अथवा ऋषि होकर आध्यात्मिक राज्य को सुशोभित करना, देहान्त होने पर सत्यलोक में पहुँच कर क्रमशः सूर्य्य मण्डल भेदन द्वारा कृतकृत्य होना, अथवा इसी जन्म में शरीर रहते हुए

ब्रह्मकोटि के जीवन्मुक्त बन जाना ये सब निवृत्ति धर्म्म द्वारा क्रमोन्नति के उदाहरण हैं।

आर्य्यजाति के वर्णाश्रम धर्म की पर्य्यालोचना करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के धर्म्म में प्रवृत्ति धर्म का प्रवाह और निवृत्तिधर्म्म का प्रवाह अलग अलग प्रतीत होता है। जब स्वभाव के वशवर्ती हो ब्राह्मण केवल कर्तव्य परायण होते हुए निवृत्ति संस्कार उत्पन्नकारी धर्मों का पालन करते हैं, यथा–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम्।।

उस समय शम, दम, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता, इन निवृत्तिधर्म वर्द्धक वृत्तियों को क्रमशः अपने चित्त में बढ़ाते हुए जगत्पूज्य ब्राह्मणगण क्रमशः निवृत्ति आश्रम सन्यास के अधिकारी बन जाते हैं और जब वे अपनी वृत्ति के विचार से निम्नलिखित धर्मों का पालन करते हैं, यथा–

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।।

अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना और प्रतिग्रह करना रूप धर्म्मसाधन के द्वारा ब्राह्मणगण अपनी यशोवृद्धि, इहलौकिक उन्नति और-स्वर्गादि सुख कामना के वशवर्ती होकर प्रवृत्तिधर्म को पालन करते हुए अभ्युदय को प्राप्त होते हैं।

क्षत्रियधर्म के विचारने से भी इसी प्रकार का उदाहरण मिलता है, यथा–

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।।
शौर्य्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम्।।

जब क्षत्रिय राजागण प्रजा का रक्षण करते हैं, दान करते हैं, यज्ञ करते हैं, अध्ययन करते हैं और विषय से मन को हटाकर राज्य की रक्षा में प्रवृत्त होते हैं, तो उस समय वे इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय को प्राप्त करते हुए प्रवृत्ति धर्म की सहायता से राज्यसुख और

स्वर्गसुख भोगने के अधिकारी होते हैं और जब क्षत्रिय नरपतिगण केवल अपने स्वभाव के वशवर्ती होकर निष्काम भाव की वृद्धि करते हुए अपने अन्तःकरण के शौर्य्य, क्षात्रतेज, सात्त्विक धृति, साम्राज्य रक्षा का चातुर्य्य, धर्म्मयुद्ध में निर्भयता, सात्त्विकदान में प्रवृत्ति और अपने प्रभु भाव की मर्यादा का ज्ञान, इन सात्त्विक वृत्तियों की यथावत् वृद्धि करते हैं, तो उस समय में वे अपने में निवृत्ति धर्म की वृद्धि करते हुए मुक्तिपथ में अग्रसर होते हैं।

ठीक उसी उदाहरण के अनुसार समझना उचित है कि वैश्य और शूद्रगण अपेक्षाकृत क्षुद्रधर्म्म के अधिकारी होने से श्रीगीताजी में यद्यपि पापयोनि रूप से अभिहित हुए हैं, यथा–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

हे पार्थ! पापयोनिसंभूत स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी मेरा आश्रय लेने से परमगति को प्राप्त होते हैं, परन्तु वे भी स्वधर्म पालन करते हुए दोनों ही मार्गों में अग्रसर हो सकते हैं। वैश्य और शूद्र को पापयोनि कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें मलिन प्रवृत्ति अधिक होती है। प्रवृत्ति मार्ग के भी दो भेद हैं, यथा– शुद्ध प्रवृत्ति और मलिन प्रवृत्ति। जिस प्रवृत्तिधर्म में पारलौकिक उन्नति होना निश्चय हो, जिस प्रवृत्तिधर्म के पालन करने से जीव का जन्मान्तर में क्रमोन्नति होना निश्चय हो और जिस प्रवृत्तिधर्म के पालन करने से क्रमशः विषयतृष्णा की निवृत्ति होती रहे उसी को शुद्ध प्रवृत्ति कहते हैं और जिस प्रवृत्तिधर्म के मार्ग में पड़ा हुआ जीव जब एक प्रकार की स्थिति में पड़ा रहे, जल्दी आगे न बढ़ सके और इन्द्रियप्रवृत्ति में क्रमशः फँसता ही जाय उसको मलिन प्रवृत्ति कहते हैं। स्त्री, वैश्य और शूद्र इस प्रकार से मलिन प्रवृत्ति के अधिकारी होने के कारण श्रीगीताजी में उनको पापयोनि के रुप में वर्णन किया है।

स्त्रीजाति की क्रमोन्नति का आलौकिक रहस्यपूर्ण वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। सतीधर्म्म के पालन करने से पापयोनि-सम्भूत नारीगण त्रिलोकपवित्रकारिणी देवी बन जाती हैं। तपस्विनी विधवागण तो अपने निवृत्तिधर्म के पालन से सन्यासियों की परमकाष्ठा को कैसे प्राप्त होती हैं सो हम पहले कह चुके हैं। उसी उदाहरण के अनुसार हम कह सकते हैं कि वैश्य और शूद्रगण पापयोनिसंभूत होने पर भी जब

वैश्यगण अपने कृषि और वाणिज्य कर्म को केवल आजीविका के लिये करते हों और जब शूद्रगण अपनी सेवावृत्ति को आजीविका के लिये करते हों तो उस समय वे प्रवृत्तिधर्म के निम्नस्तर के कारण पापयोनि कहलायेंगे परन्तु जब वैश्यगण अपने कृषि और वाणिज्य धर्म को अपने कर्तव्य-पालन की बुद्धि से, समाज और देशसेवा की बुद्धि से और धार्मिक रूप से अपनी जीवनयात्रा-निर्वाह की बुद्धि से करते हों तो वे निवृत्तिधर्म के अधिकारी होंगे और पापयोनि के कलंक से रहित होंगे। ठीक उसी प्रकार शूद्रगण जब अपनी सेवावृत्ति को केवल जीविका निर्वाह के लिये ज्ञानरहित पशु के तुल्य करते हों तो वे अतिनिम्नश्रेणी के प्रवृत्तिधर्म का आचरण करेंगे, तो पापयोनि कहलायेंगे; परन्तु वही शूद्रगण जब अपनी सेवा प्रवृत्ति को आत्मोत्सर्गकारी कर्तव्यबुद्धि से करेंगे तो वे निवृत्तिधर्म के अधिकारी होंगे और पापयोनि के कलङ्क से ही नहीं बचेंगे अधिकन्तु पुण्यात्मा कहलायेंगे। जिनका समस्त शरीर, समस्त मन, बड़ों की सेवा के लिये हैं, जिनका अपने जीवन का समस्त कर्तव्य द्विजगण की शूश्रुषारूप होमाग्नि में आहुतिरूप सेसमर्पित है, वे चाहे नीच से नीच योनि में ही क्यों न हों, उनके शरीर और मनचाहे प्रकृति के नीचे के स्तर में ही क्यों न उत्पन्न हों, सेवाधर्म की महिमा तथा आत्मोत्सर्ग करने वाली कर्त्तव्यबुद्धि के गौरव के बल से वे शीघ्र ही पूर्वजन्म की समस्त असुविधाओं को दूर करते हुए उन्नत योनि और उन्नत दशा को प्राप्त हो जायेंगे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सनातन वर्णधर्म की यही अनुपम उदारता है, जिसकी दिव्य छाया को अवलम्बन करके कितने ही पापयोनि में उत्पन्न शूद्र पुण्य तथा महिमामय जीवन को प्राप्त हो गये हैं। दृष्टान्तरूप से महाभारत में वर्णित धर्मव्याध की जीवनी का विचार कर सकते हैं। धर्मव्याध व्याध ही थे, शरीर से अवश्य ही पापयोनि के थे परन्तु अपने जीवन के समस्त कर्तव्य को स्वार्थसिद्धि की लघुता से मुक्त करके वर्णानुकूल सेवाधर्म में सदा लगाने के कारण कैसी उत्तम गति उनको प्राप्त हो गई थी। इसी प्रकार परममुनि सूत तथा धर्मप्राण विदुर का जीवनचरित्र भी इतिहास में प्रसिद्ध है। वे दोनों पापयोनि में उत्पन्न होने पर भी सेवा धर्म की अपूर्व महिमा के फल से परमगति को प्राप्त हो गये थे। श्रीभगवान् के चरणकमलों से उत्पन्न होने के कारण शूद्रवर्ण

के प्रति श्रीभगवान् की ऐसी ही कृपा है कि इनकी क्रमोद्ध्र्वगति और निवृत्तिमार्ग में प्रतिष्ठा के विषय में अन्य वर्णों की तरह कोई भी बाधा नहीं रखी गई है। मनुष्य प्रकृति के अहङ्कारयुक्त तथा अधोमुखी होने के कारण कर्मस्वतन्त्रता को पाकर अन्य वर्णों में अधोगति की विशेष सम्भावना हो जाती है। इसके सिवाय अनेक कर्तव्य के साथ अनेक विरुद्ध वृत्ति का उदय होना स्वाभाविक होने से अन्य वर्णों में पद पद में भ्रान्ति तथा गिरने की सम्भावना रहती है; परन्तु शूद्रवर्ण में न तो कर्म-स्वतन्त्रता ही है और न अनेक शाखामय कर्तव्य की ही व्यवस्था है। इसलिये अन्य वर्ण की तरह अधोगति की सम्भावना श्रीभगवान् के चरणकमलों से उत्पन्न शूद्रवर्ण में कुछ भी नहीं है। वे अपने जीवन के समस्त कार्य को द्विजगण के आज्ञाधीन करके तथा समर्पणबुद्धि के द्वारा समस्त कर्तव्य को एकमात्र द्विजसेवा में लय करके निवृत्ति के उन्नत पथ में अनायास ही जा सकते हैं। इसीलिये श्रीभगवान् मनुजी ने शूद्रों के लिये कहा है–

स्वर्गाऽर्थमुभयाऽर्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता।।
यथा यथा हि सद्रवृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तया तथेमञ्चाऽमुञ्च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः।।

इहलौकिक उन्नति तथा उद्ध्र्वगतिलाभ के लिये शूद्रवर्ण को ब्राह्मण का सेवक बनना चाहिए। केवल ब्राह्मणसेवा रूप धर्मपालन द्वारा ही शूद्र कृतकृत्य हो सकते हैं। असूयाशून्य होकर इस प्रकार से अपने वर्णानुसार धर्माचरण करने से शूद्रगण इहलोक में उन्नति और परलोक में उद्ध्र्वगतिलाभ कर सकते हैं। फलतः वर्णधर्म की कठोरता तथा सुगमता के विचार से शूद्रधर्म सबसे प्रधान है और क्रमोन्नति में शीघ्र सफलता प्राप्ति के विचार से शूद्रधर्म सर्वश्रेष्ठ है।

अदूरदर्शी व्यक्तिगण ही शूद्रधर्म का विचार करते हुए ऋषियों के पक्षपात की वृथा कल्पना किया करते हैं। प्रवृत्तिधर्म की सहायता से आध्यात्मिक राज्य में और मुक्तिपद की ओर अग्रसर होने के लिये शूद्रधर्म में बड़ी ही सुगमता है। अन्यान्य वर्णों की अपेक्षा शूद्र

अतिसुगमता के साथ जन्मान्तर में उन्नत वर्णाधिकार और उन्नत लोक-अधिकार को तुरन्त ही प्राप्त कर लेते हैं। यही सब बातें वर्णधर्म के साथ प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म की गति को सिद्ध करती हैं।

जिस प्रकार वर्णधर्म के साथ प्रवृत्तिधर्म और निवृत्ति धर्म का मिला जुला सम्बन्ध है, उसी प्रकार आश्रमधर्म में भी प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म का सम्बन्ध है। मीमांसाशास्त्र में कहा है कि ''प्रवृत्ति रोधको वर्णधर्मः'' निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः'' वर्णधर्म में वर्णाचाररूप प्रवृत्तिधर्म की प्रधानता रहने पर भी प्रवृत्ति को रोककर निवृत्ति को क्रमशः बढ़ाने की युक्ति भरी हुई है। मनुष्य का अन्तःकरण एक परिच्छिन्न पदार्थ है। इस कारण उसमें जितनी वृत्ति रह सकती है वह नियम और संख्यापूर्वक ही रह सकती है। इस कारण मनुष्य के अन्तःकरण में जितना प्रवृत्ति संस्कार घटेगा, स्वभावतः ही निवृत्ति संस्कार से वह स्थान भर जायगा क्योंकि वृत्ति से खाली अन्तःकरण नहीं रह सकता है। उदाहरण रुप से पर समझ सकते हैं कि, मनुष्य अन्तःकरण में दो सौ वृत्ति के ठहरने का स्थान है। प्रवृत्ति की वृत्ति भी दो सौ होती हैं और निवृत्ति की वृत्ति भी दो सौ होती हैं। अतः वर्णधर्म के अधिकारी मनुष्यों में शास्त्रोक्त आश्रमाचार के साधन द्वारा क्रमशः एक आश्रमधर्मी मनुष्य जिसका अन्तःकरण उसकी प्रकृति के अनुसार दो सौ प्रवृत्ति की वृत्तियों से भरा हुआ है, वह यदि राजदण्ड, समाजदण्ड, शास्त्रानुशासन अथवा आचार्यानुशासन के भय से अपने वर्णधर्म का यथावत् पालन करे तो स्वभावतः उसकी निज प्रकृति से उत्पन्न प्रवृत्तिमूलक वृत्ति कुछ कुछ घट जायगी। यदि वैसे मनुष्य का अन्तःकरण पच्चीस फी सैकड़ा प्रवृत्तिमूलक वृत्ति से शून्य हो गया, तो अगत्या उसके अन्तःकरण की उस खाली जगह में अपने आप ही निवृत्तिमूलक वृत्तियाँ जो उसमें नहीं थीं आकर उस खाली स्थान को भर लेंगी। इस प्रकार से क्रमशः आश्रमधर्म मानने वाले और उक्त आचारों पर चलने वाले मनुष्यों में अपने अपने अधिकार और पुरुषार्थ के अनुसार कुछ कुछ प्रवृत्ति का रोध हो जायगा। उसी प्रकार आश्रमधर्म के अनुसार क्रमशः निवृत्तिधर्म की उन्नति हुआ करती है। आश्रमधर्म के जो आचार पूज्यपाद महर्षियों ने बाँधे हैं वे इसी नियम से बाँधे हैं कि, जिससे निवृत्ति के बढ़ने की ओर ही प्रत्येक आश्रम की गति बनी रहती है। शास्त्र

में कहा है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास इन चारों आश्रमों में से ब्रह्मचर्याश्रम में शास्त्रोक्त प्रवृत्ति सिखाई जाती है और गृहस्थाश्रम में शास्त्रोक्त प्रवृत्ति कराई जाती है। उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रम में शास्त्रोक्त निवृत्ति सिखाई जाती है और सन्यासाश्रम में शास्त्रोक्त निवृत्ति कराई जाती है। शास्त्रोक्त इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्याश्रम में निवृत्ति को प्रधान रखकर प्रवृत्ति मार्ग का आचरण कैसे किया जाता है, यह सिखाया जाता है और गृहस्थाश्रम में उसी निवृत्तिमूलक शिक्षा को प्रधान रखकर प्रवृत्ति की चरितार्थता की जाती है। यदि यह शङ्का हो कि गृहस्थाश्रम तो प्रवृत्तिमूलक ही है, इसमें निवृत्ति के लक्षण कहाँ हैं। तो इस शङ्का के समाधान करने में यह कहा जा सकता है कि गृहस्थधर्म के सदाचार ही जीव की अनर्गल प्रवृत्तिमूलक वृत्तियों को रोकने में समर्थ होते हैं। उदाहरणरूप कुछ धर्माचारों की समालोचना की जाती है। गृहस्थ का वात्सल्य, गृहस्थ की आत्मीय परिजन-सेवा आदि उसकी अनर्गल सुखेच्छा का बीजनाश करती है। गृहस्थ की अतिथिसेवा, गृहस्थ की स्वदेश तथा स्वसमाज आदि की सेवा-प्रवृत्ति उसके स्वाभाविक अनर्गलभाव को दूर करती है। गृहस्थ का एकपत्नीव्रत, गृहस्थ की मातृभक्ति और कन्या स्नेह आदि उसकी अनर्गल कामप्रवृत्ति को छिन्न-विच्छिन्न करके रोक देता है। गृहस्थ का धर्मशास्त्रानुकूल धन का विभाग और धनव्यय और दान करने की आज्ञा उसकी अनर्गल धनलोलुपता से उसको बचा देती है और गृहस्थ का पञ्चमहायज्ञ साधन उसके अन्त:करण की क्षुद्रता का नाश करके उसको भगवत् राज्य में पहुँचा देता है। इन सब धर्मों का मौलिक-सिद्धान्त हम पहले वर्णन कर चुके हैं। सिद्धान्त यह है कि गृहस्थ में निवृत्ति को ही सामने रखकर भावशुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिधर्म के चरितार्थ करने की योग्यता पूर्ण रीति से सिखाई जाती है। आयुर्वृद्धि के साथ ही साथ जब मनुष्य का शरीर और इन्द्रियाँ स्वभाव से ही निवृत्ति चाहने लग जाती हैं, तब उसको यथाक्रम निवृत्तिधर्ममूलक वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम का अधिकार दिया जाता है। वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम के आचरणों पर ध्यान देकर यह न समझा जाय कि वानप्रस्थ के तपोमूलक धर्म और सन्यास के त्यागमूलक धर्मों से एकाएक मनुष्य मुक्ति को ही प्राप्त कर लेता है। अनेक बार

गृहस्थ सन्यासी होते हैं और जन्मान्तर में पुनः सन्यासी गृहस्थ हुआ करते हैं। मनुष्य के मुक्त होने पर्यन्त यही आवागमन चक्र बना रहता है; परन्तु इसी आवागमन चक्र में घूमता हुआ मनुष्य उन्नत आध्यात्मिक अधिकारों को क्रमशः प्राप्त करता जाता है। यही पूज्यपाद महर्षियों की अलौकिक शास्त्रप्रणयनशक्ति और आचारनिर्माण कौशल का रहस्य है।

निवृत्ति धर्म का विस्तार कुछ भी अधिक नहीं है; परन्तु प्रवृत्ति धर्म का बहुत कुछ विस्तार है। इस सिद्धान्त का ज्वलन्त दृष्टान्त वेद है। इस सिद्धान्त का कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण दिया जाता है। निवृत्तिधर्म का आदर्श दृष्टान्त एक ब्रह्म कोटि के जीवन्मुक्त में मिलता है और मूक, स्तब्ध, निष्क्रिय, जड़वत् होना ही उनका अन्तिम लक्ष्य है; परन्तु प्रवृत्तिधर्म के आदर्श स्थापन के लिये अगणित दृष्टान्त हैं। प्रवृत्ति मार्ग का पथिक अगणित दृष्टान्तों में से किसी छवि को अपने सम्मुख रखकर उस मार्ग में अग्रसर हो सकता है। सेवा धर्म के विचार से रुद्रावतार श्रीहनुमान् का चरित्र आदर्श है। दानधर्म के विचार से रघु, हरिश्चन्द्र, मयूरध्वज, शिवि, दधीचि आदि का चरित्र आदर्श है। तपोधर्म के विचार से वाल्मीकि, विश्वामित्र, वसिष्ठ, नन्दिकेश्वर आदि का चरित्र आदर्श है। नारीधर्म के विचार से सीता, सावित्री, अरुन्धती, शशिकला, मदालसा आदि का चरित्र आदर्श है। पुरुष-धर्म के विचार से भीष्म, जनक, शंकराचार्य आदि का चरित्र आदर्श है। क्षात्रधर्म के विचार से रामचन्द्र, अर्जुन, महाराणा प्रताप आदि का चरित्र आदर्श है। ब्राह्मण धर्म के विचार से व्यास, वशिष्ठ आदि अनेक महर्षियों का चरित्र आदर्श है। ब्रह्मचर्यधर्म के विचार से शुक, कपिल आदि का चरित्र आदर्श है। गृहस्थधर्म के विचार से मयूरध्वज, जनक, वसिष्ठ आदि का चरित्र आदर्श है। वानप्रस्थधर्म के विचार से तो अनेक महर्षियों के आदर्श चरित्र शास्त्र में मिलते ही है। सन्यास धर्म के विचार से प्राचीन युग में याज्ञवल्क्य और नवीन युग में शङ्कराचार्य आदि का चरित्र आदर्श है। पितृलोक के आदर्श अर्यमा, अग्निष्वात्ता आदि हैं। देवलोक के आदर्श इन्द्र, ब्रह्मा आदि है। ऋषि लोक के आदर्श सप्त ऋषि आदि नित्य ऋषिगण हैं। भोगलोक के आदर्श सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य आदि भोग देह प्राप्त महात्मागण हैं। अध्यात्म आनन्द के विचार से ऊद्र्ध्वलोक में सत्यलोक के ज्ञाननिष्ठ महात्मा और इस लोक के निष्काम व्रतपरायण ईशकोटि के जीवन्मुक्त शंकराचार्य आदि हैं। यह सब प्रवृत्तिधर्म के

फलसम्भूत अधिकारों में से बहुत थोड़े ही कहे गये हैं। इन उदाहरणों पर लक्ष्य डालने से विज्ञानवित् पण्डितगण स्वत: ही जान सकेंगे कि, प्रवृत्तिधर्म का अधिकार कितना विस्तृत है। इस मीमांसा का सिद्धान्त यह है कि निवृत्तिधर्म का लक्ष्य केवल एक होने से उसकी गति केवल एक ही है; इसी कारण केवल निवृत्तिमूलक शास्त्र भी अल्प ही है; परन्तु प्रवृत्तिधर्म जो वेदानुकूल और आर्यजाति से अनुमोदित है उसका अन्तिम लक्ष्य निवृत्ति और अध्यात्म लक्ष्ययुक्त होने पर भी उसका पथ बहुशाखायुक्त है।

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनों का यथार्थ स्वरूप और दोनों का यथार्थ रहस्य बिना समझे दोनों के अन्तिम लक्ष्यरूप परमपद में पहुँचने से पहले अपने अपने पथ में दोनों से अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार अनेक प्रकार के भ्रम प्रमाद हो सकते हैं क्योंकि शास्त्र में कहा है–

''सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽऽवृता:''

प्रवृत्तिमूलक हो या निवृत्तिमूलक हो सकल प्रकार के आरम्भ ही धूम से आवृत अग्नि की तरह दोषयुक्त हुआ करते हैं। यथा–

उदाहरण के साथ इस अलौकिक कर्मरहस्य को कुछ समझाने की चेष्टा की जाती है जिससे दोनों मार्ग के पथिक को सावधानता प्राप्त हो सके। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि निवृत्तिमार्ग का धर्म सन्यास लेते ही कोई जीवन्मुक्त नहीं हो सकता है। शास्त्र में आज्ञा है कि तीन तीन वर्ष में कूटीचक्र, बहूदक, हंस और परमहंस इन चार आश्रमों में से प्रथम तीनों से आगे बढ़ कर परमहंस हो सकते हैं, यथा–

व्रतं त्रयाणामाद्यानां प्रत्येकं तु त्रिवत्सरम् ।
व्रते पूर्णेऽधिकारे च लब्धे गुरुदयाबलात् ।।
आद्यो द्वितीयो भवितुं द्वितीयस्तु तृतीयक: ।
एवं तृतीयश्चरम: शक्नोति योग्यतां गत: ।।

इससे यह तात्पर्य नहीं है कि नौ वर्ष के बाद सन्यास आश्रम को प्राप्त किया हुआ साधक परमहंस आश्रम को प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो सकता है। परन्तु इससे तात्पर्य यही है कि, इन धर्मों का अभ्यास करते हुए सन्यासी उत्तरोत्तर निवृत्ति मार्ग में अग्रसर होता है और जन्मान्तर में उक्त सन्यासियों के आत्मा अपने निवृत्तिमूलक संस्कारों को संग्रह करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं; क्योंकि शास्त्र में कहा है–

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्'

अनेक जन्मों के संस्कारसमूह के बल से सिद्धिलाभ करके तभी साधक को परम पद प्राप्त होता है।

इस प्रकार से सन्यास संस्कार को उत्तरोत्तर अनेक जन्मों में बढ़ाते समय जो लोग त्यागवृत्ति से आगे बढ़ते हुए प्रवृत्तिधर्मभूलक और निवृत्तिधर्ममूलक रहस्यों को भूल जाते हैं, वे जन्मान्तर में कर्मप्रवृत्तिहीन होकर प्रमाद-ग्रस्त हो सकते हैं। दृष्टान्तरूप से दिखाया जाता है कि, यदि निवृत्ति पथ से जाने वाला पथिक इस लोक में सन्यासाश्रम को धारण करके निवृत्ति धर्म का पक्षपाती बना और बहुत से विषयों में उसने निवृत्तिसंस्कार संग्रह किया और साथ ही साथ प्रवृत्ति धर्म पर अरुचि होने से उस पर उपेक्षा के संस्कार संग्रह किया परन्तु निवृत्ति की पूर्णता न होने से और पुराने प्रवृत्ति संस्कार प्रबल रहने से उसको पुन: गृहस्थ होना पड़ा, तो उस जन्म में वह गृहस्थ होने पर भी गृहस्थाश्रम के उन्नति करने वाले अनेक योग्य प्रवृत्तिधर्मों की ओर उसकी उपेक्षा रहेगी। उस स्वधर्म उपेक्षा से उसकी पुन: अधोगति होने की सम्भावना है। इसी प्रकार से प्रवृत्तिमार्गी पथिक भी अनेक भ्रम प्रमाद कर सकता है; क्योंकि प्रत्येक धर्माङ्ग के साथ सावधान न होने से प्रमाद होना स्वत:सिद्ध है। उदाहरण रूप से कहा जाता है कि ज्ञान का उन्माद अहंकार है। ज्ञानी को अहंकार होना सम्भव है। उपासना का उन्माद आलस्य है, उपासक अर्थात् भक्त को आलस्य होना सम्भव है। कर्म का उन्माद दम्भ है, कर्मी को दम्भ होना सम्भव है। तप का उन्माद क्रोध है। तपस्वी के लिये क्रोधी होना सम्भव है। इसी प्रकार जैसे प्रकाश के नीचे अन्धकार रहता है, वैसे हरेक धर्माङ्ग के साथ प्रमाद या उन्माद होना स्वत:सिद्ध है। इस कारण निवृत्तिधर्मपरायण और प्रवृत्तिधर्मपरायण उभय धार्मिकों का जब तक वे अन्तिम लक्ष्यरूप परमपद पर न पहुँचे प्रवृत्तिधर्म-रहस्य और निवृत्ति-धर्मरहस्य पर पूरा ध्यान रखना उचित है।

***

आपद्धर्म

साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म नामक अध्यायमें दिखाया गया है कि, अधिकार और अधिकारीके निर्णयके साथ सर्वजीवहितकर सर्वव्यापक धर्म्मके जिस अङ्गोपाङ्गके आचरणका निर्णय होता है, उसको विशेष धर्म्म कहते हैं। उसके बादके अध्यायोंमें अनेक विशेष विशेष धर्म्मोंका वर्णन क्रमशः किया गया है। आपद्धर्म्म भी विशेष धर्म्मके विराट् शरीरका एक प्रधान विभाग है। देश, काल, पात्र और भावके विचारानुसार आपद्धर्म्मका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्म्मनिर्णयके विज्ञानमें सम्मिलित है। इस कारण इसको आपद्धर्म्म कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंको सम्मुख रखकर वर्त्तमान देश, वर्त्तमान काल और वर्त्तमान पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म्म निर्णय होता है, उसीको आपद्धर्म्म कहते हैं।

ज्ञान और विज्ञान निर्णीत जितने प्रधान तत्त्व हैं, सब तत्त्वोंमें भावतत्त्व सबसे प्रधान है। अनुभवगम्य तत्त्वोंमें भाव सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसी कारण परब्रह्मको भावातीत कहा गया है। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जो भाव रूपी अन्तिम तत्त्व है, उस तत्त्वसे भी परे परब्रह्मका अनुभव है। भवतत्त्वका अनुभव स्पष्ट करनेके उद्देश्य से विचार कर पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है किः—

गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ता भावैस्तदनुभवः।

इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि, महामायाके विलासरूप इस दृश्यमय प्रपञ्चकी सृष्टि, उसकी स्थिति और उसका लय रज, सत्त्व और तमोगुणके अनुसार यथाक्रम होता है और इस प्रपञ्चमय दृश्यका अनुभव भावसे होता है, अर्थात् भावतत्त्वकी सहायतासे दृश्य पदार्थका ज्ञान द्रष्टाको होता है। साधारण तौरपर भी इस संसारमें देखनेमें आता है कि मनुष्य जिस भावके अधीन रहता है, दृश्यरूपी विषय उस द्रष्टारूपी

मनुष्यको उसी प्रकारके स्वरूपमें दिखाई देने लगता है। विषयी मनुष्यको यह संसार विषय-सुखसे भरा हुआ प्रतीत होता है और वैराग्यवान् व्यक्तिको यह संसार दुःखमय प्रतीत होता है। दूसरा उदाहरण समझा जाय कि स्त्रीरूपी एक ही विषय कामी व्यक्तिके लिये कामभोगका यन्त्र, विचारवान् व्यक्तिके लिये माया और सौन्दर्य्यका आधार तथा ज्ञानी व्यक्तिके लिये जगत्प्रसविनी महामायाकी स्थूल प्रतिकृति (नमूना) दिखाई देता है। तीन पृथक्-पृथक् भावोंके अनुसार स्त्रीरूपी एक ही विषय तीन पृथक् व्यक्तियोंको तीन पृथक रूप में दिखाई देने लगता है। सिद्धान्त यह है कि सृष्टि स्थिति लयात्मक यह संसार या इसके प्रत्येक पदार्थ भावकी सहायतासे ही अनुभूत होते हैं। इस कारण भाव अन्तिम और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है।

भावतत्त्वके स्वरूपको पूर्णरूपसे स्पष्ट करनेके अर्थ अन्तःकरण विज्ञानका स्वरूप समझने योग्य है। अन्तःकरणके चार भेद हैं, यथा— मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार, इसी कारण इसको अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। संकल्प-विकल्प जिस तत्त्वसे उठता है, उसको मन कहते हैं। विना कारण जब वृत्ति नाचती रहती है और नाना इच्छाएँ एकके बाद एक उठती रहती हैं और किसी सिद्धान्तपर नहीं ठहरती, यह मनतत्त्वका कार्य्य है। मनके नचाने वाले संस्कार अथवा और भी पूर्व्वार्जित अनन्त संस्कारोंके चिह्न जहाँ अङ्कित रहते हैं, उस तत्त्वको चित्त कहते हैं। जो तत्त्व सत् और असत् विचार करके सिद्धान्त निश्चय करता है, उसको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिकी सहायतासे ही मनुष्य अपने अधिकारके अनुसार अच्छा बुरा, हेय उपादेय और पाप पुण्य आदि निर्णय करनेमें समर्थ होता है।

अहङ्कारतत्त्व उसका नाम है जिसके बलसे जीव अपने आपको इस विराट् ब्रह्माण्डसे एक स्वतन्त्र सत्ताके रूप में मानता है। अहङ्कारतत्त्वके बलसे ही मनुष्य अपने आपको मनुष्य, स्त्री या पुरुष, दरिद्र या धनी, राजा या प्रजा इत्यादि रूपसे समझनेमें समर्थ होता है। अन्तःकरणके इन मन चित्त बुद्धि और अहङ्काररूपी चार तत्त्वोंमेंसे चित्ततत्त्व मनतत्त्वका और अहङ्कारतत्त्व बुद्धितत्त्वका अन्तर्विभाग है। चित्तमें कर्म्मके बीजरूपी

संस्कार अङ्कित हैं। वह पीछेसे दर्पण दिखलाता है। इस कारण प्रभावित मन अहर्निश चञ्चल होकर नाचा करता है। अत: स्पष्ट रूपसे निश्चित हुआ कि चित्त, मनका अन्तर्विभाग है। उसी प्रकार बुद्धितत्त्वकी गति अहङ्कारतत्त्वकी सहायतासे होती है, जिस जीवमें जैसा अहङ्कार रहता है, वह केवल उसीके अनुसार अपनी बुद्धिका संचार कर सकता है। जो स्त्री है वह स्त्रीत्वके अहङ्कारसे, जो पुरुष है वह पुरुषत्वके अहङ्कारसे, जो गृहस्थ है वह गृहस्थके अहङ्कारसे, जो संन्यासी है वह संन्यासीके अहङ्कारसे, जो प्रजा है वह प्रजाके अहङ्कारसे और जो राजा है वह राजाके अहङ्कारसे अपने अहङ्कारके अनुसार सत् असत्, हेय उपादेय आदिका सिद्धान्त निश्चय कर सकता है अत: निश्चय हुआ कि अहङ्कारतत्त्व बुद्धितत्त्वका अन्तर्विभाग है; परंतु अहङ्कारतत्त्वके भेद अलौकिक हैं। मैं मनुष्य हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं धनी हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, मैं प्रजा हूँ, मैं राजा हूँ, यह सब मलिन अर्थात् अशुद्ध अहङ्कार है। मैं वेदज्ञ हूँ, मैं तत्त्वज्ञ हूँ, मैं ब्रह्मज्ञ हूँ और मैं ब्रह्म हूँ, यह शुद्ध अहङ्कार हैं। मलिन अहङ्कार जीवको इन्द्रियोंमें लगाकर गिरा देता है और शुद्ध अहङ्कार साधकको आत्माकी ओर अग्रसर करके मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है। मनतत्त्वको अभिभूत करने वाला जैसा चित्ततत्त्व है, उसी प्रकार बुद्धितत्त्वको अभिभूत करने वाला अहंकार तत्त्व है। संसारी मनुष्यको जिस प्रकार स्त्री मायारज्जुसे बांधकर संसारका कार्य्य कराती है, उसी प्रकार चित्त मनको और अहंकार बुद्धिको फँसाकर कार्य्य कराया करते हैं।

जीव संस्कारोंका दास है, वासनासे उत्पन्न संसार ही मनुष्योंको जकड़ कर रखते हैं। आसक्ति ही इस बन्धनका मूल कारण हैं। वासनासे संस्कार, संस्कारसे कर्म्म, कर्म्मसे पुन: वासना, वासनासे पुन: संस्कार, इस प्रकारसे वासनाका चक्र और जीवका आवागमन बना रहता है। पूर्व्वजन्मार्जित कर्मसंस्कार अथवा इस जन्मकी संगकी स्मृति जैसी मनुष्यके चित्तमें अङ्कित रहती है, उसी प्रकारकी आसक्ति उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उसी आसक्तिके अनुसार मनुष्य उसी आसक्तिसम्बन्धीय विषयमें जकड़ा रहता है। आसक्ति चित्तकी सहायतासे मनमें उत्पन्न होती

है, चित्त और मनरूपी स्त्री-पुरुषके सङ्गमसे आसक्तिका जन्म होता है। पुत्र जिस प्रकार पिताके प्रजातन्तुको रक्षा करके पिताके अधिकारको प्राप्त होता है, उसी प्रकार आसक्तिके बलसे मन खिंचकर आसक्तिसे सम्बन्धयुक्त विषयको धारण कर सृष्टिको अग्रसर करता है। दूसरी ओर बुद्धिराज्यका सिद्धान्त कुछ और ही है। वहां अहङ्कार और बुद्धिके सङ्गमसे भावतत्त्वका उदय होता है। अशुद्धभाव बुद्धिको विषयवत् कर देता है और शुद्ध भाव क्रमश: अन्त:करणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचा देता है। मनुष्य केवल दो तत्त्वकी सहायतासे ही शारीरिक वाचनिक और मानसिक कर्म्म करनेमें समर्थ होते हैं। या मनुष्यगण आसक्तिके वशीभूत होकर कर्म्म करते हैं या किसी भावसे प्रेरित होकर कर्म्म करते हैं। आसक्तिमें विवशता है परन्तु भावमें स्वाधीनता है। आसक्तिकी बहुशाखायें हैं क्योंकि विषय अनन्त हें; परन्तु शुद्ध भाव एक अद्वैत दशाको प्राप्त हो सकता है क्योंकि ब्रह्मपद अद्वैत है। आसक्तिसे काम करनेवाले मनुष्य प्रारब्धकी सहायता, गुरुकी सहायता या देवताओंकी सहायतासे ही बच सकते हैं, नहीं तो उनका फँसना निश्चित है; परन्तु शुद्ध भावकी सहायतासे कर्म्म करनेवाले भाग्यवान् कदापि नहीं फँसते। उत्तरोत्तर उनकी ऊर्द्धवगति ही होती रहती है। मनुष्यने पूर्वजन्मोंमें जैसे संस्कार संग्रह किये हैं उन्हींके अनुसार उसमें आसक्ति होगी। उसी आसक्तिके अनुसार उसको हेय और उपादेयका विचार होगा, क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही आसक्तिमूलक हैं। जिस मनुष्यमें पूर्व्वजन्मार्जित जिस प्रकारकी आसक्ति है, उसी आसक्तिके अनुसार वह विषयमें सुख दु:ख अनुभव करेगा और उसी संस्कारके अनुसार उसके निकट जो विषय सुख देगा, वही उपादेय और जो दु:ख देगा, वही हेय समझा जायगा। उपादेय विषयमें राग और हेय विषयमें द्वेष होना स्वत: सिद्ध है, इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि जो मनुष्य केवल आसक्तिके द्वारा चालित होते हैं, वे सब समय बंधे रहते हैं, वे कदापि मुक्तिकी ओर अग्रसर नहीं हो सकते। हाँ, यदि कोई और शक्ति उनकी सहायता करे और बलपूर्व्वक खेंचे तभी वे उस जकड़ी हुई अवस्थामें भी कुछ आगे बढ़ सकते हैं। यदि पूर्व्वजन्मार्जित कोई विशेष

कर्म्म बलवान् हो कि जो कर्म्म उसके प्रारब्धबलसे सामने आकर उसको रोके अथवा उसपर करुणामय गुरुकी कृपा हो अथवा उसको दैवी सहायता हो तभी वह आसक्तिसे जकड़ा हुआ व्यक्ति ऊपरकी ओर कुछ चल सकता है, नहीं तो उसका नीचेकी ओर गिरना और बन्धनदशामें बना रहना सदा सम्भव है। अशुद्धभाव तो आसक्ति राज्यमें ही रखने वाला तत्त्व है। आसक्तिमें बंधे हुए जो जीव चलते हैं अशुद्धभाव उनका स्वत: ही साथी है क्योंकि विना भावके विषयका अनुभव नहीं होता है; परन्तु शुद्धभावकी सहायता लेकर चलनेवाले सज्जनोंकी गति कुछ विलक्षण ही है। शुद्धभाव ब्रह्मसे युक्त होनेके कारण उसमें नीचेकी ओर गिरनेकी कोई सम्भावना भी नहीं है।

सब तत्त्वोंका अन्तिम तत्त्व तथा साधकको ब्रह्मपदवी दिलाने वाला भाव तत्त्व है, उसके विषयमें श्रीसंन्यासगीतामें इस प्रकार लिखा है:—

भाव एवाऽत्र सूक्ष्माऽतिसूक्ष्मतत्त्वं निगद्यते ।
भावात्सूक्ष्मतरं किञ्चित्तत्त्वं न परिलक्ष्यते ।।
भावाऽतीतमपि ब्रह्म ज्ञायते योगिभिः सदा ।
साहाय्येनैव भावस्य प्रथमं तत्त्ववेदिभिः ।।
ब्रह्मसाक्षात्कृतौ भावमन्तिमालम्बनं विदुः ।
सारूप्यावस्थितौ वृत्तेः सदसद्भावभेदतः ।।
उत्पद्येते तु भावेन पुण्यपापे उभे अपि ।
सूक्ष्मावस्था तु भावस्य त्रैविध्यमवलम्बते ।।
आध्यात्मिकाऽऽधिदैवाऽऽधिभौतिकानीति शास्त्रतः ।
ज्ञानिना भक्तराजेन तत्त्रयस्याऽवलम्बतः ।।
ब्रह्मेश्वरविराट्रूपैर्भगवान् दृश्यते क्रमात् ।
ब्रह्माण्डेषु च सर्वत्र ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।
भावांस्त्रीन् सततं सम्यक् वीक्षन्ते सर्ववस्तुषु ।
भावो हि स्थूलाऽवस्थायां सदसद्रूपमास्थितः ।।
स्वर्गञ्च नरकञ्चैव प्रापयत्यत्र मानवान् ।।

इस संसारमें भाव ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, भावकी अपेक्षा सूक्ष्मतर कोई तत्त्व नहीं है। भावातीत भी ब्रह्म भावकी सहायतासे ही

तत्त्ववेत्ता योगियोंके द्वारा पहले जाने जाते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार करनेमें अन्तिम अवलम्बन भाव ही है। वृत्तिसारूप्यमें भावके सत् और असत् इन दो भेदोंसे क्रमशः पुण्य और पापका उदय हुआ करता है। भावकी सूक्ष्म अवस्था तीन प्रकारकी होती है; यथा:-आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। भक्तराज ज्ञानी महापुरुष इन तीनों भावोंके अवलम्बनसे ब्रह्म, ईश्वर और विराट्रूपोंमें भगवान्के दर्शन करते हैं। तत्त्वदर्शी ज्ञानी सब ब्रह्माण्डोंकी सब वस्तुओंमें तीनों भावोंको अच्छी तरह देखा करते हैं। स्थूलावस्थामें भाव सत् और असद्रूपोंका आश्रय करके स्वर्ग और नरक को प्राप्त कराता है।

भावके साथ आसक्ति और आसक्तिके साथ भावका भी रहना स्वतः सिद्ध है; क्योंकि आसक्तिके विना कर्म्म नहीं हो सकता और विना भावके विषय अनुभवमें नहीं आ सकता। आसक्तिकी जहाँ प्रधानता होती है, वहां असद्भाव गौणरूपसे रहता है; परन्तु जहां शुद्ध भावकी प्रधानता होती है वहां आसक्ति भी बहुत क्षीणता धारण करके छिपी हुई रहती है, किन्तु इस दशामें आसक्ति बलहीन हो जाती है। सद्भावमें आसक्तिका रहना सम्भव है इसी कारण भक्तिशास्त्रमें शुद्धभावयुक्त रागात्मिका भक्तिके भेदोंको आसक्ति कहते हैं, यथा:—दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति इत्यादि। शुद्ध भावकी प्रधानतामें विलक्षणता यह है कि शुद्ध भावकी सहायतासे पाप कार्य्य पुण्यकार्य्यमें और प्रवृत्तिधर्म्म निवृत्तिधर्म्ममें परिणत हो सकता है। इसी कारण आपद्धर्ममें पूज्यपाद महर्षियोंने भावतत्त्वकी प्रधानता मानी है। केवल शुद्ध भावकी सहायतासे मनुष्य प्रवृत्तिधर्म्मके साधनोंको अभ्यास करते हुए क्रमशः शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय और क्षत्रियसे ब्राह्मण हो जाता है। शुद्ध भावकी सहायतासे प्रवृत्तिधर्म्मका साधन करते रहने पर भी उन्नत अधिकारी क्रमशः भुवः, स्वः, जनः, तपः आदि उन्नत भोगलोकोंको प्राप्त कर सकता है। शुद्ध भावकी सहायतासे ही आध्यात्मिक उन्नति लाभ करता हुआ पुण्यात्मा उच्च अधिकारी देवत्व ऋषित्व आदि उन्नत दिव्य अधिकारोंको प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, व्यास, वसिष्ठादि दिव्यपद, ये सब शुद्धभावकी सहायतासे ही प्राप्त होते हैं। इस

विज्ञानका विस्तारित रहस्य प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म नामक अध्यायमें वर्णन किया गया है। यह केवल शुद्ध भावकी सहायतायुक्त साधनका ही फल है, जिससे प्रवृत्तिके अधिकार निवृत्तिमें परिणत हो जाते हैं और भावशुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त किया हुआ तपस्वी या यज्ञपरायण साधक या तो अन्तिम सत्यलोकमें पहुंचकर निवृत्तिधर्म्मके पूर्ण अधिकारको प्राप्त करता हुआ सूर्य्यमण्डल-भेदन द्वारा ब्रह्मसायुज्यरूपी मुक्ति पदको प्राप्त कर लेता है अथवा इसी देहमें सहजगतिको प्राप्त करके ईशकोटिके जीवन्मुक्तकी सर्व्वश्रेष्ठ पदवीको प्राप्त कर लेता है। भावशुद्धि द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है, भावशुद्धिमें उत्तरोत्तर उन्नति लाभ करता हुआ मुमुक्षु मुनि क्रमशः अपने अन्तःकरणको पूर्णरूपसे रज-तमके मलसे विशुद्ध कर लेनेमें समर्थ होता है और इसी शैलीके अनुसार शुद्ध भावके प्रभावसे प्रवृत्तिमूलक आचरणसमूह भी साधकको निवृत्तिके आचरणका फल प्रदान किया करते हैं। प्रवृत्तिमूलक भाव जब निवृत्तिभावमें परिणत होते हैं, उस दशाको अन्तर्द्रष्टा योगिगणने चार भावमें विभक्त किया है। प्रथम अवस्था वह कहलाती है, जब मलिन भावकी प्रधानता रहनेके कारण प्रवृत्तिकी ही प्रधानता रहे। दूसरी अवस्था वह कहलाती है, जब मलिन भाव कुछ शुद्ध होने लगा हो परन्तु वृत्ति प्रवृत्तिकी ओर ही झुकती हो और कभी-कभी निवृत्तिके संस्कार मनमें उदय होते हों। तीसरी अवस्था वह कहलाती है, जब मलिन भाव और अधिक शुद्धताकी ओर अग्रसर हुआ हो और उस समय निवृत्ति अच्छी लगती हो परन्तु प्रवृत्तिका आनन्द भी समय समयपर मनको प्रवृत्तिके सुखकी ओर खींच लेता हो और चौथी उत्तम अवस्था वह कहलाती है, जिस समय मनमें शुद्ध भावकी प्रधानताके कारण निवृत्ति ही मनमें स्थापित हो गई हो और प्रवृत्तिकी ओर मन झुकता ही नहीं हो। इस प्रकारसे भावशुद्धिकी सहायतासे अन्तमें अन्तःकरण निवृत्तिमय हो जाता है और उस समय साधकमें प्रवृत्तिमूलक कर्म्म भी निवृत्तिके अधिकारके फल प्रदान किया करते हैं। कर्म्मयोगी विद्वान इसी सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखता है।

शुद्ध भावकी सहायतासे किस प्रकारसे पापकर्म्म पुण्यकर्म्ममें परिणत हो सकता है इसके समझनेके लिये कर्म्म-रहस्यका कुछ वैज्ञानिक तात्पर्य्य समझने योग्य है। कर्म्ममीमांसा दर्शनमें कहा है:—

"कर्म्मबीजं संस्कारः"

"संस्कारशुद्ध्या क्रियाशुद्धिः"

"तया मोक्षोपलब्धिः"

इन सूत्रोंका तात्पर्य्य यह है कि कर्म्मका बीज संस्कार है और संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि होती है एवं क्रियाशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे एक वृक्ष जब अपने समयपर फूल और फल देकर मर जाता है तो उसका बीज यदि रह जाय तो उस बीजको जमीनमें बोनेसे पुनः वैसे ही वृक्षकी उत्पत्ति हो जाती है। वह बीज बरसों तक सुरक्षित रह सकता है और जब बोया जाय तब ही वैसा ही वृक्ष उत्पन्न कर सकता है। ठीक उसी प्रकार मनुष्यके शारीरिक वाचनिक और मानसिक कर्म्म जैसे जैसे वह मनुष्य करता है, वैसे वैसे कर्म्म बीजरूपी संस्कार उस मनुष्यके चित्ताकाशमें जमा होकर सुरक्षित होते जाते हैं और कालान्तरमें उनकी अङ्करित होनेकी बारी आनेपर वे बीजरूपी संस्कार जन्मान्तर उत्पन्न करके जाति, आयु और भोगरूपी फल उत्पन्न करते हैं। पुनः उन्हीं फलोंके साथ ही साथ नये कर्म्मसे नये बीज बनकर जीवके चित्ताकाशमें एकत्रित होते हैं, इस प्रकारसे जीवका आवागमनचक्र बराबर बना रहता है। यदि शुद्ध भाव द्वारा संस्कारोंकी शुद्धि की जाय तो कर्म्मकी शुद्धि होती है और यदि कर्म्मकी शुद्धि हो जाय तो वे कर्म्म पुनः जीवको बन्धनप्राप्त नहीं कराते और इसी प्रकार निष्काम कर्म्मरूपी कर्म्मशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यही कर्म्ममीमांसाका सिद्धान्त है। जब शुद्ध भावोंके द्वारा संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धि होकर मोक्षकी प्राप्ति तक मनुष्यको हो सकती है तब शुद्ध भावोंके प्रभावसे असत् पापकर्म्म सत् पुण्यकर्म्ममें परिणत होंगे इसमें संदेह ही क्या है? इस विज्ञानको कुछ और भी स्पष्ट करनेके लिये उदाहरण दिया जाता है कि वैदिक सोमयज्ञमें छागपशुकी बलि होती है, छाग बलिदानरूप पशुहनन कार्य साधारणरूपसे असत् अधर्मकार्य्य है, क्योंकि एक जीवको अपने नियमित आयुसे पहले

मारकर प्रकृतिके नियममें बाधा देनेसे और हिंसाकार्य्य द्वारा तामसिक वृत्तिके संग्रह करनेसे अवश्य ही अधर्म्म होता है; परन्तु सोमयज्ञमें देवताओंकी प्रसन्नता और यजमानकी अपनी इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयरूपी धर्म्मवासनाके रहनेसे उसके अन्त:करणके शुद्धभाव द्वारा संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धि होकर पशुहननरूपी अधर्म्मकार्य्य भी यज्ञका अङ्ग होनेके कारण धर्म्मकार्य्य हो जाता है। यदि यजमान सकाम हो तो उसकी सकाम आसक्ति और धर्म्मजनित शुद्धभावके कारण उसको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। स्वर्ग पुण्यकर्म्मका फल है। इस कारण सोमयज्ञरूपी धर्म्म साधन द्वारा उसको पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है और यदि यजमान निष्काम हो और केवल देवताओंकी प्रसन्नता, जगत् कल्याणबुद्धि अथवा कर्त्तव्य परायणतासे वह सोमयज्ञ करता हो तो वह यज्ञ उसके मोक्षका कारण होगा। प्रथम दशामें धर्म्म भावरूपी शुद्धभावके कारण अर्थात् यजमानके अन्त:करणकी भावशुद्धिके कारण उसके अन्त:करणमें संस्कार शुद्धि होकर उसको पशुयागरूपी सोमयज्ञ द्वारा पुण्यफलरूपी स्वर्गकी प्राप्ति होती है। यही संस्कारशुद्धि द्वारा क्रियाशुद्धि है और यदि यजमान निष्काम व्रतपरायण हो तो अधिकता यह होगी कि उसकी वह यज्ञरूपी क्रिया नवीन बीज उत्पन्न करनेमें असमर्थ होगी, उसके अन्त:करणका यह संस्कार बीज भर्जित बीजके सदृश हो जायगा। उस दशामें वह पशुयज्ञरूपी यज्ञकर्म्म उस यजमानकी मुक्तिका कारण होगा। यही क्रियाशुद्धिसे मोक्षप्राप्तिका विज्ञान है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह स्पष्ट निश्चित हुआ कि शुद्ध भावकी सहायतासे मनुष्य असत् पाप करता हुआ भी पवित्र पुण्य कर्म्मका फल लाभ कर सकता है। सुतरां वर्णाश्रम आदि विशेष धर्म्मके अनुसार अयोग्य कार्य्य भी आपत्ति विचारसे धर्म्मरूपमें परिणत हो सकता है यदि आवश्यकता हो।

आपद्धर्म्मके निर्णय करनेमें पात्र, भाव और देश काल इनके सम्बन्धके विचार करनेकी आवश्यकता होती है। भावका स्वरूप हम वर्णन कर चुके हैं। अब पात्रका स्वरूप यथावश्यक कहा जाता है। अधिकारनिर्णयके साथ पात्र का सबसे प्रधान सम्बन्ध है। योग्यता,

प्रकृति, प्रवृत्ति आदि के विचार से अधिकार निर्णय होता है। उदाहरणरूप से कहा जाता है कि कर्त्ता तीन प्रकार के होते हैं, यथा–

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।
रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ।।
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विशादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ।।

इन वचनों का तात्पर्य यह है कि मुक्तसंग, निरहंकार, धृति और उत्साहयुक्त, सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार कर्त्ता सात्त्विक है। अनुरागवान्, कर्मफल की इच्छा करने वाला, लोभी, हिंसक, अशुचि और हर्षशोक से युक्त कर्त्ता राजसिक है और असावधान, प्राकृत, स्तब्ध, शठ, निकम्मा, आलसी, विशाद करने वाला और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस है।

ऊपर लिखित सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कर्त्ता के तीनों अधिकारों के अनुसार क्रिया का अवश्य ही भेद होना सम्भव है; क्योंकि सात्त्विक कर्त्ता जिस प्रकार एक धर्म के साधन करने में समर्थ है, राजसिक कर्ता उस प्रकार करने में समर्थ नहीं हो सकता और राजसिक कर्ता जिस धर्म को अच्छी तरह से निर्वाह कर सकता है, तामसिक कर्ता उसको नहीं कर सकता। प्रथम तो कर्ता के इन तीनों भेदों के अनुसार योग्यता भी अलग-अलग होगी, प्रकृति भी अलग अलग होगी और प्रवृत्ति भी अलग अलग होगी। ये सब बातें सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के अनुसार निर्णय करने योग्य हैं। द्वितीय पूर्व अध्यायों में कथित विशेष धर्म के अनुसार विशेष विशेष पात्र के विशेष विशेष धर्मानुरूप अधिकारों को देखकर आपद्धर्म निर्णय करना होगा। ब्राह्मणधर्म, क्षत्रियधर्म, वैश्यधर्म, शूद्रधर्म, नारीधर्म, पुरुषधर्म, ब्रह्माचीधर्म, गृहस्थधर्म, वानप्रस्थधर्म, संन्यासधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, आर्य्यजातिधर्म, अनार्य्यजातिधर्म और नेताधर्म आदि का विचार रखकर देशकाल की आवश्यकता के अनुसार भावशुद्धिपूर्वक आपद्धर्म निर्णय करने की आवश्यकता होती है।

देश और काल का अधिकार निर्णय करने के लिये देश और काल का विस्तारित स्वरूप हृदयङ्गम कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामाया इन दोनों की साक्षात् विभूति काल और देश हैं। इसी कारण काल और देश विस्ताररूप से अनादि और अनन्त हैं। अतः श्रीभगवान् के सिवाय ऋषि, देवता, पितर तथा स्थावरजङ्गमात्मक इस विश्व के सब विषय और पदार्थ देश काल से परिच्छिन्न हैं। श्रीभगवान् ही केवल देशकाल से अतीत हैं; अर्थात् केवल सर्वशक्तिमान् भगवान् के अधीन ही देशकाल है और भगवान् उनसे बाहर हैं एवं यह त्रिगुणात्मक सृष्टि और उसके स्थावर जङ्गमात्मक सब वैभव देश काल के अधीन हैं। सुतरां देश काल के विचार से धर्माधर्म निर्णय में विशेषत्व होना स्वतः सिद्ध है। देश का स्वरूप साधारण विचार द्वारा समझने के लिये यह सोचना चाहिए कि, हमारे चारों ओर की दश दिशाएँ, यथा- ऊद्र्ध्व, अधः, पूर्व्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्नि, नैर्ऋत्य, वायु और ईशान ये कहाँ तक विस्तृत हैं और इनका अन्त कहाँ है? इस शङ्का के उत्तर में यही सिद्धान्त होगा कि हमारी इस पृथ्वी की दशों दिशाओं में आदि अन्त रहित आकाश व्यापी देश विद्यमान है। उसी आदि अन्तरहित आकाश में विविध ग्रह, उपग्रह सूर्य चन्द्र से व्याप्त अनन्त ब्रह्माण्डसमूह एक दूसरे के बाद कहाँ तक फैले हुए हैं, इसका पता नहीं चल सकता। आदि अन्त रहित देश जो हमारे सकल ओर की दश दिशाओं में विभुरूप से विद्यमान हैं उसके विस्तार का कुछ भी पता नहीं चल सकता। श्रीभगवान् की साक्षात् विभूतिरूप आदि अन्त रहित देश का यही अलौकिक अनुभव है, ठीक उसी प्रकार आदि अन्तरहित काल का भी अनुभव समझने योग्य है। पल से घड़ी, घड़ी से प्रहर, प्रहर से दिनरात, दिनरात से पक्ष, पक्ष से मास, मास से वर्ष, वर्ष से युग, युग से कल्प, इस प्रकार से यद्यपि काल के अन्तर्विभाग का स्वरूप बाँधा जा सकता है परन्तु यह नहीं अनुभव में आ सकता कि यह काल कब से प्रकट हुआ है और कब इसका अन्त होगा। इस अनादि अनन्त काल के गर्भ में स्थावरजङ्गमात्मक तिर्यक् मनुष्य आदि लौकिक सृष्टि से सुशोभित और ऋषि देवता पितृ आदि दैविक सृष्टि से समलंकृत अनेक ग्रह उपग्रहों से सुसज्जित अनन्त ब्रह्माण्डसमूह उत्पत्ति और लय

को प्राप्त होते आये हैं, हो रहे हैं और होंगे, परन्तु काल का आदि और अन्त किसी को भी ज्ञात नहीं होगा। श्रीभगवान् की साक्षात् विभूतिरूप आदि और अन्त रहित काल का यही अलौकिक अनुभव है। वैदिक विज्ञान के अनुसार श्रीभगवान् देश और काल के स्रष्टा होने पर भी जीव की दृष्टि में देश और काल का आदि अन्त दिखाई नहीं दे सकता। जिस प्रकार सगुणब्रह्मरूपी श्रीभगवान् के दो स्वरूप हैं एक का नाम परमपुरुष और दूसरे का नाम मूलप्रकृति कहते हैं, उसी प्रकार शास्त्रकारों ने देश को स्त्री और काल को पुरुष करके वर्णन किया है। जैसे स्त्री और पुरुष दोनों के संयोग से ही पुत्र उत्पन्न होता है, उसी प्रकार देश और काल दोनों ही दृश्यरूपी प्रपञ्च के सृष्टिस्थितिलय में सहायक होते हैं। इसी कारण देश और काल की सेवा से किस प्रकार मनुष्यों को लाभ पहुँचता है उसका वर्णन मीमांसादर्शन में इस प्रकार से किया गया है कि–

''विभूतित्वात्सेव्याः पितृकालमहाकालाः''

''मातृदेहजन्मभूमयश्च''

''तथात्वात्पुण्यशक्तिमुक्तयः''

श्रीभगवान् की विभूति होने से पिता, काल और महाकाल सेवनीय है और उसी प्रकार से माता, देह और जन्मभूमि सेवनीय है। पिता और माता की सेवा के द्वारा पुण्य, काल और देह की सेवा के द्वारा शक्ति और महाकाल और जन्मभूमि की सेवा के द्वारा मुक्ति होती है। इस विज्ञान का तात्पर्य यह है कि पिता, काल और महाकाल तथा माता, देह और जन्मभूमि ये तीनों यथाक्रम काल और देश से सम्बन्धयुक्त हैं। निर्लिप्त, सर्वव्यापक काल और देश के ही ये तीन तीन अलग स्वरूप विभूतिरूप से प्रकट हुए हैं। नहीं तो दोनों का स्वरूप अचिन्त्य है।

महाकाल और देश का विराट् स्वरूप, ये दोनों सर्वव्यापक स्वरूप हैं। इन्हीं के साक्षात् विभागरूप काल और देश का वर्णन अन्य दर्शनों में है। उस विषय में वैशेषिकदर्शन में कहा है कि–

''अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि''

''द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते''

''तत्त्वं भावेन''

''नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति''

"इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्ग"

"द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते"

"तत्त्वं भावेन"

"कार्यविशेषेण नानात्व"

"आदित्यसंयोगाद् भूपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची"

"तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च"

"एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि"

इन सूत्रों का तात्पर्य यह है कि जो एकदम प्रतीत हो, और में और प्रतीत हो तथा थोड़ा या बहुत समय विशिष्ट हो इत्यादि लक्षणों से काल का स्वरूप जाना जाता है, वह द्रव्यत्व और नित्यत्वरूप से वायु के समान है। वह भाव के समान एकत्व सम्बन्ध युक्त है। वह नित्य पदार्थ में अभावरूप से और नित्य पदार्थ में भाव रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार से देश को भी समझना उचित है। उसमें काल के समान ही कुछ बातें होने पर भी कार्यविशेष से उसका नानात्व होता है और प्रत्येक ब्रह्माण्ड के केन्द्र सूर्यगोलक की स्थिति के सम्बन्ध से देश की दसों दिशाओं का विभाग कल्पित होता है। इस विज्ञान से तात्पर्य यह है कि, विराट् काल और विराट् देश सर्वव्यापक और आदि अन्त रहित विराट् मूर्ति से युक्त होने पर भी उन दोनों की साक्षात् विभूति रूप काल और देश कर्म से उत्पन्न नाना उपाधियों के सम्बन्ध से नाना रूप धारण कर लेते हैं। वास्तव में काल और देश सबसे अलग और सबमें व्यापक होने पर भी जैसे ब्रह्म में माया के प्रभाव से दृश्यरूपी जगत् प्रपञ्च का भान होता है, उसी प्रकार कर्म से उत्पन्न समष्टि और व्यष्टि सृष्टि के कारण विराट् काल और विराट् देश में परिच्छिन्न काल और परिच्छिन्न देश का अलग-अलग भाग होता है। उसी कारण उक्त विशेष देश की शक्ति का भी तारतम्य हो जाता है। जब उनमें शक्ति का तारतम्य होता है तो शक्ति के तारतम्य हेतु, उस विशेष विशेष काल और विशेष विशेष देश में उत्पन्न हुए अधिकार तथा पुरुषार्थ में भी भेद पड़ना अवश्य सम्भव है। इसी अधिकार तथा पुरुषार्थ शक्ति के तारतम्यानुसार भिन्न भिन्न देश और काल में भिन्न भिन्न पात्र के लिये निर्णीत धर्म को आपद्धर्म कहते हैं। स्वाधिकारानुसार भावशुद्धिपूर्वक देश तथा काल के विचार से आपद्धर्म

का पालन करने पर सभी मनुष्य कल्याण के अधिकारी हो सकते हैं। अब नीचे विविध शास्त्र लिखित काल, देश तथा पात्र-भेदानुसार आपद्धर्म पालन के कुछ दृष्टान्त और प्रमाण दिये जाते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में आपत्काल में जीवनोपाय वर्णन करते समय श्रीभगवान् भीष्मपितामह ने कहा है–

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत्॥
एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते॥

विद्वान् व्यक्ति आपद्ग्रस्त होने पर सभी प्रकार के उपायों से अपने को आपद् से मुक्त करे क्योंकि प्राण की रक्षा होने पर मनुष्य पुण्यसञ्चय द्वारा आपत्कालीन अवैधकर्म से उत्पन्न समस्त अनिष्ट को दूर करके कल्याण के अधिकारी हो सकते हैं। इसके अनन्तर धर्माधिकारी को सावधान करने के लिये उन्होंने कहा है–

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधिकृतः॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्॥

देवता, विश्वदेव, साध्य, ब्राह्मण और महर्षिगण आपत्काल में मृत्यु भय से भीत होकर मुख्यकल्प के स्थान पर अनुकल्प के द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु मुख्यकल्प पालन में समर्थ होने पर भी जो अनुकल्प के द्वारा जीवन निर्वाह करना चाहते हैं, उनको परलोक में कोई भी सुफल नहीं प्राप्त होता। श्रीभगवान् मनुजी ने भी कहा है–

आपत्कल्पेन यो धर्म कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥

जो द्विज अनापत् काल में भी आपद् धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे परलोक में उस कर्म का फल नहीं पाते हैं। इसलिये सब ओर विचार करके महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा है–

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः।
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि॥

ब्राह्मण आपत्काल में क्षत्रिय अथवा वैश्य-जनोचित कर्मानुष्ठान द्वारा जीवनमात्र निर्वाह करेंगे; परन्तु आपन्मुक्त होते ही अनुकल्प वृत्ति को परित्याग करके उस दीनदशा से अपनी आत्मा को मुक्त करेंगे। पात्र के विचार से आपत्कालीन कर्तव्यनिर्णय प्रसङ्ग में श्रीभगवान् मनुजी ने कहा है–

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ।।
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम् ।।
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ।।
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वां क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ।।
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ।।
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ।।
अशक्नुवंस्तु शूश्रुषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः ।।
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ।।

यदि ब्राह्मण अपने अधिकारानुकूल कर्म द्वारा जीविका का निर्वाह करने में असमर्थ हो, तो क्षत्रिय वृत्ति के द्वारा जीविका निर्वाह करें क्योंकि यही उनकी परवर्तीवृत्ति है। यदि अपनी वृत्ति और क्षत्रिय वृत्ति दोनों ही के द्वारा जीविका निर्वाह असम्भव हो जाय तो, इस दशा में कृषि गोरक्षा आदि वैश्यवृत्ति के द्वारा जीवनधारण कर सकते हैं। ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय भी आपत्काल में कृषि, वाणिज्य आदि वैश्य वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह कर सकते हैं; परन्तु कभी ब्राह्मण वृत्ति-अवलम्बन नहीं कर सकते। यदि कोई अधम जाति उत्तम जाति की वृत्ति-अवलम्बन पूर्वक जीविका निर्वाह करना चाहे तो राजा का कर्तव्य है कि उसका

सर्वस्व हरण करके उसे देश से निर्वासित कर दे। अपना धर्म, निकृष्ट होने पर भी अनुष्ठेय है और परधर्म उत्कृष्ट होने पर भी अनुष्ठेय नहीं है क्योंकि उच्च जाति के धर्म द्वारा जीवन धारण करने से मनुष्य शीघ्र ही अपनी जाति से पतित हो जाता है। वैश्य अपने धर्म द्वारा जीवन धारण में असमर्थ होने पर अनाचार परित्याग करके द्विज-शूश्रुषादि शूद्र वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं; परन्तु आपन्मुक्त होते ही शूद्र वृत्ति परित्याग करना होगा। शूद्र यदि निज वृत्ति द्वारा परिवार प्रतिपालन में असमर्थ हो तो कारु कार्य आदि द्वारा जीवन धारण कर सकता है। जिस कार्य के द्वारा द्विजसेवा हो सकती है, इस प्रकार के कारु कार्य और शिल्पकार्य इस दशा में शूद्र को अवलम्बन करना होगा। इस प्रकार से प्रत्येक वर्ण के लिये आपत्काल में जीवनोपाय निर्धारित करके श्रीभगवान् मनुजी ने सभी वर्णों के लिये कुछ साधारण रूप से आपत्काल की वृत्तियों का निर्णय कर दिया है, यथा–

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ।।

विद्या, शिल्प, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, कृषि, धृति, (जिस अवस्था में हो उसी में सन्तोष), भिक्षा, और सूदग्रहण ये दस प्रकार के जीवनोपाय आपत्काल में सुविधा और शक्ति के अनुसार सभी वर्णों के लिये विहित हैं।

देश और काल के अनुसार आपद्धर्म का विचार करते हुए महर्षि पराशरजी ने अपनी संहिता में कहा है–

देशभङ्गे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि ।
रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत् ।।
येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ।।
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत् ।
स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्मं समाचरेत् ।।

देश में विद्रोह या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होने से अथवा महामारी या किसी प्रकार की आपत् की उत्पत्ति होने से, पहले शरीर की रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करे। आपत्काल में मृदु या दारुण किसी भी उपाय से दीन आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। इसके बाद जब सामर्थ्य हो

तब स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिए। आपत्काल में शौचाचार के विषय में कुछ भी विचार नहीं करना चाहिए, पहले विपत्ति से अपने को बचाना चाहिए और तत्पश्चात् स्वस्थ हो कर शौचाचारानुकूल धर्मानुष्ठान करना चाहिए। इसी विषय की एक कथा श्रुति में भी मिलती है, यथा– किसी समय प्रबल दुर्भिक्ष के प्रकोप से समस्त देश के अन्न और जल के अभाव से अभिभूत होने पर एक ऋषि अपनी सहधर्मिणी के साथ जीवनधारणार्थ उस देश से निकल चले। रास्ते में एक पहाड़ के पास देखा कि एक निर्मल झरने की धारा बह रही है और उसके पास बैठकर एक चाण्डाल उबाला हुआ चना भक्षण कर रहा है। कई दिनों के उपवासी ऋषि ने प्राणधारण के लिये और कोई भी उपाय न देखकर उस चाण्डाल से ही उसका उच्छिष्ट चना भिक्षा मांगा और उसका आधा स्वयं खाकर आधा पत्नी को दे दिया। उच्छिष्ट चना खाने के बाद जब चाण्डाल ने उच्छिष्ट जल देना चाहा तो ऋषि ने उसे ग्रहण करना अस्वीकार किया और कहा– "मैं तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिउँगा।" चाण्डाल ने थोड़ा हँस कर कहा– "आपने उच्छिष्ट चना तो खा लिया उससे आप पतित नहीं हुए और उच्छिष्ट जल पीने से ही पतित हो जायेंगे।" इस बात को सुनकर ऋषि ने उत्तर दिया– "मैं अनाहार से मर रहा था इसी लिये आपत्काल में प्राणरक्षार्थ तुम्हारा उच्छिष्ट चना भी खाया है; परन्तु जल तो सामने ही झरने से आ रहा है। इसलिये जल का क्लेश नहीं है। इस कारण उच्छिष्ट जल पीने का प्रयोजन नहीं है।" इस प्रकार से उस दिन के लिये प्राणधारण का उपाय हो जाने पर फिर आगे भिक्षा के लिये पति-पत्नी चले; परन्तु दूसरे दिन कहीं कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ। उस समय अनाहार पति को मृत्यु-मुख में अग्रसर देखकर ऋषिपत्नी ने अपने कपड़े में बँधे हुए पहले दिन के चने निकालकर पति को दे दिये। ऋषि ने चकित होकर कहा "क्या तुमने कल का चना नहीं खाया था?" इस पर ऋषिपत्नी ने उत्तर दिया "आपने तो कहा था कि अनाहार से मृतप्राय होने पर ही हमने चाण्डाल का उच्छिष्ट चना खा लिया था, मैं कल अनाहार से मृतप्राय नहीं थी और भी कई दिन बच सकती थी। इसलिए उस उच्छिष्ट चने को नहीं खाया था। मैं और एक दिन बिना खाये बच सकती हूँ; परन्तु आपका प्राण जा रहा है। इसलिये आप इस उच्छिष्ट चने

को खाइये।'' इस कथा के द्वारा आपत्काल में कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्णय का दृष्टान्त अच्छी तरह से सिद्ध हो जाता है और स्वधर्म से नीचे का धर्म तथा शौचाचार से विरोधी व्यवहार भी आपत्काल में विहित आचाररूप से परिगणित हो सकता है, इस विज्ञान की सम्यक् सिद्धि हो जाती है।

क्षत्रियधर्म के पूर्ण अधिकारी क्षात्र नरपति के लिये प्रधान धर्म यह है कि, युद्धार्थी शत्रु से अवश्य युद्ध करना और कदापि किसी दशा में शत्रु के सम्मुख सिर न झुकाना। युद्ध से पलायन और शत्रु से पराजय स्वी!कार करना क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध है इसी कारण श्रीभगवान् भीष्मपितामहजी ने आपत्काल में राजा को शत्रु के साथ भी मैत्री करने का उपदेश दिया है, यथा महाभारत में–

तस्माद् विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत् ।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ।।
सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः ।
अमित्रैरपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ।।
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा ।
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ।।

देशकाल को समझ कर ही शत्रु से संग्राम या सन्धि के विषय में कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्णय करना चाहिए। सन्धि के विषय में विचार करके यदि प्राणरक्षा के लिये प्रयोजन हो, तो शत्रु से भी समय पर सन्धि कर लेनी चाहिए; परन्तु बलवान् शत्रु के साथ प्राणरक्षार्थ सन्धि करने पर भी सदा ही सावधान रहना चाहिए और शत्रु पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। श्रीभगवान् मनुजी ने देश तथा काल के विचार से ब्राह्मणों के लिये आपद्धर्म विधान करते हुए कहा है–

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ।।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ।।
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ।।

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पंकेन न स पापेन लिप्यते ।।
अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ।।
श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ।।
क्षुधार्त्तः श्वाऽत्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ।।

अपने कर्तव्यपथ पर स्थित ब्राह्मण वृत्ति के अभाव से पीड़ित होने पर भी यदि क्षत्रिय या वैश्यवृत्ति अवलम्बन करना न चाहें तो नीचे कही हुई वृत्ति का आश्रय कर सकते हैं। विपन्न ब्राह्मण सभी के पास से प्रतिग्रह कर सकते हैं क्योंकि जो स्वभावतः ही पवित्र हैं वे दोषदुष्ट हो सकते हैं, यह बात धर्मतः सिद्ध नहीं हो सकती है। ब्राह्मण स्वभावतः जल और अग्नि की तरह पवित्र हैं। आपत्काल में निन्दित पुरुष के याजन अध्यापन और परिग्रह के द्वारा भी ब्राह्मण अधर्म को नहीं प्राप्त होता है। प्राण नष्ट होने की सम्भावना उपस्थित होने पर यदि ब्राह्मण अति नीच का भी अन्न ग्रहण करें, तो भी आकाश में जिस प्रकार पङ्क लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मण भी पापग्रस्त नहीं होता। ऋषि अजीगर्त्त क्षुधा से कातर होकर अपने पुत्र के प्राणसंहार में भी उद्यत हो गये थे परन्तु उस पर भी क्षुधानिवारण द्वारा प्राणरक्षा लक्ष्य होने से उनको कोई भी पाप नहीं हुआ था। धर्माधर्म के ज्ञान में कुशल ऋषि वामदेव ने क्षुधार्त होकर प्राणरक्षा के लिये कुक्कुरमांस-भोजन की भी इच्छा की थी परन्तु तथापि वे पापलिप्त नहीं हुए थे। इसी प्रकार धर्माधर्म के ज्ञाता महर्षि विश्वामित्रजी भी क्षुधाक्लेश के कारण चाण्डाल के हस्त से कुक्कुर के जंघा का मांस ग्रहण करके भोजन करने को उद्यत हो गये थे तथापि उनको कोई भी पाप नहीं लगा था। इस प्रकार सर्वदर्शी श्रीभगवान् मनुमहाराज ने देश और काल के विचार से आपद्धर्म का उपदेश किया है। महर्षि विश्वामित्र की उल्लिखित कुक्कुर के मांस भोजन की कथा इतिहास में विशेष प्रसिद्ध है। महाभारत के शान्तिपर्व में इसका विशेष रूप से वर्णन देखने में आता है जिसमें मांस अपहरण के पहले चाण्डाल

के साथ महर्षि विश्वामित्र की आपत्कालीन कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में जो बातचीत हुई थी, उसके पाठ करने पर आपद्धर्म का सम्यक् रहस्य सबको विदित हो सकेगा। इसलिये नीचे उन कथाओं में से कुछ कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं, यथा महाभारत में–

त्रेताद्वापरयोः सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात् ।
अनावृष्टिरभूद् घोरा लोके द्वादशवार्षिकी ।।
नववर्षं सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभगवद्गुरुः ।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ।।
उच्छिन्नकृषिगोरक्षा निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तसुखसम्भारा विप्रनष्टमहोत्सवा ।।
अस्थिसंचयसङ्कीर्णा महाभूतरवाकुला ।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ।।
तस्मिन् प्रतिभवे काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर ।
वभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः स्वादमाना परस्परम् ।।
विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः ।
क्षुधापरीगतो धीमान् समन्तात् पर्यधावत ।।

त्रेता और द्वापर की सन्धि में दैव प्रतिकूलता के कारण द्वादश वर्ष पर्यन्त घोर अनावृष्टि हुई थी। उस समय बृहस्पति प्रतिकूल हो गये थे और चन्द्र ने दक्षिण दिशा का आश्रय लिया था। कृषि-गोरक्षा आदि सब नष्ट हो गई थी। वाणिज्य व्यापार आदि सब उठ गये थे और लोगों में आनन्द समस्त निर्मूल हो गया था। चारों ओर मृत जीवों की अस्थि, भूतों का चीत्कार, गृहदाह और शून्याकारता देखने में आने लग गई थी। धर्म का एकदम नाश हो जाने से प्रजा क्षुधार्त्त और अत्याचारी होकर परस्पर को खाने लग गई थी। इस प्रकार भयानक दुर्भिक्ष काल में महातपा महर्षि विश्वामित्र भी किसी समय अत्यन्त क्षुधातुर होकर घर छोड़ अन्न के अन्वेषण में इतस्ततः भ्रमण करने लगे।

स कदाचित् परिपतन् श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ।।
अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
पपात भूमौ दौर्ब्बल्यात्तस्मिश्चांडालपक्कणे ।।

स चिन्तयामास मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत् ।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ।।
स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः ।
चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ।।
स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया ।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ।।
आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं च महीयसः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः ।।
हीनादादेयमादौ स्यात् समानात्तदनन्तरम् ।
असम्भवे वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ।।
सोऽहमन्त्यावसानायां हराम्येनां प्रतिग्रहात् ।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।।

इस प्रकार से खाद्य अन्वेषण करते हुए किसी समय महर्षि विश्वामित्रजी एक अरण्य में प्राणिघातक हिंस्र चाण्डालों का ग्राम देखकर उसी में प्रविष्ट हुए; परन्तु उस पल्ली में भी अन्वेषण करके जब कहीं कुछ न प्राप्त हुआ तो हा कष्ट! ऐसा कह कर दुर्बलता के कारण किसी चाण्डाल के मकान में गिर पड़े और किस उपाय से प्राणरक्षा हो सोचने लगे। थोड़ी देर में उस चाण्डाल के गृह में विश्वामित्र को उसी रोज मारे हुए किसी कुक्कुर का मांसखण्ड देखने में आया। उसको देखकर बहुत ही आनन्दित हो विश्वामित्र सोचने लगे " मैं किसी न किसी तरह से इस मांसखण्ड को अवश्य ही अपहरण करूँगा। इसके सिवाय इस समय प्राणरक्षा का और कोई भी उपाय नहीं दीखता है। आपत्काल में चोरी करने पर भी महात्माओं के गौरव की हानि नहीं होती है और शास्त्र में भी कहा है कि आपत्काल में ब्राह्मण प्राणरक्षार्थ चोरी भी कर सकता है। पहले नीच का द्रव्य, पश्चात् समान जातीय का द्रव्य और यदि उसमें भी कुछ प्राप्त न हो, तो अपने से उत्तम धार्मिक व्यक्ति का भी धन अपहरण कर सकता है; अतः पहले मैं इस नीच का द्रव्य अपहरण करूँगा। इस प्रकार अपहरण से मुझे चोरी का पाप स्पर्श नहीं करेगा।" इस प्रकार विचार करके महर्षि विश्वामित्र वहीं सोये रहे। तदनन्तर रात्रि अधिक होने पर जब सब लोग निद्रित हो गये तो धीरे धीरे विश्वामित्र उस चाण्डाल

की कुटी में मांस अपहरणार्थ प्रवेश करने लगे। उस समय वह चाण्डाल जागता था। सो कुटी में किसी दूसरे को प्रवेश करते हुए देखकर कर्कश स्वर से कहा "कौन आया है मेरे घर में कुक्कुरमांस चोरी करने को, आज अवश्य ही मेरे हाथ से उसका प्राण जायगा।" इस बात को सुनकर महर्षि विश्वामित्र अति भीत और लज्जित हो कहने लगे– "मैं विश्वामित्र हूँ, अत्यन्त क्षुधा से व्याकुल होकर तुम्हारे घर में आया हूँ। यदि तुम साधुदर्शी हो तो मुझे वध न करो।" विश्वामित्र की बात सुनते ही चाण्डाल त्रस्तचित्त होकर शय्या से उठा और कृताञ्जलि होकर कहने लगा "भगवन्! इस गम्भीर रात्रि में आप क्यों यहाँ आये।

विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन् ।
क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।।
क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः ।
क्षुच्च मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।।
अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा ।
दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याक्ष्यविवर्जिताः ।।
सोऽधर्मं बुध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये ।।
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिषड्विभुः ।।
यथावत् सर्वभुग्ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः ।।

चाण्डाल का वाक्य सुनकर महर्षि विश्वामित्रजी ने कहा "मैं क्षुधाकातर और मृतप्राय होकर तुम्हारा यह कुक्कुरमांस अपहरण करने के लिये आया हूँ। बुभुक्षित व्यक्ति के लिये लज्जा कैसे सम्भव हो सकती है? क्षुधा के प्रभाव से मेरा जीवन अवसन्न और ज्ञान लुप्तप्राय हो रहा है, जिससे मेरी भक्ष्याभक्ष्य की विचारशक्ति लुप्त हो गई है। इसलिये चोर के कार्य को अत्यन्त अधर्म जानने पर भी इस मांसखण्ड के अपहरण में मेरी इच्छा हुई है। मैं तुम्हारे ग्राम में बहुत घूमने पर भी कहीं कुछ न पाकर इस पापकार्य के लिये सन्नद्ध हुआ हूँ। देखो, अग्निदेवताओं का मुख और पुरोहित रूप है इसलिये पवित्र वस्तु के सिवाय दूसरी वस्तु लेना अग्नि के लिये कदापि कर्तव्य नहीं है; तथापि जिस प्रकार अग्नि को

भी सभी प्रकार की वस्तु अगत्या लेनी पड़ती है, उसी प्रकार प्राणरक्षार्थ मुझे खाद्याखाद्य-विचारशून्य होना पड़ा है।'' विश्वामित्र का वाक्य सुनकर चाण्डाल ने कहा–

श्रृगालादधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तस्याप्यधर्म उद्देश्यः शरीरस्य श्वजाघनी ।।
नेदं सम्यग्व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम् ।।
चाण्डालस्यास्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः ।।
साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे ।
न मांसलोभात्तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने ।।
जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसंकरः ।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतांवर ।।

पण्डितगण कहते हैं कि श्रृगाल के मांस से भी श्वानमांस हीन है और उसमें भी जंघा का मांस अत्यन्त हेय है। विशेषत: अयोग्य चाण्डाल-धन अपहरण करना बड़ा ही अधर्म है। इसलिये ऐसे कार्य में उद्योग करना आपके लिये कदापि उचित नहीं है। अत: जीवन धारण के लिये कोई दूसरा उत्तम उपाय अवलम्बन कीजिये। मांस के लोभ से तपस्या को विनष्ट न करें। शास्त्रोक्त धर्म जानकर भी धर्मसंकर करने में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। आप धार्मिकों में प्रधान हैं, आपको धर्मत्याग करना कभी उचित नहीं है। चाण्डाल का वाक्य सुनकर महर्षि विश्वामित्रजी ने कहा–

निराहारस्य सुमहान्मम कालोऽभिधावतः ।
न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ।।
येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ।।
ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः ।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ।।
यथा यथैव जीवेद्धि तत्कर्त्तव्यमहेलया ।।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवनाद् धर्ममवाप्नुयात् ।।
सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम् ।
व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यताम् ।।

बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु ।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ।।

मैं अनाहारी होकर बहुत दिनों से इधर उधर घूम रहा हूँ परन्तु प्राणरक्षा के लिये कहीं कुछ न प्राप्त हुआ। शास्त्र की आज्ञा है कि, क्लेश होने पर किसी न किसी प्रकार प्राणधारण करना चाहिए। तदनन्तर समर्थ होने पर धर्माचरण करना चाहिए। क्षत्रियगण को इन्द्र की भाँति और ब्राह्मणों को अग्नि की भाँति धर्म अवलम्बन करना उचित है। इसिलये सर्वभुक् अग्नि की तरह क्षुधाशान्ति के लिये मैं कुक्कुरमांस भोजन कर लूँगा। जिससे जीवनरक्षा हो सकती है, ऐसा उपाय विचाररहित होकर सर्वथा करना चाहिए। मृत्यु की अपेक्षा प्राणरक्षा उत्तम है क्योंकि जीवित रहने पर धर्मानुष्ठान कर सकूँगा और जिस प्रकार आलोक के द्वारा गाढ़-तम का नाश होता है, उसी प्रकार तप और विद्या के प्रभाव से समस्त अशुभों का नाश कर दूँगा।'' इस बात को सुनकर चाण्डाल ने कहा–

नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायु-
नैंव प्राणान्नामृतस्येव तृप्तिः ।
भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु
श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ।।

इस कुक्कुरमांस के भोजन द्वारा आपको सुदीर्घ आयु या अमृतपान के तुल्य तृप्तिलाभ नहीं होगा। अतः आप अन्य वस्तु के लिये भिक्षा कीजिये, श्वानमांस कदापि भक्षण न कीजिये। शास्त्र में श्वानमांस ब्राह्मणों के लिये नितान्त अभक्ष्य लिखा है। महर्षि विश्वामित्रजी ने कहा–

न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्यत् ।
श्वपाकमन्ये न च मेऽस्ति वित्तम् ।
क्षुधार्तश्चाहमगतिर्निराशः
श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये ।।

इस दुर्भिक्ष के समय अन्य मांस सुलभ नहीं है और मेरे पास अर्थ भी नहीं है। विशेषतः अत्यन्त क्षुधाकातर होने से प्राणरक्षा के लिये निरुपाय होने के कारण मुझे इस समय श्वानमांस ही मधुर षड्रसयुक्त प्रतीत हो रहा है। चाण्डाल ने कहा–

कामं नरा जीवितुं सन्त्यजन्ति
न चाभक्ष्ये क्कचित्कुर्वन्ति बुद्धिम् ।
सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीह विद्वन्
प्रियस्य कामं सहितः क्षुधैव ।।

साधु व्यक्तिगण प्राण तक त्याग करने को तैयार होते हैं तथापि अभक्ष्य भोजन नहीं करते हैं। बहुत महात्मा क्षुधाजय करके स्वप्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसलिये आप क्षुधाजय करने का प्रयत्न कीजिये। महर्षि विश्वामित्रजी ने कहा–

स्थाने भवेत् स यशः प्रेत्यभावे-
निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः ।
अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा
मूल्यं रक्ष्यं भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम् ।।
बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यम्
मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये ।
यद्याप्येतत्संशयात्मा चरामि
नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव ।।

उपवास के द्वारा प्राण त्याग करना उत्तम है तो सही परन्तु जिसकी जीने की इच्छा है, उसके लिये अनाहार द्वारा शरीर शुष्क करना अत्यन्त गर्हित है। उससे अवश्य ही धर्मलोप होता है। फलत: देह की रक्षा करना अवश्य कर्तव्य है। यदि श्वानमांस भोजन द्वारा मुझे सामान्य पाप में लिप्त होना भी पड़े, तो भी मैं व्रतादि द्वारा उस पाप का निराकरण कर सकूँगा। सूक्ष्म बुद्धि द्वारा विचार कर देखने से आपत्काल में श्वानमांस भोजन निर्दोष प्रतिपन्न होता है और मोह-बुद्धि द्वारा विचार करने से ऐसा कार्य सदोष प्रतीत होता है। जो कुछ हो यदि मेरा श्वानमांसभोजन कुछ दोषयुक्त भी हो तथापि उससे मुझे तुम्हारे जैसा चाण्डाल बनना नहीं पड़ेगा क्योंकि उस पाप के दूर करने की शक्ति मुझमें विशेषरूप से विद्यमान है। इस प्रकार से बातचीत होने के बाद महर्षि विश्वामित्रजी ने उस श्वानमांस को ले लिया और सपत्नीक वन में जाकर दैव और पितृकार्य करने लगे, यथा महाभारत में–

अथास्य बुद्धिरभवद्विधिनाहं श्वजाघनीम् ।
भक्ष्यामि च यथाकामं पूर्वं सन्तर्प्य देवताः ।।

ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः ।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं श्रपयत स्वयम् ।।
ततः समारभत् कर्म दैवं पित्र्यञ्च भारत ।
आहूय देवानानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात् ।।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः ।
सञ्जीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ।।
विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्विषः ।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम् ।।
स संहृत्य च तत्कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः ।
तोषयामास देवांश्च पितृंश्च द्विजसत्तमः ।।

मांस अपहरण करने के बाद महर्षि विश्वामित्र की यह इच्छा हुई कि विधिपूर्वक पहले देवताओं को समर्पण करके पश्चात् मांसभोजन करेंगे। इस प्रकार चिन्ता करके महातपा विश्वामित्रजी ने ब्राह्मविधि के अनुसार अग्नि आहरण करके ऐन्द्राग्नेय विधि के अनुसार स्वयं उसका चरु प्रस्तुत कर लिया। तदनन्तर उस मांस द्वारा प्रस्तुत चरु को अंश अंश करके इन्द्रादि देवताओं को आह्वान कर देव और पितृकार्य विधि के अनुसार समर्पण करने लगे। इतने में महर्षि विश्वामित्र के तपःप्रभाव से द्वादश वर्ष के बाद इन्द्रदेव ने प्रचुर जल वर्षण कर दिया और प्रजाओं को संजीवित करके औषधी और धनधान्य की उत्पत्ति कर दी। महर्षि विश्वामित्रजी ने भी तपस्या के द्वारा चाण्डाल मांस ग्रहणजन्य पाप से मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की। उन्होंने अपने पूर्वकृत पापकर्म का संहार करके उस मांसयुक्त हवि का भोजन न करने पर भी देवता और पितरों को सन्तुष्ट कर दिया।

अग्नि की एक चिनगारी भी अग्नि की पूर्णता से भरी हुई है। वह अग्नि की चिनगारी यदि अनुकूल आधार प्राप्त हो, तो बढ़ कर समस्त पृथ्वी को दग्ध कर सकती है। सर्वव्यापक सर्वजीवहितकर सृष्टि को धारण करने वाला धर्म यदि बिना बाधा के कार्यकारी बना रहे, तो जब वह जीव को मुक्तिभूमि तक पहुँचा देता है, तो उसके द्वारा सब कुछ संपन्न होगा। इसमें सन्देह ही क्या? ऊपर उक्त परकीय भाषायुक्त गाथा से ये सब तात्पर्य निकले– देश काल पात्र का विचार रखकर भावशुद्धि पूर्वक

कार्य करने से घोर अधर्म कार्य भी धर्मकार्य रूप में परिणत हो सकता है। प्रथम तो चोरी जो महाअधर्म है, द्वितीय ब्राह्मण के लिये चौरकार्य जो और भी घृणित कार्य है, तृतीय चाण्डाल के पदार्थ की चोरी जो अति गर्हित है, चतुर्थ कुत्ते का मांस ग्रहण जो अति पाप है, पंचम जंघामांस ग्रहण जो महा घृणित है, षष्ठ ब्राह्मण होकर ऐसे घृणित पदार्थ खाने की इच्छा करना और सप्तम ज्ञानी होकर अपनी वृत्ति को न रोक कर ऐसे पथ में प्रवृत्त होना, इन सब पूर्व पक्षों का सिद्धान्त करके आपद्धर्म का एक ज्वलन्त दृष्टान्त ऊपर की गाथा में प्रकाशित है। कितना ही घृणित और पाप कार्य हो देश काल पात्र के विचार से यदि उसी को करना निश्चित हो, तो भावशुद्धि द्वारा वह महा पापकार्य पुण्यकार्य में परिवर्त्तित हो सकता है। जो व्यक्ति मृत्यु को ही उचित समझता है उसके लिये यद्यपि मर जाना अच्छा है और स्वधर्म छोड़ना उचित नहीं है परन्तु जो ज्ञानी व्यक्ति ऐसा समझता हो कि, मेरे लिये मरना ठीक नहीं है। यदि मेरा शरीर रहेगा तो मैं अन्यान्य पुण्यकार्य से इस पापकार्य को शुद्ध कर लूँगा और क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करके धर्म जगत् में बढ़ सकूंगा, उसके लिये आपत्काल में चाहे जिस प्रकार से हो शरीर को बचा लेना ही धर्म होगा। विश्वामित्र महाराज ने इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त को लक्ष्य में रखा और किंचित् भी विचलित नहीं हुए। शरीर की रक्षा के निमित्त केवल ऊपर लिखित पापाचरण को करना भावशुद्धि से उचित समझा और उसके बाद ही अपने स्वधर्म की रक्षा के लिये पितृयज्ञ और देवयज्ञ में प्रवृत्त हुए। क्षुधा की कुछ भी परवाह नहीं की, इसी कारण उनके प्रबल धर्म से इन्द्र देवता बाध्य होकर सुवृष्टि करने में तत्पर हुए। यही इस गाथा का वैज्ञानिक तात्पर्य है।

इस स्थान पर इतना स्मरण रखना अवश्य उचित है कि आपद्धर्म के अनुसार जिस प्रकार अति सुगमता के साथ हेय पापकर्म भी उपादेय पुण्यकर्म में परिणित हो सकता है, उसी प्रकार आपद्धर्म के निर्णय करने में अति कठिनता है; क्योंकि कर्त्ता यदि ज्ञानी न हो, संयमी न हो और स्वार्थपर हो, तो अपनी दुर्बलता के कारण वह अपनी असुविधाओं को आपत् करके मानने लगेगा और अपनी इंद्रिय-चरितार्थता को ही आपद्धर्म-साधन का कारण समझ लेगा। इस कारण

आपद्धर्म का निर्णय करना केवल परमज्ञानी, कर्मदर्शी आचार्य और गुरु का ही कार्य है। महर्षियों का यह कथन है कि कर्म की गति के जानने वाले ही धर्माधर्म का निर्णय कर सकते हैं। अत: आपद्धर्म-निर्णय करने के लिये आपत्तियुक्त कर्त्ता कभी स्वयं साहस न करे। उसको उचित है कि यदि वह स्वयं ज्ञानी और कर्म का रहस्य ज्ञाता न हो तो धर्मज्ञ, कर्म के रहस्यज्ञ और तत्त्वज्ञानी आचार्य गुरु अथवा महापुरुषों से आज्ञा ग्रहण करके अपना आपत्कालीन धर्माधिकार निर्णय करे। सभी अपने आपको महर्षि विश्वामित्र न समझ लेवें। इसी प्रकार से देशविचार, कालविचार, पात्रविचार और भावशुद्धि की सहायता से आवश्यकता के अनुसार सब अधर्मकार्य धर्मकार्य में परिणत हो सकते हैं; परन्तु स्मरण रहे, जैसा कि श्रीमान् मनु के वचन पहले दिये गये हैं कि, जहां कर्त्ता में सामर्थ्य है कि देश काल और पात्र को अतिक्रम कर सके वहां अधर्मकार्य में भावशुद्धि असम्भव है। देश की विरुद्धता, काल की विरुद्धता और पात्र की असमर्थता होने पर ही भावशुद्धि का अवसर हो सकता है। अन्यथा अधर्म में भावशुद्धि द्वारा धर्मज्ञान होना सम्भव नहीं है; परन्तु जहां देश काल और पात्र धर्मसाधन के अनुकूल निश्चय ही नहीं है, वहां भावशुद्धिपूर्वक आपद्धर्म के अधिकार का पालन करना बुद्धिमान् का कर्तव्य है। धर्मज्ञ आचार्यगण ऐसी ही आज्ञा दिया करते हैं। इसी कारण सतीत्वमूलक नारीधर्म की अधिकारिणी सती प्रथम तो पति को पापकर्म से रोके परन्तु यदि पति न माने तो सहधर्मिणी होने पर भी उसको घोर अधर्मकर्म में पति का साथ देना कदापि उचित नहीं है। पति का जो धर्म है, वही स्त्री का भी धर्म है। इसी कारण स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है। यदि पति निरपराधी मनुष्यों का हनन करने वाला हो या ऐसे ही कोई घोरतप पाप करता हो, तो सती स्त्री को उचित है कि पति को पापकर्म से यथासाध्य रोके, परन्तु यदि पति न माने तो स्त्री को उचित है कि ऐसे पापी पति का साथ न दे। इसी प्रकार यद्यपि पति की चिता में जल मरना सनातनधर्म के अनुसार सती स्त्री का धर्म है परन्तु जब कोई राजा सहमरणधर्म की आज्ञा नहीं देता है अर्थात् देश और काल विरुद्ध है, तो उस समय पतिधर्मपरायणा सती के लिये अपना जीवन पति के साथ चिता में बैठकर न जलाने से सतीधर्म के विरुद्ध अधर्म नहीं होगा; परन्तु

देश तथा काल के विचार से उस समय चिता में जलकर न मरना सती के लिये आपद्धर्म होगा। शूद्रजाति का प्रधान धर्म यदि च ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों की धार्मिक सेवा करना है तथापि देश काल और पात्र के विचार से शूद्रगण कठिन कार्य में अन्त्यजजाति के निकृष्ट धर्म पालन करके आपद्धर्म पालन कर सकते हैं। उसी प्रकार उत्तरोत्तर वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणगण अपने से निकृष्ट वर्णों के धर्म को असुविधा के अनुसार यथाक्रम करते हुए आपद्धर्म का पालन कर सकते हैं। आपद्धर्म के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियादि आचारभ्रष्ट, खानपानभ्रष्ट और स्वस्वजातिगत कर्मभ्रष्ट होने पर भी आपद्धर्म के कारण यदि उनका लक्ष्य ठीक रहे, तो वे पापमुक्त हो सकते हैं। अपने स्वार्थ से कुटुम्ब का स्वार्थ बड़ा है, कुटुम्ब के स्वार्थ से ग्राम का स्वार्थ बड़ा है, ग्राम के स्वार्थ से जनपद का स्वार्थ बड़ा है, जनपद के स्वार्थ से स्वदेश का स्वार्थ बड़ा है। उसी प्रकार आधिभौतिक वैषयिक ऐश्वर्य से आधिदैविक ऐश्वर्य से ज्ञान सम्बन्धीय आध्यात्मिक ऐश्वर्य बड़ा है। अत: देश के कल्याण अथवा ज्ञान की वृद्धि के लिये यदि कोई धार्मिक व्यक्ति म्लेच्छसंसर्ग, अनार्यसेवा, धर्महीन देशगमन और अनाचार भी करेगा, तो लक्ष्य ठीक रहने से वह आपद्धर्म के अनुसार अधार्मिक नहीं होगा। कलिकाल में वर्णाश्रमधर्म में अनेक विपर्यय हो जाने से गुरुगृहवास असम्भव हो जाने पर भी विद्याभ्यासशील विद्यार्थी यदि आचार्यभक्ति, आचार्यशूश्रुषा, ब्रह्मचर्यव्रतपालन आदि धर्म पालन करे, तो वह ब्रह्मचर्याश्रमधर्म का अधिकारी हो सकेगा। उसी प्रकार यदि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति पंचमहायज्ञ आदि का ठीक ठीक पालन न कर सके, गृहस्थ ब्राह्मण यदि यथाविधि अग्नि की सेवा न कर सके, तो अन्यान्य धर्मों को यथासम्भव पालन करने से आपद्धर्म के अनुसार पतित नहीं होगा। उसी प्रकार कलिकाल में तपोवनसमूह सम्पूर्ण रूप से लोप हो जाने से और उञ्छ वृत्ति आदि वृत्तियां पालन करना एक बार ही सम्भव न होने से तथा गोसेवा आदि आवश्यकीय धर्म अति कष्टसाध्य हो जाने से यदि जीवन की तीसरी अवस्था में पहुंचा हुआ धार्मिक व्यक्ति ब्रह्मचर्यव्रतपालन, तप:स्वाध्यायनिष्ठा, तीर्थवास आदि धर्मों का पालन करते हुए सन्यासाश्रम के उपयोगी अपने को बनाने के लिये यत्न करे, तो

आपद्धर्म के अनुसार वह धार्मिक व्यक्ति ऋषिकल्प और वानप्रस्थधर्मी कहलावेगा, इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि सन्यासाश्रम केवल ब्राह्मणों के लिये ही विहित है, यद्यपि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में यथाविधि चलकर पीछे सन्यासाश्रम धारण करने की विधि है और यद्यपि कुटीचक के बाद बहूदक, बहूदक के बाद हंस और हंस के बाद परम हंस के धर्म पालन करने की आज्ञा शास्त्रकारों ने दी है; परन्तु यदि कलिकाल में आश्रमधर्म की शैली में अनेक विप्लव हो जाने से इस प्रकार के क्रम की रक्षा न हो सके और वर्ण तथा आश्रमधर्म के सम्मान की रक्षा करते हुए यदि यथासम्भव सन्यास धर्म पालन करके निवृत्तिसेवी वैराग्यसम्पन्न ज्ञानी व्यक्तिगण प्रव्रज्या ग्रहण करें तो आपद्धर्म के अनुसार वे सभी सन्यासाश्रमधारी कहला सकते हैं। इसी शैली पर देश काल पात्र के विचारानुसार भावशुद्धिपूर्वक दानधर्म, तपोधर्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ और महायज्ञ के कर्त्तव्य निश्चय करने में आपद्धर्म का विचार लाया जा सकता है और धर्म के सब अङ्ग और उपाङ्ग इसी प्रकार आपद्धर्म की शैली पर आवश्यकतानुसार निर्णीत हो सकते हैं; परन्तु धर्म के यथार्थ स्वरूप के लक्ष्य से च्युत न होकर कर्त्तव्य निश्चित होना उचित है।

***

भक्ति और योग

इस ग्रन्थ के उपासनायज्ञ नामक अध्याय में भक्ति को सकल साधना का प्राणरूप और योग को शरीररूप करके वर्णन किया गया है। वास्तव में साधनारूपी कल्पतरु भगवद्भक्तिरूपिणी प्राणशक्ति और विविध योगरूपी मधुर शरीर के द्वारा समन्वित होकर ही मुमुक्षु साधकजनों के लिये मोक्षफल प्रसव करने में समर्थ हो सकता है। भक्तिहीन साधना प्राणहीन होने से श्रीभगवान् की ओर चित्तवृत्ति के आकर्षण कराने में समर्थ नहीं हो सकती है तथा योगविहीन साधना अवयवहीन होने से उपासनामार्ग में साधक को अग्रसर ही नहीं कर सकती है। अत: साधन राज्य में पूर्ण अधीश्वर होने के लिये भक्ति और योग दोनों का ही अभ्यास अवश्य करणीय है। भगवान् पतञ्जलिजी ने–

''तीव्रसंवेगानामासन्नतमः''

श्रीभगवान् के प्रति चित्त के भक्तिजन्य तीव्र संवेग के द्वारा ही भगवान् का साक्षात्कार सहज और समीपवर्त्ती होता है ऐसा कहकर साधना की प्राणरूपिणी भक्ति की महिमा बताई है। इसी प्रकार योगदर्शन के प्रारम्भ में ही–

''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' ''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्''

चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है, जिसके फल से द्रष्टा पुरुष अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप को लाभ कर सकते हैं, ऐसा कहकर उक्त महर्षिजी ने साधन के अवयवरूप योग की भी महिमा का भलीभाँति वर्णन किया है। अब नीचे साधना के सर्वस्वरूप इन दोनों विषयों का वर्णन यथाक्रम संक्षेप से किया जाता है।

भक्ति का लक्षण क्या है, इस विषय पर विचार करते हुए अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वतीजी ने कहा है कि–

''द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति''

भगवद्भाव से द्रव होकर भगवान् के साथ चित्त का जो सविकल्प तदाकार भाव है, वही भक्ति का लक्षण है। इसी तदाकार भाव का प्रमाण श्रीमद्भागवत में भी वर्णित किया गया है। यथा–

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।

गुणगान सुनते ही श्रीभगवान् के प्रति, समुद्रगामिनी गङ्गाजी की अविच्छिन्न धारा की तरह चित्त की जो कामनाहीन अविच्छिन्न गति है, उसी को भक्तियोग कहा जाता है। भक्ति की रागात्मिका दशा में भगवान् के प्रति साधक की चित्तवृत्ति ऐसी ही हो जाती है, जिसके अनेक दृष्टान्त भक्तिशास्त्र में मिलते हैं। भक्तजनमुकुटमणि प्रह्लाद ने नृसिंहरूपधारी श्रीभगवान् के पास इसी पवित्र प्रेम की प्रार्थना की थी, यथा विष्णुपुराण में–

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ।।

प्रह्लाद की प्रार्थना यह है कि, अज्ञानी विषयी लोग जिस प्रकार विषय के प्रति एकचित्त होकर प्रीति करते हैं, उसी प्रकार अविच्छिन्न अविनाशी प्रेम भगवान् के प्रति हो। भगवान् के प्रति इस प्रकार प्रेम होना ही भक्ति का लक्षण है। भक्ति दर्शन के सूत्रकार देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य तथा महर्षि अङ्गिरा ने इसी सिद्धान्त को लेकर अपने अपने दर्शनों में भक्ति का लक्षण निर्णय किया है, यथा, नारद सूत्र में–

''सा तस्मिन्परमप्रेमरूपा'' ''अमृतस्वरूपा च''

परमेश्वर के प्रति परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भक्ति जीव को अमृतमय नित्यानन्द का अधिकारी भी कर देती है। शाण्डिल्यसून्न में लिखा है--

''सा परानुरक्तिरीश्वरे'' तत्संस्थस्यामृतत्त्वोपदेशात्''।

ईश्वर के प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहते हैं; क्योंकि उनके प्रति प्रेम होने से ही जीव अमृतरूप हो जाता है। महर्षि अङ्गिराकृत दैवी मीमांसादर्शन में–

''सानुरागरूपा'' ''स्नेहप्रेमश्रद्धातिरेकादलौकिकेश्वरानुरागरूपा''।

भक्ति श्रीभगवान् के प्रति अनुरागरूप है। लौकिक अनुराग तीन प्रकार के हैं, यथा– स्नेह, प्रेम तथा श्रद्धा। अपने से छोटों में अनुराग स्नेह, समान में अनुराग प्रेम और श्रेष्ठों में अनुराग श्रद्धा कहलाता है। ये तीन प्रकार के प्रेम ही लौकिक तथा नश्वर हैं; परन्तु इससे अतिरिक्त परमेश्वर के प्रति जो अविनश्वर और अलौकिक अनुराग है, उसे भक्ति कहते हैं।

भक्ति के लक्षण को और भी स्पष्ट करने के लिये यह कहा जा सकता है कि, मनुष्य जितना पशुभाव के अधिकार को छोड़ता हुआ देवभाव के अधिकार को प्राप्त करता जाता है उतना ही उसमें प्रेम तथा अनुराग बढ़ता जाता है। अनुराग अथवा प्रेम के पहचानने का लक्षण यह है कि, मनुष्य जितना अपने स्वार्थों को भूलकर दूसरे के स्वार्थों को अपना स्वार्थ समझता जाय उतना वह मनुष्य प्रेमिक कहलाता है। माता-पिता, पुत्र कन्या के लिये अपने स्वार्थ को भूलकर पुत्रकन्या के सुख से अपने को जितना सुखी समझते हैं, उतने ही वे प्रेमिक पिता माता कहलाते हैं। पति स्त्री के लिये, स्त्री पति के लिये, मित्र मित्र के लिये जितना अधिक अपना स्वार्थ विसर्जन करता हुआ एक दूसरे के सुख से अपने को सुखी और एक दूसरे दुःख से अपने दुःखी अनुभव करता है, उतना ही वह प्रेम राज्य का अधिकारी माना जाता है। दूसरे के लिये अपने को भूलना, दूसरे के सुख के लिये अपने सुख को विसर्जन करना, स्वयं दूसरे का बन जाना यही अनुराग की भित्ति है। यही अनुराग लौकिक जगत् में श्रद्धा प्रेम और स्नेह रूप से तीन प्रकार का होता है, जैसा कि पहले कहा गया है। निम्नगामी स्नेह, ऊर्द्ध्वगामी श्रद्धा और समगामी प्रेम, तीनों ही में लौकिक, नाशवान् अवलंबन होने से तीनों ही दुःख के मूल हैं; परन्तु भक्ति में ऐसा नहीं होता है। भक्ति का

अधिकारी भाग्यवान् उपासक संसार को भूलकर अपने अनुराग-प्रवाह को अलौकिक अविनश्वर नित्यानन्दरूप भगवान् की ओर प्रवाहित करता है। इसलिये दु:खक्लेशविहीन इस प्रकार के अलौकिक अनुराग को ही भक्ति कहते हैं।

इस प्रकार की भक्ति में अधिकार किसका है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी ने भागवत के एकादश स्कन्ध में उपदेश किया है–

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ।।
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्म्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ।।
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ।।

जीवों के कल्याण के अर्थ ज्ञान, कर्म और भक्ति, ये तीन ही प्रकार के योग कहे गये हैं। उनमें से विषयासक्तिशून्य त्यागी पुरुषों के लिये ज्ञानयोग और सकाम मनुष्यों के लिये कर्मयोग का उपदेश किया गया है। इन दोनों से अतिरिक्त जो पुरुष भगवत्कथा में श्रद्धायुक्त होते हैं और न तो अधिक वैराग्यवान् ही हैं और न अधिक विषयासक्त ही है, इस प्रकार के मनुष्यों के लिये भक्तियोग सिद्धिदायक होता है। अत: सिद्धान्त हुआ कि अध्यात्मिक राज्य में मध्यमाधिकारी के लिये ही भक्तियोग अधिकरूप से विहित किया गया है; परन्तु इस वचन से ऐसा न समझा जाय कि भगवद्भक्ति उच्च अधिकारी और निम्नाधिकारी के लिये विहित है ही नहीं। उच्च से उच्च अधिकारी जो ब्रह्मसद्भावप्राप्त ज्ञानी हैं, उनको भी पराभक्ति प्राप्त रहती है और निम्न से निम्न अधिकारी के लिये भी वैधीभक्ति सर्वथा हितकारी है। इन भक्ति के भेदों के लक्षणों को आगे विस्तारित रूप से कहा जायगा।

भक्ति का उदय कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में उपनिषद् में लिखा है।

''नैषा तर्केण मतिरापनेया'' ''अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्''।

तर्क के द्वारा चित्त में भगवान् के प्रति भक्ति का उदय नहीं होता है। चिन्ता से अतीत भावों को तर्क द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। भक्ति महत्कृपा और भगवत्कृपा द्वारा प्राप्त होती है, यथा, नारदसूत्र में–

''मुख्यतस्तु महत्कृपया भगवत्कृपालेशाद्वा''।

प्रधानतः महात्माओं की कृपा से और भगवान् की कृपा से भी भक्ति का उदय होता है। महर्षि अङ्गिरा ने भी लिखा है–

''सा महत्कृपातो भगवत्कृपातोऽपि''।

भक्ति महत्कृपा तथा भगवत्कृपालेश के द्वारा प्राप्त होती है। महत्कृपा के विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा है–

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा ।
न च्छंदसा नैव जलाग्निसूर्यै
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकात् ।।
यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो–
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ।।

श्रीभगवान् के चरणकमलों में भक्ति का उदय तपस्या, याग, यज्ञ, वेदाभ्यास और जल, अग्नि आदि की उपासना द्वारा नहीं होता है, केवल महापुरुषों के चरणरजों की कृपा से ही इस प्रकार की भक्ति का उदय होता है। जहाँ पर रात्रिदिन विषयालापनाशक श्रीभगवद्गुणकीर्त्तन होता रहता है, उसकी सेवा करने से मुमुक्षुजनों के चित्त में शीघ्र ही भगवद्भक्ति का उदय होता है–

भगवत्कृपा के द्वारा भक्तिलाभ के विषय में मुण्डकोपनिषद् में लिखा है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष तृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।

भगवान् प्रवचन, मेधा अथवा बहुत शास्त्रज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं होते परन्तु जिस भक्त के हृदय मन्दिर में कृपा करके श्रीभगवान् अधिष्ठान करते हैं, उन्हीं के चित्त में भक्ति का उदय होता है, जिससे वे परमात्मा के यथार्थ स्वरूप के देखने में समर्थ हो जाते हैं। और भी गीता में-

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

श्रीभगवान् के प्रति सदा युक्त होकर प्रीतिपूर्वक उपासना करने वालों को श्रीभगवान् बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिससे वे भक्ति द्वारा उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार से महत्कृपा और भगवद्कृपा के द्वारा प्राप्त भक्ति की सहायता से परमात्मा के नानाभावमूलक साधन द्वारा भक्तजनचित्त धीरे धीरे भक्तवत्सल भगवान् में मग्न होकर उसी परमानन्दमय परमपद में विलीनता को प्राप्त करता है। भक्ति की परम महिमा के विषय में समस्त शास्त्र ही एकवाक्य होकर गुणगान करते हैं कि भक्ति ही संसारदुःखाग्निदग्ध अन्तःकरण की परमा शान्ति के लिये अमृतधारारूपिणी है। श्रीभगवान् पतंजलिजी ने "ईश्वरप्रणिधानाद् वा" इस सूत्र के द्वारा भगवद्भक्ति के बल से ही चित्तवृत्ति का निरोध होकर पुरुष का स्वरूप में अवस्थान होता है, ऐसा कहकर भक्ति की ही अपूर्व महिमा वर्णित की है। श्रीमद्भागवत में लिखा है-

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त-
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ।।
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः

शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुबुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ।।
यथाग्निना हेममलं जहाति-
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ।।
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ।।
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ।
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ।।
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ।।

आनन्दरूप सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् के चरण कमल में परमाभक्ति द्वारा ममत्वरूप अनादि अविद्या की ग्रन्थि टूट जाती है। शरीरी जीव के लिये परमात्मा का आराधन संसारचक्र को खण्ड विखण्ड कर दिया करता है। ज्ञानिगण उसी ब्रह्मपद को ही परमसुख का कारण कहा करते हैं। जिस प्रकार अग्नि के संयोग द्वारा सुवर्ण की मलिनता नष्ट होकर पुनः उसे अपना सुन्दर रूप प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीवात्मा भक्तियोग के द्वारा कर्म की मलिनता से मुक्त होकर परमात्मा के साधन में प्रवृत्त होता है। भगवत्प्रेम से द्रव होकर रोमाञ्च, अश्रुपात और भक्ति के बिना जीव की शारीरिक और मानसिक शुद्धि कदापि नहीं हो सकती है। अनन्त गुणमय और आनन्दरूप परमात्मा के प्रति भक्ति प्राप्त होने से साधक को और कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता है। समुज्ज्वल अग्नि के द्वारा जिस प्रकार काष्ठ भस्म हो जाता है, उसी प्रकार भगवद्भक्ति के द्वारा पापराशि भस्म हो जाती है। श्रीभगवान् केवल भक्ति

के द्वारा ही प्राप्य हैं। भक्ति चाण्डाल को भी संसारबन्धन से मुक्त करती है। उपनिषद् में लिखा है–

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत् ।
आयम्य तद्भागवतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ।।

''भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति,
भक्तिवशः पुरुषो, भक्तिरेव भूयसी''

उपनिषद् रूप धनुष के ऊपर उपासनारूप तीक्ष्णबाण की योजना करके भक्तियुक्त चित्त होकर जब प्रयोग किया जाता है, तभी ब्रह्मरूप लक्ष्य विद्ध हो सकता है। भक्ति के द्वारा ही भगवान् प्राप्त होते हैं और उनका दर्शन होता है। श्रीभगवान् भक्ति के ही वश हैं, भक्ति ही श्रेष्ठ वस्तु है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है–

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवम्बिधोऽर्ज्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।।

संसार में परमात्मा के प्रिय वा अप्रिय कोई नहीं है, परमात्मा सर्वत्र ही समरूप हैं, केवल जो साधक भक्ति के साथ उनका भजन करते हैं भगवान् उनके और वे भगवान् के हैं। वेद, तपस्या, दान अथवा यज्ञ के द्वारा श्रीभगवान् के विराट् रूप का यथार्थ दर्शन नहीं हो सकता है, केवल भक्ति के द्वारा ही भक्तलोग उनके अद्वितीय स्वरूप को जान सकते हैं, देख सकते हैं और उसमें लवलीन हो सकते हैं।

दैवीमीमांसादर्शन, शाण्डिल्यदर्शन और नारदीय दर्शनों में भक्ति की महिमा प्रतिपादक अनेक सूत्र मिलते हैं, यथा–

''भक्त्याऽमृतत्वं तदास्वादादनवपातः''

भक्ति के द्वारा अमृतत्व लाभ होता है, जिसके आस्वादन से पतन, सम्भावना दूर हो जाती है।

''अकाम्या सा निरोधरूपत्वात्''

भक्ति कामना नहीं है क्योंकि जिस कामना से सकल कामना का निरोध होता है, वह कामना नहीं कहला सकती है।

''स्वयं फलरूपत्वात्सर्वफलप्रदा''

भक्ति सकल साधना का फलरूप होने से सर्वफलप्रदान-कारिणी है।

''ज्ञाननिष्ठेतरयोस्तल्लाभः सर्वाश्रयत्वात्''

ज्ञानी या अज्ञानी सभी भक्ति के आश्रय से कल्याण प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि भक्ति सभी की आश्रयरूपिणी है।

''सा परार्द्धया निखिलसाधकापेक्षित्वात्''

भक्ति सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसके बिना कोई भी साधक किसी साधनामार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता है।

''सर्वधर्माङ्गप्रपन्ना च''

भक्ति कर्म, उपासना, ज्ञान, यज्ञ आदि सकल धर्माङ्ग की ही सहायक है। इसके बिना किसी धर्माङ्ग की पूर्ति नहीं हो सकती है।

''लघूदितायामपि महाकल्मषहानम्''

सामान्य भक्ति का उदय होने से ही महापाप का नाश हो जाता है।

अन्त्यजोऽप्यधिकारी तत्र साम्यात् ।

अत्यन्त नीच योनि के मनुष्यों को भी भक्ति में अधिकार है। सभी भक्त समान हैं। कर्म और ज्ञान मार्ग के लिये अधिकारी की अपेक्षा रहती है और वर्णाश्रम का भी विचार रखना पड़ता है; परन्तु भक्तिमार्ग में इस प्रकार विचार की कोई भी आवश्यकता नहीं होती है। श्रीभगवान् ने गीता में भी कहा है–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

अत्यन्त दुराचारी भी यदि एकान्तरति होकर भगवान् की भजना करें तो वे साधुवत् माननीय होंगे क्योंकि भगवत्कृपा से इस प्रकार भक्त का दुराचार नष्ट होकर आध्यात्मिक उन्नति होगी। श्रीभगवान् के प्रति भक्ति करने से पाप योनि स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परमगति को प्राप्त कर सकते हैं।

''विधिनिषेधागोचरत्वमुभवे''

अनुभव होने के अनन्तर कोई विधिनिषेध नहीं रहता है। पराभक्ति प्राप्त सिद्ध भक्त त्रिगुणाधिकार से मुक्त होकर धर्माधर्मादि विधिनिषेध को परित्याग कर दिया करते हैं।

''अविपक्वभावानामपि तत्सालोक्यम्''

पराभक्ति तक पहुँचने में असमर्थ होने पर भी इष्टदेव लोकप्राप्ति अवश्य ही हो जाती है। कर्म, ज्ञान आदि मार्ग में अपूर्ण दशायुक्त मनुष्यों का प्रायः पतन होता है; परन्तु भक्तिमार्ग की यह विशेषता है कि पूर्णता प्राप्त न होने पर भी पतन नहीं होगा, सालोक्यादि मुक्ति अवश्य ही प्राप्त होगी। देवी भागवत में इस प्रकार के भक्त के विषय में लिखा है–

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग ।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति ।।
तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति ।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग्भवेन्नग ।।

भक्ति का अनुष्ठान होने पर भी मन्द प्रारब्ध के कारण जिस भक्त को पराभक्ति प्राप्त नहीं होती है, वे इष्टदेव के लोक को प्राप्त करते हैं। वहाँ पर इच्छा न होने पर भी भक्त को सकल प्रकार के भोग प्राप्त होते हैं और तदनन्तर काल प्राप्त करके पराभक्ति द्वारा परमात्मा का ज्ञानलाभ होने से भक्त को विदेहमुक्ति लाभ हुआ करती है; यथा–

ब्रह्मणा सहते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ।।

ब्रह्मलोकप्राप्त भक्त प्रलयकाल पर्यन्त उक्त लोक में वास करके प्रलयकाल के समय अपने इष्टदेव के साथ परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। यही सब भक्ति की महिमा और विशेषता है।

अब भक्ति के अङ्ग प्रत्यङ्ग के वर्णन किये जाते हैं। भक्ति प्रधानतः द्विधा विभक्त है, यथा– दैवीमीमांसा दर्शन में–"सा द्विधा गौणी परा च"। भक्ति दो भागों में विभक्त है– गौणी और परा। साधनदशा की भक्ति गौणी और सिद्धिदशा की भक्ति परा भक्ति कहलाती है। गौणी भक्ति के पुनः दो भेद हैं, यथा–दैवीमीमांसा में–

"साधनलभ्या गौणी वैधी रागात्मिका च"

वैधी और रागात्मिका नाम से द्विधा विभक्त तथा साधन द्वारा प्राप्त भक्ति ही गौणी भक्ति है। गौणी भक्ति दो प्रकार की है– वैधी और रागात्मिका। वैधी भक्ति के लक्षण के विषय में दैवीमीमांसा में कहा है–

"विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा"

विधि के द्वारा जिसका साधन होता है, इस प्रकार की तथा उन्नत भक्ति भूमि के लिये सोपानरूप से सहायताकारी भक्ति ही वैधी भक्ति है। गुरूपदेशानुसार विधिनिषेध के वशवर्ती होकर वैधी भक्ति के विविध अङ्गों के नियमित साधन द्वारा साधक भक्ति के उन्नत राज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त करते हैं। वैधी भक्ति पुनः नौ अङ्गों में विभक्त है, यथा–

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन वैधी भक्ति के ये ही नौ अङ्ग कहे गये हैं। श्रीभगवान् की मधुर गुणकथाओं के श्रवण का नाम श्रवण है। यह वैधी भक्ति का प्रथम अङ्ग है। श्रीमद्भावगत में लिखा है–

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखामनहोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ।।

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति स मलं कृष्ण सलिलस्य यथा शरत् ।।

जहाँ पर सुधासिन्धु की नाईं श्रीभगवान् की गुणकथा नहीं प्रवाहित होती है, जहाँ पर परम भागवत साधुगण नहीं निवास करते हैं, जहाँ पर यज्ञेश्वर के यज्ञ का महोत्सव नहीं होता है, इन्द्रलोक होने पर भी ऐसा स्थान सेवनीय नहीं है। श्रीभगवान् की गुणकथा कर्ण के द्वारा हृदय में प्रविष्ट होकर जैसा शरद ऋतु सरोवर के जल को शुद्ध करता है, वैसा ही हृदय की मलिनता को परिशुद्ध किया करती है। इस प्रकार से वैधी भक्ति के श्रवणरूपी अङ्गसेवन द्वारा भक्तजनचित्त धीरे धीरे श्रीभगवान् के चरणकमलों में सन्निविष्ट होने लगता है। वैधी भक्ति के द्वितीय अङ्ग का नाम कीर्त्तन है। श्रीभगवान् के मधुर चरित्र समूह के कीर्तन का नाम कीर्तन है। श्रीमद्भागवत में लिखा है–

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ।।

श्रीभगवान् अनन्तदेव की गुणावली के कीर्त्तन करने से अन्तःकरण में उनकी मधुर मूर्ति विराजमान होकर सूर्य किरण के प्रताप से अन्धकार अथवा प्रचण्डवायु के वेग से मेघ की तरह हृदय निहित समस्त व्यसनों को विदूरित कर देती है। श्रीभगवान् ने निजमुख से कहा है–

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।।

मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता हूँ और योगियों के हृदय में भी नहीं रहता हूँ। मेरे भक्त लोग जहाँ पर कीर्त्तन करते हैं, वहाँ ही मैं रहता हूँ। इस प्रकार से श्रीभगवान् के मधुर नाम कीर्तन द्वारा भक्तहृदय में धीरे धीरे भगवद्भाव का उदय हुआ करता है। वैधी भक्ति के तृतीय अङ्ग का नाम स्मरण है। श्रीभगवान् की मधुर मूर्त्ति, मधुर नाम या मधुर भाव के स्मरण को स्मरण कहा जाता है। भगवत्स्मरण के विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा है–

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति ।

सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ।।

श्रीभगवान् के चरणकमलों के निशिदिन स्मरण करने से अमङ्गलनाश और शान्ति, सत्त्वशुद्धि, परमात्मभक्ति तथा विज्ञानविरागयुक्त ज्ञान की वृद्धि हुआ करती है। श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है–

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरामि नित्यशः ।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।

अनन्यचित्त होकर जो सदा ही मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिये मैं बहुत ही सुलभ हो जाता हूँ।

समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।

मैं सकल भूतों में एक भाव से विद्यमान हूँ। कोई मेरा प्रिय या अप्रिय नहीं है। केवल जो भक्ति के साथ मेरी भजना करते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें हूँ। इस प्रकार से वैधी भक्ति के स्मरण अङ्ग के साधन द्वारा भक्तहृदय कमल भगवान् की कृपाकिरण से धीरे धीरे प्रफुल्लित हुआ करता है, जिस कमलासन में श्रीभगवान् आनन्द के साथ आसीन होते हैं। वैधी भक्ति के चतुर्थ अङ्ग का नाम पादसेवन है। श्रीभगवान् के चरण कमल की सेवा का नाम पादसेवन है। इसके फल के विषय में शास्त्र में कहा है–

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ।

जिस प्रकार भगवत्पाद से निकली हुई जाह्नवी अनुक्षण वर्द्धिता होकर संसार की मलिनता दूर करती हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् के चरणकमलों की सेवा द्वारा भी तपसवियों के चित्त से जन्म जन्मान्तरसञ्चित मलिनता शीघ्र ही नष्ट हो जाया करती है और इस प्रकार से चित्त की मलिनता नष्ट होने पर भक्तिचित्त में भगवद्भाव का उदय होने लगता है। यही वैधी भक्ति के पादसेवन रूप अङ्ग का फल है।

वैधी भक्ति के पंचम अंग का नाम अर्चन है मिट्टी, पाषाण से आदि स्थूल मूर्ति बनाकर अथवा हृदय में मनोमयी मूर्त्ति बनाकर बाह्य और मानस पूजा का नाम अर्च्चन है। भक्ति के साथ इस प्रकार पूजा करने से भगवत्प्रसन्नता होती है, जिससे भावहृदय में भगवद्भाव का धीरे धीरे उदय होने लगता है। यथा गीता में–

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतं गृहणामि प्रयतात्मनः ।।

पत्र, पुष्प, फल या जल जो कुछ हो भक्ति के साथ अर्पण करने से मैं सादर ग्रहण करता हूँ। वैधी भक्ति के षष्ठ अङ्ग का नाम वन्दन है। श्रीभगवान् के चरणकमलों की वन्दना का नाम वन्दन है, जिसके द्वारा भक्त में अहंकारनाश और भगवद्भाव का उदय होता है। तदनन्तर दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नामक वौधी भक्ति के अन्तिम तीन अंगों का साधन भक्ति शास्त्र में विहित किया गया है। इन तीनों अंगों का वास्तविक विकास भक्ति की रागात्मिका दशा में होने पर भी वैधी तथा रागात्मिका की सन्धिदशा में अभ्यास के तौर पर रागात्मिका दशा की प्राप्ति के लिये इन तीनों का साधन होता है। दास्य भाव में श्रीभगवान् का दास बनकर उनकी सेवा के अभ्यास द्वारा अहङ्कार नाश और भक्तिप्राप्ति और सख्य भाव में उनके सखारूप से एकप्राणता प्राप्ति के अर्थ हार्दिक प्रयत्न के द्वारा भक्त हृदय में अवश्य ही भगवान् के प्रति पुण्यमय मधुर प्रेम का विकास होने लगता है। तदनन्तर वैधी भक्ति के अंतिम अंग आत्मनिवेदन भाव के अभ्यास द्वारा भक्ति की शारीरिक तथा मानसिक सकल चेष्टा भगवद्‌भावमयी ही हो जाती है, जिसके फल से भक्तहृदय में भगवान् के प्रति अपूर्व दिव्य राग का विकास हो जाता है। आत्मनिवेदन भाव के साधन के समय भक्त की चेष्टाएँ कैसी होती हैं, उसके विषय में शास्त्र में अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा– श्रीमद्‌भावगत में–

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।

करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ।।
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्यां रसनां तदर्पिते ।।
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः

आत्मनिवेदन भाव के उदय होने से साधक का अन्तःकरण भगवच्चरणारविन्द में, वाक्य भगवद्गुणगान में, हस्त उनके मंदिरों के मार्जन में, कर्ण भगवद्विषयिणी मधुर कथाओं के श्रवण में, दृष्टि उनकी मूर्ति के देखने में, शरीर उनके भक्तों के अंग स्पर्श में, घ्राणेन्द्रिय भगवच्चरणकमलों के सुगन्ध आघ्राण में, रसना उनमें समर्पित तुलसी के रस ग्रहण में, चरण उनके तीर्थक्षेत्रों के गमन में, मस्तक उनके चरणवन्दन में और काम विषयविलास में नियुक्त न होकर साधुजनों की तरह श्रीभगवान् की सेवा में ही नियुक्त होते हैं। यही वैधी भक्ति के नवधा विभक्त अङ्गों का साधन है। वैधीभक्ति के नौ भेदों का स्वरूप दिखाया गया। यह नौ साधन अथवा इनमें से कुछ कुछ साधन भक्ति योग के साधक शिष्य को श्रीगुरुदेव प्रथम उपदेश देते हैं और उसके विशेष विशेष साधनों का अभ्यास कराते हैं। इसी कारण इस दशा की भक्ति को वैधी कहते हैं। इस प्रकार साधन द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होने से साधक को क्या सिद्धि मिलती है सो नीचे बताया जाता है।

वैधीभक्तिके पूर्ण साधन से भगवत्कृपा प्राप्त, निशिदिन इष्टदेव के ध्यान में निमग्न भक्त का हृदयकमल विकसित होकर श्रीभगवान् के प्रति जिस समय उसमें तैलधारा की तरह अविश्रान्त और अपूर्व अमृतमयी प्रेमधारा का प्रवाह बहने लगता है, जिस प्रेमधारा के मधुर

अस्वादन से परितृप्त भगवान् भक्त के हृदयारविन्द में विराजमान होकर भक्तहृदय में निरन्तर आत्मरति, आनन्द और शान्ति का उदय कर दिया करते हैं, उसी निरन्तर बहने वाले भगवत् प्रेम का नाम रागात्मिका भक्ति है, यथा–दैवीमीमांसा में–

रसानुभाविकाऽऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका ।

भक्ति के जिस भाव से श्रीभगवान् के प्रति अपूर्वरस अर्थात् प्रेम का अनुभव होता है और जिस भाव में भक्तहृदय में आनन्द तथा शान्ति का उदय होता है, उसी का नाम रागात्मिका भक्ति है। भक्ति के इस भाव में श्रीभगवान् के प्रति साधक के चित्त की निरन्तर प्रीति बनी रहती है। जिस प्रकार नूतन आई हुई कुलवधू को पति के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिये उनकी सेवा की अनेक विधि प्रथमत: बताई जाती है परन्तु जिस समय पतिव्रता का प्रेम पति के प्रति उत्पन्न हो जाता है, उस समय वे स्वयं ही निशिदिन उस प्रेम में निमग्न रह कर विधि के बिना ही समस्त कर्तव्य को पालन कर दिया करती है, उसी प्रकार भक्ति की वैधी दशा में भगवान् के प्रति प्रेमाभ्यास के लिये श्रवणकीर्त्तनादि अनेक विधि की आवश्यकता होने पर भी भक्ति की रागात्मिका दशा में भगवान् के प्रति पतिप्राणा सती की तरह प्रेम हो जाने पर विधियों के अभ्यास का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है। भक्त भगवान् के प्रति पवित्र प्रेमबद्ध होकर उन्हीं के चरणकमल के मधुर ध्यान में अहर्निश निमग्न रहते हैं, जिससे उनके चित्त में दुःख-क्लेशहीन आनन्द और शान्ति की दिव्य ज्योति सदा ही प्रफुल्लित रहा करती है, यथा– भागवत में–

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यवाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ।।
भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दवाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो

नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ।।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ।।

श्रीभगवान् के प्रति मधुर प्रेमभाव को प्राप्त करके भक्तहृदय द्रवित हो जाता है, आनन्द से उनका अङ्ग पुलकित होने लगता है। वे अश्रुपूर्ण और गद्गद् कण्ठ होकर उन्हीं के चरणकमल में मनोरूपीभ्रमर को सदैव निमग्न रखते हैं। इस प्रकार भक्त के हृदय में अपूर्व आनन्द उत्पन्न होने से उनकी आँखों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगता है और वे श्रीभगवान् के प्रेम में उन्मत्त तथा विलीन होकर मुक्त-पुरुष की तरह अहम्भावशून्य हो जाते हैं। इस प्रकार से इष्टदेव के ध्यान में निमग्न भक्त को संसार के प्रति वैराग्य और भगवद्भाव की प्राप्ति होती है, जिससे साक्षात् परमा शान्ति भक्तहृदय में चिरकाल के लिये विराजमान हो जाती है।

भक्ति की रागात्मिका दशा में साधक की बाहरी चेष्टा कैसी रहती है, इस विषय में दैवीमीमांसादर्शन में कहा है–

''यतो मत्तस्तब्धात्मारामत्वम्''

इस प्रकार के भक्त को लोकलज्जा, लोकभय आदि कुछ भी नहीं रहता है। वे कभी भगवत्प्रेम में उन्मत्त होकर नृत्यगीतादि करते हैं, कभी कभी मधुपान में निमग्न भ्रमर की नाईं भगवान् के आनन्दामृत पान में मग्न होकर स्तब्ध रहते हैं और कभी बाह्यज्ञानशून्य होकर भीतर विराजमान परमात्मा के अलौकिक आनन्द में ही रमण करते हैं। रागात्मिका भक्ति के इन सब भावों के अनेक प्रमाण शास्त्र में मिलते हैं, यथा–नारदसूत्र में–

''अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'' ''मूकास्वादनवत्''

''शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च''

''गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्न

''सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्''
''तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृणोति''
''तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति''
''यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति''
''कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः
''पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च''
और भी श्रीमद्भागवत में-

वाग्गद्गदो द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च ।
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ।।
एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्त्या ।
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै–
र्हसत्यथो रोदिति रौति गाय–
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ।।
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्यनिर्वृताः ।।
क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ।।
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ।।
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ।।
निशम्य कर्मातिगुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रु गद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ।।

यदा ग्रहग्रहस्त इव क्वचिद्धस–
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ।।

भगवत्प्रेमोन्मत्त भक्त गद्गदवाणी और भक्ति-रस से द्रवित होकर कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं और कभी उन्मत्त की तरह निर्लज्ज होकर नाचते गाते हैं। इस प्रकार से भगवद्भक्त संसार को पवित्र करते हैं। उस समय उनकी लोकलज्जा आदि सभी वृत्ति लुप्त हो जाती हैं। वे भगवान् की चिन्ता से कभी कभी रोते रहते हैं, कभी उनके विषय में चर्चा करते रहते हैं और कभी आत्माराम होकर मौन हो रहते हैं। उस समय भगवत्प्रेमजनित आनन्दाश्रुओं के द्वारा उनकी आँखें भरकर निस्पन्द हो जाती हैं। श्रीभगवान् की मधुर गुणमयी कथाओं को तथा उनके विविध अवतारों की लीलाओं को सुनकर भक्त हृदय पुलकित और गद्गद हो जाता है, वे उच्च स्वर से गाते, रोते और नाचते हैं। उस समय लौकिक दृष्टि में उनकी चेष्टा बिल्कुल पागल की तरह होती है, वे भगवान् का ध्यान करते हैं, संसार को उनका रूप जानकर समस्त जीवों को प्रणाम करते हैं और पुनः पुनः दीर्घ श्वास त्याग करते हुए निर्लज्ज और आत्ममति हो करके हे हरे, हे जगत्पते, हे नारायण इत्यादि रूप से कहा करते हैं। उस समय उनके चित्त की सकल कामना नष्ट हो जाती है। काम क्रोधादि समस्त वृत्तियां समुद्र में विलीन नदियों की तरह भगवत्प्रेमसमुद्र में विलीन हो जाती है, यथा, नारदसूत्र में–

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।

समस्त कर्मों को श्रीभगवान् में समर्पण करके काम, क्रोध, अभिमान आदि उन्हीं के प्रति करना चाहिए। भक्ति के उपरोक्त रागात्मिका दशा में भक्त ऐसा ही करते हैं। उनका काम भक्तप्रेम की कामना में, उनका क्रोध कुभावों के दमन में और उनका अभिमान भगवान् के प्रति एकात्मरति के अभिमान में चरितार्थ हो जाता है, जिसके फल से भक्त के हृदय कमल में निशिदिन आनन्द-कन्द सच्चिदानन्द की मधुर परमा

स्थिति विराजमान रहती है। वे जब चाहते हैं और प्रार्थना करते हैं, तभी इष्टदेव भगवान् की भावमयी स्थूल मूर्त्ति को स्थूल और मानस नेत्र के सामने देख सकते हैं। भक्तशिरोमणि प्रह्लाद, ध्रुव आदि को रागात्मिका भक्ति की इस दशा में ही श्रीभगवान् की अनन्त सुन्दर मधुर मूर्ति का दर्शन हुआ था, यथा-श्रीमद्भागवत में–

अजातपक्षा इव मातरं खगा
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ।।
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ।।

भक्त भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं– "हे कमल लोचन! जिस प्रकार पंखहीन पशुपक्षी अपनी माता के दर्शन के लिये लालायित रहते हैं, जिस प्रकार क्षुधाकातर शिशु मातृस्तनपान के लिये व्यग्र रहते हैं और जिस प्रकार प्रवासी पति के सन्दर्शन के लिये प्रियतमा स्त्री का चित्त सदैव व्याकुल रहता है, उसी प्रकार मेरा चित्त सदा ही आपके दर्शन के लिये लालायित रहता है।" इस प्रकार श्रीभगवान् के दर्शन के लिये जब रागात्मिका भक्तियुक्त भक्त का चित्त लालायित होता है, तभी उनको श्रीभगवान् का दर्शन होता है, जैसा कि परवर्ती श्लोक में कहा गया है, यथा– इस प्रकार भगवद्भक्त महात्मा प्रसन्न वदन, अरुण नेत्र, दिव्यरूपधारी, वरप्रदाता श्रीभगवान् का दर्शन करते हैं और उनके साथ प्रिय मधुर आलाप करते हैं। इस प्रकार भगवद्दर्शन का क्या फल होता है? इसके उत्तर में श्रीमद्भागवत में कहा है–

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्विषः
स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।

प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम् ।।
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ।।

श्रीभगवान् के दर्शन से समस्त पापसमूह विनष्ट हो जाता है, हृदय में शान्ति और पवित्रता की मन्दाकिनी बहने लगती है। भक्त भगवान् के चरणकमल की शरण ले लेते हैं और अत्यन्त भक्ति से प्रेमाश्रुपूर्ण और रोमाञ्च युक्त होकर श्रीभगवान् को पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। शान्तस्वरूप श्रीभगवान् में आसक्तचित्त इस प्रकार के भक्त को किसी लोक में भी सुख का अभाव नहीं होता है। सदा भ्रमणकारी कालचक्र कभी उनको ग्रास नहीं कर सकता है। वे श्रीभगवान् के साथ प्रिय, आत्मा, वात्सल्य, सखा, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव भाव से मधुर रागमूलक प्रेम में आसक्त रहते हैं। श्रीभगवान् के प्रति इस प्रकार पवित्र प्रेम होने से समस्त संसार साधक के लिये आनन्द-कानन बन जाता है। वे जगत् में सर्वत्र ही भगवत्प्रेम का उल्लास देखने लगते हैं। उनकी दृष्टि में समुद्र तरङ्ग में प्रेम का नृत्य, नदी के प्रवाह में प्रेम का प्रवाह, पवन के सञ्चालन में उनकी करुणा का प्रवाह, पुष्पों के विकास में आत्मानन्द की लहरी लीला, सुधाकर के मुख में प्रेमसुधामय मधुर हास्य, नक्षत्र मण्डल में प्रेमानन्द की अनन्तविलासमयी निर्झरिणी (झरना) भ्रमरगुंजार में प्रेम का गुंजार, जगच्चक्र की नित्य गति में प्रेममयी प्रकृतिमाता की अनन्तानन्दसमुद्र की ओर तीर्थयात्रा तथा जगज्जीवों की निखिल चेष्टाओं में प्रेममय भगवान् की पवित्र पूजा दिखाई देने लगती है। इस प्रकार पवित्र भाव में मग्न होकर ही ब्रजगोपिकाओं ने कहा था, यथा, श्रीमद्भागवत में–

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।

गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वयरतान्यसमस्तसत्त्वम् ।।
धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ।।
गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत–
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु–
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ।।
प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजां रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ।।
नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत–
मावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्म्मिभुजैर्मुरारे–
र्गृहणन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ।।
दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ।।
हन्तायमद्रिरवला हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयबसकन्दरकन्दमूलैः ।।
गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार–
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ।।

गोपिकाएँ कह रही हैं "हे सखि! वृन्दावन की शोभा दिव्यलोकों से अधिक बढ़ी हुई है; क्योंकि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र के चरणकमलों के द्वारा यहाँ पर अपूर्व शोभासम्पत्ति प्राप्त हुई है। गोविन्द के मधुर गम्भीर वंशीनाद को श्रवण करके मयूरगण उसे नीलमेघ का गर्ज्जन समझकर नृत्य कर रहे हैं और उसी नृत्य को पर्वत के अन्यान्य जीव निश्चेष्ट और शान्त होकर देख रहे हैं। धन्य हैं वे सब मृगस्त्रियां जो पशु होने पर भी विचित्रवेशधारी नन्दनन्दन की मधुर वंशी ध्वनि को सुनकर निज निज पति के साथ प्रणयपूर्वक नेत्रकमलों के द्वारा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र की पूजा कर रही हैं। देखिए गौएँ श्रीभगवान् के वंशीनादरूपी अमृत को कान ऊँचा करके पी रही हैं और उनके वत्सगण मातृस्तनपान करते करते इस बीच में श्रीभगवान् के वंशीनादामृत-पानमुग्ध होकर मातृस्तनपान करना भूल रहे हैं। उनका ग्रास मातृस्तन में ऐसा ही धरा हुआ है। इस प्रकार से दृष्टि के द्वारा आनन्दकन्द गोविन्द को हृदय में आलिङ्गन करके वत्सगण के साथ गोमाताएँ अश्रुपूर्णनेत्रा होकर वंशीनादरूपी अमृत के पान से मुग्ध हो रही हैं। हे मात:! वृन्दावन के समस्त पक्षी गोविन्द की कृपा से मुनियों के जीवन को प्राप्त हो रहे हैं क्योंकि जिस प्रकार कर्मफलत्याग करके सत्कर्मरूपी पत्र से सुशोभित वेदवृक्ष पर आरूढ़ होकर मुनिगण श्रीभगवान् का सन्दर्शन और मधुर प्रणव का नाद श्रवण करते हैं। उसी प्रकार वृन्दावन के पक्षिगण पुष्पफलों के बिना भी केवल कोमल सुन्दर पत्रों से ही सुशोभित वृक्षों पर बैठकर आनन्द से आँखें मींचकर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र का दर्शन और उनकी मधुर वंशी का श्रवण कर रहे हैं। चेतन जीवों की बात ही क्या है, देखिये अचेतन नदी भी मुकुन्द के मधुर वंशीगान को सुनकर जलभ्रम के रूप से रति के वेग को बता रही है और उनके आलिङ्गन में मुग्धा होकर तरङ्ग रूपी भुजाओं के द्वारा उनके चरणयुगल में कमलों का उपहार प्रदान कर रही है। अचेतन मेघ भी श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि से प्रफुल्लित होकर बलराम,

गोपबालक और ब्रजपशुओं के साथ भ्रमण करने वाले श्रीकृष्णचन्द्र के ऊपर धूप निवारण के लिये अपने शरीररूपी छत्र को धारण कर रहे हैं। देखिये अत्यन्त आनन्द का विषय है कि, यह अचेतन गोवर्द्धन पर्वत भी श्रीहरि के समस्त भक्तों के में श्रेष्ठ है; क्योंकि इसके शरीर पर के तृणसमूह रामकृष्णचरणकमलस्पर्शसुख से रोमाञ्चन की तरह विकास को प्राप्त हो रहे हैं और वे गोवर्द्धन पानीय जल, कोमल तृण, कन्दर तथा कन्दमूल फलों के द्वारा श्रीकृष्ण, बलराम, उनके सखा गण तथा गौओं का परम सत्कार कर रहे हैं। हे सखिगण! यह बड़ी ही विचित्र बात है कि गोपबालकों के साथ गौओं के चराने वाले रामकृष्ण के मधुर भ्रमण तथा वेणुवाद के द्वारा शरीरियों में जो गतिशील हैं, वे तो गति छोड़कर स्थावरधर्मी हो रहे हैं और वृक्षादि जो स्थावरधर्मी हैं वे रोमाञ्चन के द्वारा जङ्गमजीवों के धर्म को प्राप्त हो रहे हैं। रागात्मिका भक्ति की इस दशा में भक्त और भगवान् की परम घनिष्ठता हो जाती है। भक्त भगवान् के साथ प्रियतम सखा और आदर की आत्मीय वस्तु की नाईं हंसते खेलते रहते हैं, उनपर सब प्रकार का जोर तथा मान करते हैं और भक्तवत्सल भगवान् भी उन सब मान और प्यार के लक्षणों को आनन्द के साथ सहन करते रहते हैं। इसी आत्मीयतामूलक जोर के साथ ही जिस समय श्रीभगवान् ने भक्त सूरदास से अपना हाथ छुड़ा लिया था, उस समय सूरदास ने कहा था–

हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलादिति किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ।।

हे भगवान्! तुम हाथ छुड़ा के जाते हो, इसमें तुम्हारा पौरुष क्या है। यदि हृदय छोड़ के जा सको, तभी तुम्हारा पौरुष मानूंगा। इसी प्रणयमूलक जोर और अहङ्कार के साथ भक्त उदयनाचार्य ने कहा था–

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्चसे ।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ।।

हे भगवन्! तुम ऐश्वर्य के मद से उन्नत्त होकर मेरी अवज्ञा करते हो और दर्शन नहीं देते हो, परन्तु स्मरण रखो कि जब बौद्धलोग आकर तुम्हारी सत्ता के नाश के लिये उद्यत होंगे, तब तुम्हें मेरे ही अधीन होना

पड़ेगा; क्योंकि उस समय में ही नास्तिक बौद्ध मत का खण्डन करके तुम्हारी सत्ता की रक्षा करूँगा। यही रागयुक्त भक्त का श्रीभगवान् के प्रति प्रेम तथा घनिष्ठतामूलक सच्चा भाव है। भक्तहृदय में इस प्रकार प्रेमभाव के उदय होने पर भक्तवत्सल भगवान् उनके अधीन हो जाते हैं, यथा, श्रीमद्भागवत में–

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।।
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा।।
ये दारागार - पुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे।।
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।।
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।।

श्रीभगवान् कह रहे हैं "मैं भक्तों के अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरे हृदय पर साधु भक्तों का सम्पूर्ण अधिकार है, मेरे भक्त साधुओं के बिना मैं अपनी आत्मा को तथा परमा श्री को भी नहीं चाहता हूँ, मैं साधुओं की ही परम गति हूँ, जिन महात्माओं ने स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादि तथा परलोक की सुखेच्छा को भी छोड़कर मेरा आश्रय लिया हुआ है, उनको मैं किस प्रकार से त्याग सकता हूँ? जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिप्रेम के द्वारा निज पति को वश किया करती है, उसी प्रकार समदर्शी साधुगण भी मुझमें हृदय को बांध कर मुझे वशीभूत कर लेते हैं, साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओं का हृदय हूँ, वे सिवाय मेरे और कुछ भी नहीं जानते हैं और मैं भी उनके सिवाय और कुछ भी नहीं जानता हूँ।" यही भक्ति की रागदशा में भक्त तथा भगवान् का पारस्परिक प्रेम सम्बन्ध है। श्रीभगवान् के प्रति इस प्रकार पवित्र रागमूलक भाव के द्वारा भक्त आध्यात्मिक भूमि में शीघ्र ही विशेष उन्नति लाभ करते हैं।

इसी प्रकार के जगत् पवित्रकारी भक्तिरस-सागर में उन्मज्जन करने वाले भक्त भारतवर्ष में समय समय पर विष्णु उपासक, शक्ति उपासक, शिवोपासक, गणपति-उपासक और सूर्योपासक आदि सब उपासक-सम्प्रदायों में प्रकट हुए हैं, जिनकी महिमा उक्त सम्प्रदायों के पुराणों में वर्णित है। प्रकृति के वैचित्र्यानुसार भाव का भी वैचित्र्य होने से ऊपर लिखित राग किन किन भावों से भक्त के द्वारा विकास को प्राप्त होता है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

भावमय दृश्यसंसार चतुर्दशभाग में विभक्त होने से भावमूलक भक्तिरस भी चतुर्दश प्रकार के होते हैं। प्रकृति की स्वाभाविक विचित्रता चतुर्दश प्रकार से ही प्रकट होती है। इसलिये भक्तिराज्य के जीवों में स्वभावतः ही चतुर्दश प्रकार के भक्तिभाव देखने में आते हैं, यथा दैवीमीमांसादर्शन में–

''रसानुभवश्चतुर्दशविधस्तत्र सप्तगौणाः सप्त मुख्याः ।
हास्यादयो गौणाः, दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-कान्तासक्ति-
वात्सल्यासक्ति-आत्मनिवेदनासक्ति-गुणकीर्तनासक्ति-
तन्मयासक्तयश्च मुख्याः''

श्रीभगवान् के प्रति प्रीतिमूलक रस का बोध चतुर्दश प्रकार से होता है। उसमें सप्तरस गौण हैं और सप्त मुख्य हैं। हास्य आदि रस गौण हैं और दास्य, सख्य आदि रस मुख्य हैं। भक्तिमार्ग के प्रवर्त्तक दार्शनिक आचार्यों ने सृष्टि प्रवाह को शृङ्गारात्मक माना है। सृष्टि लीला परम पुरुष तथा प्रकृति माता के संयोग से होने के कारण वह शृङ्गारात्मक है, इसमें सन्देह नहीं। श्रुति में वर्णन है–

''आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत
जाया मे स्यादथ प्रजायेय'' ''स तपस्तप्त्वा मिथुनमैच्छत्''

सृष्टि के पहले परमात्मा एकाकी थे, उन्होंने सृष्टि की इच्छा करके जाया की कामना की, जिससे प्रजा की उत्पत्ति हो सके। आत्मा ने तपस्या करके प्रकृति के साथ संयुक्त होकर सृष्टि की इच्छा की। पुराण में लिखा है–

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव ह ।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता ।।
दृष्ट्वा तां तु तया सार्धं रासेशो रासमण्डले ।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीडां चकार ह ।।
नानाप्रकारशृङ्गारं शृङ्गारो मूर्त्तिमानिव ।
चकार सुखसम्भोगं यावद्वै ब्रह्मणो दिनम् ।।
अथ सा कृष्णाचिच्छक्तिः कृष्णागर्भं दधार ह ।
शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा ।।
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी ।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाभं विश्वाधारालयं परम् ।।

परमात्मा ने सृष्टि विस्तार के लिये योगबल से अपने शरीर को द्विधा विभक्त किया। उसमें से दक्षिण का अर्द्धङ्ग पुरुष और वाम अर्द्धाङ्ग स्त्री बना है। परमात्मा ने अपनी अर्द्धाङ्गरूपिणी उस स्त्री के साथ रासलीला रूप से बहुकाल तक नानाप्रकार शृङ्गार-मूलक सम्बन्ध किया। उसी शृङ्गार के फल से भगवच्छक्तिरूपिणी प्रकृतिमाता ने शतमन्वन्तर तक ब्रह्मतेजपूर्ण गर्भधारण किया और पश्चात् उसी गर्भ से समस्त संसार की उत्पत्ति हुई। उसी परम पुरुष और मूलप्रकृति की शृङ्गारमयी सृष्टि को चौदह भागों में विभक्त देखकर आचार्यों ने रसमय जगत् को चौदह भागों में विभक्त किया है। भक्तिशास्त्र के अनुसार वे ही चौदह रस हैं, जिनमें से सात रस गौण और सात मुख्य माने जाते हैं। इन दोनों प्रकार के रसों के द्वारा उन्नति-लाभ के विषय में दैवीमीमांसादर्शन में लिखा है–

परा मुख्यरससन्निकर्षादुन्नतिस्तु सर्वरसाश्रया ।

दास्यादि मुख्य रसों के द्वारा ही पराभक्तिलाभ हुआ करता है, परन्तु उन्नति मुख्य गौण सभी रसों के द्वारा होती है। श्रीभगवान् रसरूप होने से उनकी ही सत्ता से विकास प्राप्त मुख्य और गौण सकल रसों के भीतर उनकी आनन्दसत्ता विद्यमान है। इसलिये सकल रसों के द्वारा ही उन्नतिलाभ हुआ करता है। केवल दोनों में भेद इतना ही है कि हास्य, वीभत्स आदि गौण रसों के साथ स्थूलविषयों का सम्बन्ध रहने से तथा

उनके आधार के मलिन शृङ्गारमय होने से गौण रस के द्वारा अद्वैत भावमय निर्विकल्पसमाधिप्रद पराभक्तिलाभ नहीं हुआ करता है, उनके द्वारा भक्तिराज्य में उन्नति और अन्त में सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो सकती है; परन्तु दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति आदि सप्त मुख्य रसों का फल इस प्रकार का नहीं है; क्योंकि इन रसों के आधार शुद्ध शृङ्गारमय होने से तथा इनके साथ बहिर्विषयों का सम्बन्ध नहीं रहने से उन सभों के द्वारा साक्षात् रूप से पराभक्तिलाभ हुआ करता है।

अब नीचे गौण और मुख्य दोनों रसों के ही विविध भावों का वर्णन किया जाता है। गौण रस के सात भाव हैं, यथा–हास्य, वीर, करुणा, अद्भुत, भयानक, वीभत्स और रौद्र। भक्त अपनी प्रकृति के अनुसार कहीं वीर भाव से, कहीं करुण भाव से, कहीं रौद्र भाव से और कहीं हास्य आदि रस के साथ श्रीभगवान् में अपने चित्त को लवलीन करता है, जिसके परिणाम में तन्मयता उत्पन्न होकर भक्त को भक्तिराज्य में उन्नतिलाभ हुआ करता है। कुरुक्षेत्र के रणस्थल में श्रीभगवान् का प्रतिज्ञाभङ्ग कराकर उनके भक्तवत्सल नाम को जगज्जनों के सामने प्रकट कर देने के लिये भीष्मपितामह का जो कृष्णसखा अर्जुन के साथ घोर संग्राम का भाव था, जिस भाव के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी प्रतिज्ञा तक को भंग करनी पड़ी थी, वह भाव वीर रस का एक अति मधुर दृष्टान्त है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र के ब्रजधाम में रहते समय जिस भाव के द्वारा गोप बालकगण उनसे मिलते और वयस्क की तरह हँसते खेलते थे वह भाव हास्य रस का है। इन सब भावों के अन्यान्य अनेक दृष्टान्त भक्तिशास्त्र में पाये जाते हैं, यथा–

शृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे ।
बर्भित्सी तस्य गर्भे ब्रजकुलतनयाचैलचौर्ये प्रहासी ।।
वीरो दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमीदामबन्धे स जीयात् ।।
भैष्मीराधादिरूपेषु शृंगारः परमोज्ज्वलः ।
भीष्मो वीरे दशरथः करुणे स्थितिमाप्तवान् ।।

बल्यर्ज्जुनयशोदानां विश्वरूपस्य दर्शने ।
अत्यद्भुतरसास्वादः कृष्णानुग्रहतो भवेत् ।।
गोपालबाला हासस्य श्रीदामोद्वहनादिषु ।
एवमन्यत्र भीत्यादित्रितयेऽपि विचिन्त्यताम् ।।

इन सब श्लोकों के द्वारा गौणरस के विविध दृष्टान्त बताये गये हैं, यथा- राधिका में शृङ्गार रस, सखियों में करुण रस, अघासुर बकासुर के मारने में वीभत्स रस, गोपियों के वस्त्र हरण में हास्य रस, दैत्यों में वीर रस, इन्द्र के रुष्ट होने में रौद्र रस, माखन चोरी में विचित्र रस, भीष्म में वीर रस, बलि अर्जुन तथा यशोदा को विश्वरूपदर्शन में अद्भुत रस, गोपाल बालकों में हास्य रस इत्यादि सभी गौण रस के सिद्धान्त हैं। इन सब रसों के गौण होने पर भी इनके द्वारा उन्नति और सालोक्यादि मुक्ति किस प्रकार से होती है इसके उत्तर में श्रीमद्भागवत में कहा है-

उक्तं पुरस्तादेतत् ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ।।
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।।
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ।।

जिस प्रकार श्रीभगवान् के प्रति द्वेषबुद्धि से आसक्त होने पर भी चेदिराज शिशुपाल की मुक्ति हो गई थी, उसी प्रकार गौण रस के साधन से भक्तों को मुक्ति मिलती है। श्रीभगवान् के प्रति काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहृद आदि किसी भाव के द्वारा भी अनुरक्त होने से श्रीभगवान् की अलौकिक शक्ति के बल से उसी भाव में ही भक्त को तन्मयताप्राप्ति हो जाती है और भगवद्भाव में तन्मयता प्राप्ति होकर मृत्यु होने से भगवल्लोकप्राप्ति अवश्य ही होती है; क्योंकि गीताजी में लिखा है-

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति कौन्तेय तदा तद्भावभावितः ।।

जिस भाव को स्मरण करके भक्त प्राण को छोड़ता है, परलोक में उसी के अनुसार गति मिलती है। अत: किसी भी गौणरस के अवलम्बन में इष्टदेव में तन्मय होकर शरीर त्याग होने से उन्नति तथा सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त अवश्य ही होगी, इसमें सन्देह क्या? यही हास्य, करुणा आदि सप्त गौणरस का स्वरूप और फल है। अब रागात्मिका भक्ति के अन्तर्गत सप्त मुख्यरसों का वर्णन किया जाता है। उनके नाम, यथा–दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति तथा तन्मयासक्ति। श्रीभगवान् के प्रति मधुर राग का विकास होने से भक्त निज निज प्रकृति के अनुसार कहीं दास भाव से, कहीं सखा भाव से, कहीं कान्ता आदि भाव से उनके साथ प्रेम करते हैं और इन सब प्रीतियों के साथ लौकिक भाव का नाममात्र भी न होने से इस प्रकार प्रेमप्रवाह में मग्न हो करके भक्तहृदय भावग्राही भगवान् के उदार आनन्दमय भाव में तन्मयता प्राप्त हो जाता है और तदनन्तर तन्मयभाव की पूर्ण दशा में निर्विकल्प समाधि का उदय होकर सर्वत्र वासुदेवात्मक अद्वैत ब्रह्ममय जगत् का दर्शन होता है। यही शुद्धराग का लक्ष्य और चरम फल है। अब नीचे संक्षेप से प्रत्येक भाव का स्वरूप तथा परिणाम बताया जाता है।

रागात्मिका भक्ति के दासभाव में प्रभुभक्त दास की तरह अपने शरीर, मन, प्राण और आत्मा के द्वारा श्रीभगवान् तथा उनके विराट्रूप संसार की सेवा करते हैं। उनके शरीर, मन, प्राण के द्वारा जो कुछ अनुष्ठित होता है, सभी श्री भगवान् के प्रीत्यर्थ और सेवा के लिये होता है। इस भाव के विषय में श्रीमद्भावगत में लिखा है–

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ।।

श्रीभगवान् के साथ दास्यभाव में आसक्त भक्त की वाणी श्रीभगवान् के गुणानुगान में ही नियुक्त रहती है, उनकी श्रवणेन्द्रिय

श्रीभगवान् की लीलाकथाओं के सुनने में ही लगी रहती है, उनके हस्त भगवत्कार्य में ही लगे रहते हैं, उनका अन्तःकरण मुकुन्दचरणारविन्द के स्मरण में ही निविष्ट रहता है, उनका मस्तक श्रीभगवान् के निवासस्थान जगज्जनों को प्रणाम करने में ही नियुक्त रहता है और उनकी दृष्टि भगवद्रूप भक्तों के दर्शन में ही लगी रहती है। इस प्रकार से दासभावयुक्त भक्त का शरीर मन प्राण भगवत्सेवा में निशिदिन निविष्ट रहता है। जिस कार्य के साथ भगवत्सेवा का सम्बन्ध नहीं होता वह कार्य उनके चित्त में कभी स्थान नहीं पाता है। श्रीभगवान् ने कहा है–

''मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः''

भगवद्भक्त के जो भक्त हैं, वे मेरे श्रेष्ठतम भक्त हैं। इसलिये दासभक्त श्रीभगवान् के भक्तों की सेवा करते हैं। श्रीभगवान् ने कहा है–

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जयः ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ।।
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयत् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।।

''मेरे से पृथक् संसार में कोई भी वस्तु नहीं है, सूत्र में गुंथे हुए मणियों की तरह समस्त संसार मुझमें ही ओतप्रोत है। इसलिये मेरे रूप समस्त जीवों की प्रीति के साथ पूजा करनी चाहिए। ईश्वर ही जीवरूप से समस्त संसार में व्याप्त है। इसलिये समस्त जीवों की सेवा करनी चाहिए।'' श्रीभगवान् की इसी आज्ञा को हृदयङ्गम करके दास भक्त जगत्सेवा में सदा प्रवृत्त रहता है। इसी प्रकार से दासभाव के द्वारा अपना सर्वस्व श्रीभगवान् की सेवा में समर्पण करने से भक्त का जीवभावजनित अहङ्कार समूल नाश को प्राप्त हो जाता है, जिसके फल से भक्त को जीवभाव के अवसान में भगवद्भावप्रद पराभक्ति का लाभ होता है। यही दास्यासक्ति का स्वरूप और परिणाम है। भक्तिशास्त्र में ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर, उद्धव, हनुमान् आदि भक्तों की प्रीति श्रीभगवान् के प्रति दास्यमूलकभाव थी, जिसके फल से उन सभी

को निज निज अधिकारानुसार सद्गति प्राप्त हुई थी। इसके अनेक वर्णन पुराणों में पाये जाते हैं।

रागात्मिका भक्ति के सख्यभाव में भक्त "गोविन्द मेरा सखा है, मेरा प्राण है" इस प्रकार से अपने प्राणप्रियतम भगवान् के साथ अन्तरङ्ग भाव मूलक घनिष्ठता के साथ सखारूप से प्रेम करते हैं। उनकी अन्यचिन्ता और अन्य समस्त कार्य नष्ट होकर केवल प्रियतम का आनन्दविधान कार्य ही जीवन का व्रत हो जाता है। उनके लिये संसार की शान्ति और आनन्द प्रियतम भगवान् के सम्पर्क से ही अनुभवगम्य होने लगता है। सुन्दर वस्तु उनके लिये सुन्दर तभी है, जब प्राणसखा उसे पसन्द करे, उपादेय वस्तु उपादेय तभी है, जब प्राणसखा की उससे परितृप्ति हो, जगत् नन्दनकानन तभी है, जब प्राणसखा उसमें विहार करे। जहाँ पर श्रीभगवान् का सम्पर्क नहीं है वह वस्तु या वह स्थान अनुरागपरायण सख्यभावासक्त भक्त के लिये अति तुच्छ है। उनकी दृष्टि में सुधाकर की सुधाधारा प्रियसखा भगवान् की प्रेमधारा रूप से ही बहा करती है। उनकी दृष्टि में प्रभाकर की प्रचण्ड ज्योति प्राणसखा की ही प्राणशक्ति रूप से समस्त संसार को अनुप्राणित किया करती है। उनकी दृष्टि में कुसुमों का अनन्त विलास सखा के ही विविध रागमय हास्य विलास रूप से संसार को शोभान्वित कर रहा है। उनका क्रोध पवन के तीव्र प्रवाहरूप से, व्रज के भीषण गर्ज्जनरूप से, उनका दुःख अमावस्या के अन्धकार रूप से, विपत्ति वायु के दीर्घनिश्वासरूप से, समस्त जगत् को शोभित कर देता है। इस प्रकार से सख्यभावनिविष्ट भक्त धीरे धीरे विश्वप्राण परमात्मा के साथ व्यापकरूप से अपनी एकप्राणता का सम्पादन किया करते हैं। केवल यही बात नहीं, सख्यभाव में श्रीभगवान् के साथ भक्त का लौकिकसख्यतामूलक उपहास क्रीड़ादि भी चलता रहता है। श्रीभगवान् कृष्ण के साथ सख्यभावासक्त अर्ज्जुन के जीवन में भी इस प्रकार लौकिक भावों का समावेश था, जिसके लिये विश्वरूप-दर्शनस्तम्भित अर्ज्जुन ने क्षमा भी मांगी है, यथा, गीता में-

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति ।

अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।

हे अच्युत भगवान्! मैंने सखा समझ कर प्रमाद या प्रणय से आपकी महिमा को न जानकर, हे कृष्ण! हे सखा! आदि जो कुछ सामान्य सम्बोधन या अवज्ञासूचक वाक्य कहा है और आपके विहार, शय्या, आसन, भोजनादिकों में उपहासरूप से एकाकी अथवा अन्य के सामने जो कुछ असत्कार का कार्य किया है कृपया उन सभी को क्षमा करें। इस प्रकार श्रीभगवान् के साथ सखारूप से एकप्राणता होने पर भाव की पूर्णता में सर्वत्र ही भक्त को भगवद्भाव का अनुभव होने लगता है। यही सख्यासक्ति का पराभक्तिप्रद मधुर परिणाम है।

शुद्ध अनुराग के तृतीय भाव का नाम वात्सल्यासक्ति है। इस भाव में भक्त भगवान् के साथ पुत्रभाव से प्रेम करते हैं। इस भाव की एक विशेषता यह है कि, इसमें श्रीभगवान् की सर्वशक्तिमत्ता और लोकोत्तर चमत्कारिता भक्तचित्त में विद्यमान रहने पर भी आसक्ति में वात्सल्यरस की अधिकता होने के कारण भक्त के क्रियासमूह में लौकिक पिता-पुत्र का सम्बन्ध और भाव बना रहता है। कदाचित् श्रीभगवान् के अलौकिक भाव की स्मृति और चित्त पर प्रभाव के कारण वात्सल्य के बदले श्रद्धायुक्त भक्ति के उदय होने पर भी इस भाव की स्थिति और क्रियारूप में प्रकाश बहुत देर तक नहीं रहता है और पुनः वात्सल्यभाव का उदय होकर तदनुरूप प्रेम और चेष्टा के प्रवाह में भक्त को डाल दिया करता है। इसी भाव में मुग्ध होकर किसी भक्त ने कहा था–

एह्येहि वत्स नवनीरदकोमलाङ्ग
चुम्बामि मूर्द्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।

आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वंदेऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ।।

हे नवीन मेघ सदृश कोमलाङ्ग वत्स! आओ, आओ मैं पुत्रभाव से तुम्हारा शिरश्चुम्बन और तुम्हें आलिङ्गन करूँ, तुम्हें सदा हृदय में धारण कर रखूँ अथवा तुम्हारे चरणकमल की पूजा करूँ। यही वात्सल्ययुक्त भक्त का गौरव और स्नेहयुक्त परस्पर विरोधी भाव है। यशोदा, नन्द आदि में यही भाव श्रीभगवान् के प्रति था, जिससे विश्वरूप और श्रीभगवान् की अलौकिक लीलाओं के देखने से उनमें श्रीभगवान् के प्रति गौरव भाव का क्षणिक विकास और पूज्यबुद्धि होने पर भी परक्षण में ही वात्सल्य भाव का उदय होकर गौरवबुद्धि लुप्त हो जाती थी।

वात्सल्य भावपरायण भक्त श्रीभगवान् को अपने प्रिय बालक की तरह देखते हैं और उनके खिलाने और अपने भावानुसार सेवा करने में ही निशिदिन रत रहते हैं। उनके प्रिय वस्तुओं का संग्रह, अप्रिय वस्तुओं का परित्याग, उनके हृदय के साथ सदा ही अपना हृदय मिला रखना इत्यादि आत्मजसुलभ भाव वात्सल्यासक्ति का लक्षण है। इस प्रकार भक्त की दृष्टि में समस्त संसार के जीव भी श्रीभगवान् के ही रूप होने से परम प्रीति और वत्सलता के पात्र बन जाते हैं, जिससे उनके हृदय का प्रेमप्रवाह शतमुखी गङ्गा की तरह गोविन्दरूप समस्त संसार में तथा संसाररूप गोविन्द में परिव्याप्त होकर उनको पराभक्ति का अधिकारी कर दिया करता है। यही वात्सल्यभाव का लक्षण और मधुर परिणाम है।

अनुराग के चतुर्थ भाव का नाम कान्तासक्ति है। पतिप्राणा सती स्त्री जिस प्रकार शरीर, मन, प्राण और आत्मा से पति के साथ प्रेम और उन्हीं में सर्वस्व समर्पण करती है, कान्तासक्ति की अवस्था में भक्त हृदय में श्रीभगवान् के प्रति ऐसा ही भाव होता है। उनके चित्त में सिवाय भगवान् की चिन्ता और ध्यान के और किसी वस्तु की चिन्ता तथा ध्यान

नहीं रहता है। उनके शरीर, मन और प्राण द्वारा भगवत्सेवा के सिवाय और कोई भी कार्यानुष्ठान नहीं हो सकता है। उनकी जीवनतरणी श्रीभगवान् को ही ध्रुवतारा जानकर उनके ही प्रेमसमुद्र में बहने लगती है, उसका और कोई भी लक्ष्य, कोई भी पन्थ नहीं रहता है। इस प्रकार भक्त से अनुराग के विषय में श्रीभगवान् ने कहा है–

मच्चित्ता मद्गताप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।

इस प्रकार अपूर्व अनुराग युक्त भक्त मेरे में ही मन:प्राण को बांध कर मेरे विषय में ही ध्यान, चिन्तन और आलाप करते हुए निशिदिन मेरे में ही रमण करते रहते हैं। इस प्रकार प्रेम के विषय में महर्षि शाण्डिल्यजी ने अपने दर्शन में कहा है–

एतदेव तद्भावाद्वल्लभीनाम् ।

शास्त्रादि ज्ञान न होने पर भी व्रजगोपिकाओं में उस प्रकार अपूर्व कान्तासक्ति का विकास हुआ था। गोपियों ने वेद वेदान्त का अध्ययन तथा ज्ञानचर्चा नहीं की थी परन्तु केवल श्रीकृष्ण चरणारविन्द में परम अनुराग और एकप्राणता के द्वारा ही परमगति को प्राप्त हो गई थीं। उन्होंने लोकलज्जा, गृहधर्म आदि समस्त का परित्याग करके श्यामप्रेमसिन्धु में अपनी जीवनतरणी को अनन्यशरण होकर डाल दिया था और अत्यन्त विरह के तीव्रतापानल में पुनः पुनः दग्ध संसार के समस्त मनुष्यों से सदा अवमानित तथा तिरस्कृत होने पर भी मेघबिन्दुपानप्रिय चातकिनी की तरह नवघनश्याम श्रीकृष्ण की ही प्रेमसुधा पान के लिये समस्त संसार के सकल प्रकार के प्रेम को तुच्छ कर दिया था, जिसके फल से श्रीभगवान् केवल उनके प्रति प्रसन्न ही नहीं हुए थे अधिकन्तु उनके प्रेम के लिये अपने को चिरऋणपाशबद्ध मानते थे, यथा, श्रीमद्भागवत में–

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।

या मा भजन् दुर्ज्जरगेहश्रृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ।।

"हे सखिगण! आप लोगों ने जिस पवित्र प्रेम के साथ मेरे में अनुरागयुक्त होकर कठिन संसारशृंखला को भी छेदन कर दिया है, यदि देवताओं की भी आयु प्राप्त हो, तो भी मैं उस पवित्र प्रेमऋण का शोध नहीं कर सकूँगा। इस लिये आप लोगों की साधुशीलता ही मुझे ऋणमुक्त करे।" गोपियों के प्रेममय जीवन के विषय में इस पुस्तक के प्रथम खण्ड के पुराण प्रकरण में बहुत कुछ कहा गया है, जिससे कान्तासक्ति का अपूर्व भाव सभी को हृदयङ्गम होगा। श्रीमद्भागवत में और भी लिखा है-

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोद्ध्र्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ।।
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो-
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ।।
प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम् ।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ।।

अहो! व्रजगोपिकाओं ने न जाने कौन सी कठिन तपस्या की थी जिससे निखिल श्री और ऐश्वर्य के एकमात्र निदान योगियों का भी अलभ्य, सर्वाङ्गसुन्दर, लावण्यराशि के अनन्त आगार श्रीभगवान् की सौन्दर्यसुधा को नेत्रों के द्वारा अविराम पान कर रही हैं। धन्य है उन गोपिकाओं का जीवन जिन्होंने सारे जीवन के कार्य को भगवत्प्रीत्यर्थ ही समर्पण करके, उनके प्रेम में अनुरक्त हृदय हो, उनके ही चरणकमलों में मनोभृङ्ग को उन्मत्त करके दुग्धदोहन, दधिमन्थन, लेपन, मार्जनादि

समस्त कार्य में गद्गद कण्ठ होकर उन्हीं के अपूर्व चरित्रों का गान किया करती हैं। प्रातःकाल तथा सायंकाल जिस समय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र गोचारण के लिये जाया आया करते हैं उस समय गोविन्द प्रिया गोपिकाएँ गृहकार्य से निकल कर उनके ही सदय सहास्य मुखपद्म को निरीक्षण किया करती हैं।

रागात्मिका भक्ति का स्वरूप वर्णन करते हुए देवर्षि नारदजी ने कहा है कि, विरहव्याकुलता के द्वारा ही यथार्थ प्रेम की गंभीरता का परिचय मिलता है। जिस प्रेम के साथ विरह नहीं है, वह प्रेम कभी पूर्णभाव को तथा उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं हो सकता है; क्योंकि विरुद्ध भाव के द्‌ारा ही अनुकूल वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। संसार में यदि दुःख न होता तो सुख की माधुरी तथा रमणीयता का यथार्थ अनुभव किसी को नहीं हो सकता। यदि अमावस्या का गाढ़ अन्धकार संसार को ग्रास नहीं करता तो पूर्णिमा का पूर्णशशधर किसी का भी नयनरञ्जन और चित्तविनोदन पूर्णरूप से नहीं कर सकता। दिवाकर की दिव्य प्रभा जगज्जनों के चित्त में प्राणशक्ति का सञ्चार तभी तक पूर्णतया कर सकेगी, जब तक रात्रि के आगमन द्वारा जड़ता के अङ्क में जगज्जीवों को विश्रांति लाभ हुआ करेगी। निष्कर्ष यह है कि विरुद्धवृत्ति के प्रभाव से ही अनुकूल वृत्ति का पूर्णस्वरूप प्रकट होता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह बात विज्ञान सिद्ध है कि विरह के द्वारा ही राग की पुष्टि तथा पूर्णता होती है। इस बात को स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने गोपियों को प्रेम का स्वरूप बताते समय कहा था, यथा–

नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ।।

मेरे प्रति प्रेम करने पर भी जो मैं कभी कभी प्रेमी भक्त को विरह व्यथा से दुःखित करता हूँ, इसका कारण यह है कि विरह के द्वारा ही प्रेम की तीव्रता बढ़ कर पूर्णता की प्राप्ति होती है, जिस प्रकार किसी दरिद्र को

धन प्राप्त होकर उस धन के भी नाश हो जाने उसकी निन्तर धन की चिन्ता बनी रहती हैं, उसी प्रकार प्रेम के बीच में विरह आने से निरन्तर अविच्छिन्न भगवत्प्रेम की मन्दाकिनी धारा हृदयभूमि में विहार करती है। यही प्रेमराज्य में विरहव्यथा की उपकारिता है। कान्तासक्ति के उच्चभाव में इस प्रकार विरहव्याकुलता का मधुर भाव भक्तजनों के मनोमन्दिर को सदैव आपूरित करता है। प्रवासी पति के विरह में पतिप्राणा सती के चित्त में जिस प्रकार सदैव व्याकुलता बनी रहती है, उसी प्रकार कान्तासक्तिपरायण भक्त के भी चित्त में श्रीभगवान् के अदर्शन और विस्मरण के हेतु विरहव्यथा सदैव बनी रहती है। भक्त को इस प्रकार व्यथा के भीतर भी एक प्रकार के प्रगाढ़ आनन्द की उपलब्धि होने लगती है, जो मुख से भी नहीं कहा जा सकता है और लेखनी से भी प्रकट नहीं किया जा सकता है।

इसी विषय को देवर्षि नारद ने सूत्र के द्वारा वर्णन किया है, यथा–

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

प्रेम के लक्षण के विषय में अन्यान्य महर्षियों के अन्यान्य मत होने पर भी देवर्षि नारद के मत में यथार्थ प्रेम तभी होगा जब कि श्रीभगवान् के चरणकमल में भक्त का समस्त कार्य समर्पित हो जायेगा और उनकी विस्मृति दशा में परम व्याकुलता भक्त को प्राप्त होगी। इस प्रेम का लक्षण वर्णन करके नारदजी ने दृष्टान्तरूप से सूत्र किया है–

यथा ब्रजगोपिकानाम् ।

ब्रजगोपिकाओं के श्रीभगवान् के प्रति कान्तासक्तिमूलक प्रेम में इस प्रकार विरहव्यथा का लक्षण विशेषरूप से प्राप्त होता है, जिससे उसमें श्रीभगवान् के प्रति पूर्णप्रेम का परिचय मिल जाता है। श्रीमद्भागवत के कृष्णलीला प्रसंग में इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, यथा– जिस समय गोपियों का अभिमान भङ्ग करने के लिये श्रीभगवान् अन्तर्द्धान हो गये थे, उस समय जिस व्याकुलता के साथ गोपियों ने उनके दर्शन के लिये–

हा नाथ रमण श्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ।।

इत्यादि रूप से व्याकुल होकर उनके दर्शन की आकांक्षा की थी, वह सब वर्णन जैसा कि इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में रासलीला वर्णन प्रसंग में किया गया है, विरह व्यथा का अनुपम दृष्टान्त है। इस प्रकार विरहाग्नि के द्वारा ही गोपियों का चित्त परम निर्मल हो गया था, जिससे उनको श्रीभगवान् की कृपा प्राप्त हो कर परमधाम लाभ हुआ था। यही सब कान्तासक्ति का मधुर भाव है, जिस भाव के परिपाक से भक्तहृदय भगवान् में तन्मय होकर समस्त संसार में उन्हीं का स्वरूप उपलब्ध करता हुआ अन्त में पराभक्ति का परमभाव प्राप्त करता है। यही कान्तासक्ति का मधुर लक्षण और दिव्य परिणाम है।

अनुराग के पञ्चम भाव का नाम गुणकीर्त्तनासक्ति है। इस भाव के उदय होने से भक्त दिवानिशि सर्वशक्तिमान् भगवान् के गुणराशियों को कीर्त्तन करते हुए उन्हीं गुणों के द्वारा भगवद्भाव में निमग्न रहा करते हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है–

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ।।

श्रीभगवान् की मधुर गुणकथा जिसको वेदव्यास आदि मुक्तपुरुषगण भी गाया करते हैं, जो मुमुक्षुजनों के लिये भवरोग की एकमात्र औषधिरूप है और विषयों के लिये भी श्रवण और मनतृप्तकारी है, इस गुणकथा से जो लोग विरक्त रहते हैं, वे आत्मघाती हैं। उनकी गुणकथा का क्या फल है, इस विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा है–

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ।।

साधु महात्माओं के स्थान में उनके मुख से विनिर्गत भगवत्कथामृत की धारा जब चारों ओर बहने लगती है, उस समय जो

भक्त एकान्तरहि होकर उस अमृत को पान करते हैं उन्हें क्षुधा, तृष्णा, भय, शोक, मोहादि कुछ भी सांसारिक बाधा स्पर्श नहीं कर सकती है। भगवद्गुणकथा की महिमा के विषय में क्या कहा जाय, उसके बिना सकल कथा ही वृथा है, यथा, श्रीमद्भागवत में–

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलम्
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ।।
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ।।

यह बात मिथ्या और असत्पुरुषों की बात है जिसके द्वारा श्रीभगवान् का गुणकीर्त्तन न हो, क्योंकि वही सत्य, वही मङ्गलमय, पुण्यमय, रमणीय, रुचिकर और सदा ही नवीन रसप्रद है। सदा चित्त को परमात्मानन्दसिन्धु में निमग्न रखने के लिये और निखिल शोकसिन्धु को शुष्क करने के लिये उत्तम श्लोक अखिलगुणनिधान श्रीभगवान् का यश ही एकमात्र कीर्त्तनीय है। उनकी लोकचमत्कार अलौकिक शक्ति के विषय में कौन वर्णन कर सकता है। अणु परमाणु से लेकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डस्थित समस्त पदार्थ उन्हीं की शक्ति से शक्तिमान् होकर जगज्जनों के नयनरञ्जन हो रहे हैं। रवि, शशि उन्हीं की शक्ति से प्रफुल्लित होकर समस्त संसार को प्रकाशित कर रहे हैं। उन्हीं की करुणा कणा जाह्नवी यमुना रूप से समस्त संसार को पवित्र कर रही है। वेदादि समस्त शास्त्र जलदगम्भीर निनाद से उन्हीं की कीर्त्ति को गा रहे हैं–

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विस्वमनन्तरूप ।।
ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।
आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्या अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ।।

विभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमास्य लोकस्य चराचरय ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ।।
त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ।।
भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम् ।।
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ।।

हे भगवान्! तुम आदिदेव, आदि अन्तविहीन, संसार के परमाश्रय, सबके वेत्ता, सबके जानने योग्य और परमधाम हो। हे अनन्तरूप! अनन्त विश्व तुम्हारी ही सत्ता से परिव्याप्त है। ब्रह्मादि देवगण उन्हीं की आज्ञानुसार स्व स्व अधिकार का पालन करते हैं। समस्त विश्वजगत् उन्हीं से उत्पन्न हुआ है। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जीव उन्हीं की आज्ञा से चलते हैं, उनका चरित्र अनिर्वचनीय है। हे भगवान्! परमात्मस्वरूप आप युग युग में चराचर संसार के कल्याण और धर्मरक्षा के लिये निराकार होने पर भी साकाररूप धारण करके अवतारभेद रूप से प्रकट होते हैं। आपकी सत्त्वगुणमयी मूर्ति साधुओं के लिये सुखकर, परन्तु असाधुओं के लिये अकल्याणकर होती है। हे कमललोचन जगदीश! समस्त सत्त्वगुण के आधार रूप आपमें समाधियोग से विलीनचित्त होकर आपके चरणकमलरूपी तरणी का आश्रय करके विवेकिगण दुस्तर संसारसिन्धु को गोष्पद की तरह अनायास पार कर जाते हैं। आप भय के भी भय और भीषण के भीषण हो, समस्त प्राणियों की गति और पावन के भी पावन हो, आप ब्रह्मादि के भी नियन्ता, श्रेष्ठ के भी श्रेष्ठ और रक्षकों के रक्षक हो। आप ही सबके शरणीय, वरणीय, जगत्कारण, विश्वरूप, जगत् के कर्ता, धर्ता और हर्ता, परमपुरुष, अनन्तशान्तिमय और विकल्परहित हो। आपकी महिमा मन, वाणी और लेखनी की शक्ति से अतीत है, इस प्रकार से गुणकीर्त्तनासक्तियुक्त भक्त

और श्रीभगवान् की मधुर लीलाओं का कीर्तन निशिदिन करते हैं। उनकी दृष्टि के सामने संसार की समस्त वस्तुओं से अनन्त निर्झरिणी रूप से श्रीभगवान् की अनन्त महिमा प्रवाहित होने लगती है और उसी पवित्र निर्झरिणी में अवगाहन स्नान करके भक्त हृदय अनन्तानन्द और शान्ति को उपलब्ध करता है। उनका अन्तःकरण भगवान् की अनन्त गुणराशियों के आश्रय से धीरे धीरे भगवान् के उदार विराट्भाव में लवलीन हो जाता है जिससे गुणकीर्त्तनपरायण ऐसे भक्त को पराभक्ति का स्वरूप उपलब्ध हो जाता है। यही गुणकीर्त्तनासक्ति का महान् भाव और उदार परिणाम है। महर्षि वेदव्यास, महर्षि वाल्मीकि आदि गुणकीर्त्तनासक्त भक्तों की जीवनी पुराणशास्त्र में इस भाव का ज्वलन्त दृष्टान्त है।

अनुराग के षष्ठभाव का नाम आत्मनिवेदनासक्ति है। इस भाव के उदय होने से भक्त भगवान् में अपना सर्वस्व समर्पण करके उन्हीं के परमभाव में दिवानिशि निमग्न रहते हैं। उस समय भक्त के शरीर, मन, प्राण, समस्त इन्द्रियाँ तथा आत्मा के द्वारा जो कुछ चेष्टा होती है, सभी श्रीभगवान् के प्रीतिसम्पादनार्थ होती है। श्रीभगवत्प्रीतिसम्पादन के अतिरिक्त समस्त कार्य आत्मनिवेदनासक्त भक्त को वृथा ही जान पड़ते हैं। यथा, श्रीमद्भागवत में–

सा वाग् यथा तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ।।
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्
तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ।।

वाक्य यथार्थ में वही हैं जिनसे श्रीभगवान् का गुणगान किया जाय, हाथ यथार्थ में वही हैं जिनसे भगवत्कार्य का अनुष्ठान हो, मन

यथार्थ में वही है जिसके द्वारा स्थावर जङ्गम समस्त संसार में विराजमान श्रीभगवान् परमात्मा का स्मरम हो, कर्ण यथार्थ में वही हैं जिनसे भगवान् की पुण्यकथाओं को सुना जाय, मस्तक यथार्थ में वही है, जो स्थावर जङ्गम समस्त वस्तुओं को उन्हीं का लिङ्ग मानकर प्रणत हो, चक्षु यथार्थ में वही हैं, जिनसे मुकुन्द का मधुर रूप निरीक्षण किया जाय, समस्त शारीरिक अङ्ग प्रत्यङ्ग वास्तव में तभी सार्थकता को प्राप्त हो सकते हैं, जब वे श्रीभगवान् के तथा भगवद्भक्त सज्जनों के पादोदक से पवित्र हो जावें। इस प्रकार से आत्मनिवेदन भावपरायण भक्त समस्त शरीर, समस्त इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार तथा आत्मा के द्वारा श्रीभगवान् में एकान्तनिष्ठ होकर उन्हीं के चरणकमलों में सर्वस्व समर्पण करते हैं। महर्षि शाण्डिल्य के मत में इस प्रकार आत्मरति ही भगवद्भक्ति का श्रेष्ठ लक्षण है, यथा-नारदसूत्र में-

आत्मन्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ।

अविच्छिन्न भाव से आत्मा में रति ही भगवद्भक्ति का परम लक्षण है। इस प्रकार श्रीभगवान् में परमारति और आत्मसमर्पण भाव के उदय होने से भक्त श्रीभगवान् की कृपा से अनायास भवसिन्धु से पार हो जाते हैं, यथा गीता में-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।

जो मेरे भक्त समस्त कर्म मुझमें ही समर्पण करके मत्परायण होकर अनन्यभाव से ध्यानयोग के द्वारा मेरी उपासना करते हैं, भगवद्भावनिमग्नहृदय उन भक्तों को मैं शीघ्र ही संसार सिन्धु के पार कर देता हूँ। मुझमें एकचित्त, मेरा भक्त, मेरे में यजनशील तथा प्रणाम करने वाले भक्त अवश्य ही मुझे प्राप्त करते हैं। आत्मनिवेदनासक्ति के द्वारा

ऊपर लिखित सभी भावों के उदय होने से भक्त शीघ्र ही आत्मरूप और आत्मरति होकर पराभक्ति की पदवी को प्राप्त कर लेते हैं। सर्वस्व समर्पण होने से उनका जीवभाव का अहङ्कार आमूल नष्ट हो जाता है और भक्तहृदय अनन्त भगवान् के अनन्तामृतमय प्रेम में निमग्न होकर पराभक्ति के परमानन्दमय पद में सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाता है, यही आत्मनिवेदनासक्ति का मधुर लक्षण और अलौकिक परिमाण है। राजाओं में बलि और महर्षियों में नारद आत्मनिवेदनासक्ति के अपूर्व दृष्टान्त हैं।

अनुराग के अन्तिम भाव का नाम तन्मयासक्ति है। दास्य, सख्य आदि भावों के परिपाक में जिस समय भक्त भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते करते उन्हीं में अपने अपने अन्तःकरण को लय करके श्रीभगवान् के साथ अभिज्ञ भाव से उन्हीं में तन्मय होकर प्रेम करते हैं, तभी वह अनुराग तन्मयासक्ति कहलाता है। यह आसक्ति अनुराग का चरमभाव और रागात्मिका तथा पराभक्ति का सन्धिरूप है। इस भाव के उदय होने से भावसमुद्र में निमग्न तथा आत्मसत्ता की पृथकता को विस्मृत होकर कभी भक्त अपने ही को प्रणाम करते हैं और कभी अपनी अपनी स्थिति का अनुभव करके श्रीभगवान् को प्रणाम करते हैं, यथा, योगवासिष्ठ में–

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः।।
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यन्तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवाधिदेवाय पराय परमात्मने।।

हे परमपुरुष परमात्मन्! तुम्हें नमस्कार और प्रत्यक् चैतन्यरूप मुझको भी नमस्कार। अनन्तशिवरूप देवाधिदेव मुझको और तुझको नमस्कार। इस प्रकार से तन्मय होकर भक्त अपने को और परमात्मा को नमस्कार करते रहते हैं और भावनिमग्न हो आत्मरूप हो जाते हैं, यथा, श्रीमद्भागवत में–

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दवाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।

विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो.
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ।।

श्रीभगवान् के प्रति भक्तिप्रवाह को प्रवाहित करके परमानन्द से पूर्ण हृदय तथा पुलकिताङ्ग होकर भक्त अपनी पृथक् सत्ता को भूल जाते हैं और यही मुक्तिप्रद तन्मयभाव का लक्षण है। इस भाव का लक्षण मुकुन्दप्रिया गोपियों के चरित्र में कभी कभी देखने में आता है, जैसा कि पूर्व समुल्लास में रासलीला प्रसङ्ग में–

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः ।

इत्यादि प्रमाणों द्वारा बताया गया है। श्रीभगवान् ने भी निज मुख से कहा है–

ता मा विदन्मय्यानुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ।।

मेरे प्रेम में समासक्तचित्त होकर गोपियां अपने को, परिजनों को और इहलोक परलोक को भी भूल जाया करती थीं, जिस प्रकार मुनिगण समाधि में निमग्न होकर अपनी पृथक् सत्ता से विस्मृत हो जाते हैं और नदियाँ भी समुद्र में विलीन होकर नामरूप से च्युत हो जाया करती हैं। यह सब भाव तन्मयासक्ति का ही दृष्टान्तरूप है। जैसे कान्तासक्ति की अधिकारिणी व्रजगोपिकाओं में कभी कभी इस प्रकार की तन्मयासक्ति का भाव प्रकट हुआ था, इसी प्रकार अन्यान्य आसक्तियों के अधिकारी भक्त में भी समय समय पर यह सर्वोच्च भाव प्रकाशित होकर वह भक्त को पराभक्ति के अधिकार की ओर अग्रसर करता है। यह अधिकार इतना उच्च है कि इसके दृष्टान्त के लिये हरि में हर और हर में हरि की तन्मयासक्ति के उदाहरण के अतिरिक्त और कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। हरि हर में और हर हरि में अभिन्न रूप से एकप्राणता के साथ जो निशिदिन रत रहते हैं, यह उन दोनों में तन्मयभाव का ही लक्षण है, यथा, देवी भागवत में–

श्रृणु कान्ते प्रवक्ष्यामि यं ध्यायामि सुरोमत्तम् ।
आशुतोषं महेशानं गिरिजावल्लभं हृदि ।।
कदाचिद्देवदेवो मां ध्यायत्यमितविक्रमः ।
ध्यायाम्यहं च देवेशं शङ्करं त्रिपुरान्तकम् ।।
शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम ।
उभयोरन्तरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः ।।

हरि कह रहे हैं, "मैं निशिदिन अपने हृदय में आशुतोष गिरिजावल्लभ देवाधिदेव हर का ध्यान करता हूँ। कभी कभी देवदेव महादेव भी मेरा ध्यान करते रहते हैं और कभी मैं भी त्रिपुरान्तक शूलपाणि का ध्यान करता रहता हूँ। मैं शिव का प्राण हूँ और शङ्कर भी मेरे प्राण हैं, तन्मयभाव में परस्परासक्त हम दोनों में कोई भी भेद नहीं है। यही तन्मयासक्ति का अपूर्व और अलौकिक दृष्टान्त है। हर में हरि और हरि में हर की जो स्वाभाविकी तन्मयासक्ति हो सकती है, इसका वैज्ञानिक रहस्य यह है। ब्रह्म के सच्चिदानन्द भावों में से आनन्दभाव व्यापक है। अन्तःकरण में आनन्द का अनुभव और पुष्पादि जड़ पदार्थों में आनन्द का अनुभव ये दोनों ही आनन्दसत्ता के व्यापक होने के प्रमाण हैं। वह परमानन्दसत्ता चित् में सत् की सहायता से और सत् में चित् की सहायता से अनुभव में आती है। आनन्दसत्ता व्यापक होने से ब्रह्माजी की उपासना शास्त्र में निषिद्ध है। चित् सत्ता प्राधान्य से हरिरूप और सत्सत्ता प्राधान्य से हर रूप होने के कारण हर में हरि और हरि में हर की तन्मयासक्ति होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव स्वभावसिद्ध है। इसी कारण हर में हरि और हरि में हर की तन्मयासक्ति के सिवाय इस भाव का सर्वोच्च दृष्टान्त और कुछ भी नहीं हो सकता है।

श्रीगुरुदेव के उपदेश द्वारा विधिनिषेध मानते हुए साधनराज्य में वैधीभक्ति की सहायता से अग्रसर होते होते साधक भक्त जितना भक्तिराज्य में अग्रसर होता जाता है, उतनी ही विधिनिषेध में उसकी शिथिलता होती जाती है। संसार में भी देखा जाता है कि, मित्र के साथ मित्र की या प्रेमी के साथ प्रेमिका की जितनी प्रीति अधिक गाढ़ी होती

जाती है, उतना विधिनिषेध का पर्दा भी उठता जाता है। इसी प्रकार वैधीभक्ति का साधक विधिनिषेधवाली वैधी भक्ति की साधना करते करते अपने प्रियतम इष्टदेव के साथ जितनी प्रीति को बढ़ाता जाता है उतना ही उसमें से विधि निषेध का भाव नष्ट होता जाता है। उसके अनन्तर साधक के सम्मुख अनुराग का द्वार खुल जाता है। जिस प्रकार प्रियतम की प्रियतमा में और प्रियतमा की प्रियतम में सच्ची प्रीति होने से परस्पर के सब भाव और परस्पर के सब अङ्ग सुन्दर और आनन्दप्रद अनुभव होने पर भी परस्पर को किसी किसी अङ्ग और भाव का सौन्दर्य और आनन्द अधिकतर अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार वैधीभक्ति का साधन जब अनुराग के सच्चे द्वार में प्रवेश करता है तब उस समय दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति और तन्मयासक्ति इनमें से किसी भाव की माधुरी साधक को अधिकरूप से मोहित करती है। मनुष्य के अन्तःकरण के प्रकृति वैचित्र्य के कारण ही कोई भक्त किसी भाव में और कोई भक्त किसी भाव में अधिक आनन्द अनुभव करता है। उस समय वैधीभक्ति से रागात्मिका भक्ति में पहुँचा हुआ साधक जिस भाव में अधिक आनन्द अनुभव करता है, उसी भाव को उन्नत करता हुआ वह उन्नतभक्त उसी आसक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त करता हुआ अपने अन्तःकरण को रससागर में निमग्न करता है। वैधीभक्ति से रागात्मिका भक्ति के उदय का यही रहस्य है। विष्णूपासक, सूर्योपासक, देवी-उपासक, गणपति-उपासक और शिवोपासक सम्प्रदायों के त्रिलोक पवित्रकारी भक्तगण ऐसे ही रागात्मिका भक्ति को जगत् में अनादिकाल से प्रकट करते आये हैं और अन्त में वे ही विष्णुलोक, सूर्यलोक, देवीलोक आदि लोकों में पहुँचकर सालोक्य, सारूप्य आदि चतुर्विध मुक्ति प्राप्त करते आये हैं।

सनातनधर्म के सर्वाङ्गसम्पूर्ण विज्ञान के अनुसार भक्ति विज्ञान की भी पूर्णता का पूज्यपाद महर्षियों ने वर्णन किया है। वह पूर्णता अन्य उपधर्मों में नहीं पाई जाती है। यद्यपि सर्वलोकहितकारिणी भक्ति सब धर्म और उपधर्मों के लिये समान रूप से हितकारी है, यद्यपि वैधी भक्ति का

वर्णन सब उपधर्मों में किसी न किसी प्रकार से पाया जाता है और किसी किसी उपधर्म में रागात्मिका भक्ति के भी आंशिक लक्षण मिलते हैं, परन्तु दार्शनिक विज्ञान के अभाव और मधुरतामय सगुण उपासना के अभाव से उन उपधर्मों में रागात्मिका भक्ति के सब रसों का विकास नहीं हो सकता है और दार्शनिक विज्ञान के अभाव से पराभक्ति की पूर्णता तो उक्त उपधर्मों में होना असम्भव ही है। इस विषय का विस्तारित वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा।

इस प्रकार श्रीभगवान् में प्रेमासक्ति की पूर्णता होने से भक्तान्तःकरण में से धीरे धीरे ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटि का नाश हो जाता है और तदनन्तर भक्त भगवद्रूप होकर सर्वत्र विराजमान अपरिच्छिन्न आनन्दमय सच्चिदानन्द सत्ता की उपलब्धि करने में समर्थ हो जाता है। यही अवस्था पराभक्ति की है, यथा, दैवीमीमांसादर्शन में–

''स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा''

आनन्दमय परमात्मा के अखण्ड स्वरूप की प्रकाशक होने के कारण पराभक्ति पूर्ण आनन्दप्रदा है–

''रसस्वरूप एवायं भवति भावनिमज्जनात्''

भाव समुद्र में निमग्न होकर भक्त रसरूप अर्थात् आनन्दमय भगवान् के साथ तद्रूपता को प्राप्त हो जाते हैं। तन्मयासक्ति के अन्त में इस भाव का उदय कैसे हो जाता है, इस प्रसङ्ग में उक्त दर्शन में कहा है–

''परालाभो ब्रह्मसद्भविकातन्मयासक्त्युन्मज्जननिमज्जनात्''

ब्रह्मसद्भावप्रद तन्मय भावसमुद्र में उन्मज्जन निमज्जन द्वारा पराभक्ति का उदय होता है। श्रीभगवान् के चरणकमलों का ध्यान एकान्तरति होकर करते करते क्रमशः साधकचित्त में से तन्मयता द्वारा ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटी का नाश हो जाता है। रागात्मिका भक्ति की दशा में साधक रागात्मिका भक्ति के पृथक् पृथक् भावों को पृथक् पृथक् अनुभव करते हैं। यद्यपि रागात्मिका दशा में भक्त भाव-समुद्र में उन्मज्जन निमज्जन करने लगते हैं परन्तु जिस भाव के वे विशेष पक्षपाती हो जाते हैं उसकी विशेषता उनके अन्तःकरण में बनी रहती है,

परन्तु पराभक्ति की सर्वोत्तम दशा में भगवत्स्वरूप की उपलब्धि के हो जाने से रसों की पृथकता का पक्षपात भक्त के हृदय से तिरोहित हो जाता है। तब वह भक्त सकल रसों में समान आनन्द अनुभव करने लगते हैं और किसी समय और किसी अवस्था में भी उनके अन्तःकरण से परमात्मा के स्वरूप का अभाव नहीं होता है। अब किस प्रकार से ऐसी अद्वितीय सच्चिदानन्दभावबोधिनी पराभक्ति का उदय होता है इसका वर्णन किया जाता है, यथा श्रीमद्भागवत में—

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं—
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाच्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल—
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ।।
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनः शमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ।।
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यवाष्पकलया मुहुरर्द्यमान—
स्तच्चापि चितवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ।
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्च्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक—
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ।।
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ।।

श्रीभगवान् के भक्त का कर्तव्य है कि, एकान्तरति होकर उनके चरणकमलों का ध्यान करे। जो चरण ध्वज अङ्कुश और कमल के चिन्हों से शोभित हैं और जिनमें विराजमान रक्तवर्ण तथा सौन्दर्यपूर्ण नभ मण्डल की ज्योति से भक्तजनों का हृदयांधकार पूर्णरूप से दूर हो जाता है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु उन चरणों की ऐसी लोकोत्तर महिमा है कि, उनके धोने से निकली हुई तीर्थरूपी गंगा को सिर पर धारण करके शिव सर्वश्रेष्ठ तथा मंगलमय हो गये हैं और श्रीभगवान् के ये चरणकमल उनके ध्यान परायण जनों के अन्तःकरण स्थित पापरूप पर्वत के तोड़ने के लिये वज्ररूप हैं। इस प्रकार भगवच्चरणकमलों का ध्यान करते करते भक्त की क्या दशा होती है? इसके उत्तर में परवर्ती श्लोक में कहा है कि ध्याताध्यानध्येयभाव से मुकुन्दचरणारविन्द में निरत होकर ध्यान करते करते भक्तहृदय में भावसिन्धु उछलने लगता है, वे अश्रुपूर्णनेत्र और रोमांचकलेवर होकर अत्यन्त तीव्रता के साथ मनोमधुकर को चरणारविन्द के मृदुपान में निमग्न कर दिया करते हैं। इस प्रकार तीव्रध्यान के परिपाक में मन की पृथक् सत्ता नष्ट होकर निर्वाणप्राप्त प्रदीप की तरह साधक का अन्तःकरण निर्विषय हो एकदम परमात्मा में लय हो जाता है और इस दशा में भक्त त्रिगुणमयी माया से निर्मुक्त होकर सर्वत्र विराजमान, अद्वितीय, अखण्ड, सच्चिदानन्द सत्ता की उपलब्धि करने लगते हैं। इस प्रकार से सुखदुःखातीत द्वन्द्वातीत तथा गुणातीत भक्त मायारहित परब्रह्मस्वरूप में परमास्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। उनके आत्मा का देह, मन आदि के साथ कुछ भी अभिमान या अध्यास अवशेष नहीं रह जाता है। वे ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं। यही रागात्मिका भक्ति के अन्त में पराभक्ति युक्त सिद्ध भक्त की आनन्दमय सच्चिदानन्द स्वरूप में अवस्थिति और भक्ति साधन का चरम फल है। इस दशा में भक्त निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अलौकिक सुखदुःख रहित परमानन्द को उपभोग करते हैं, यथा उपनिषद् में–

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।

समाधि के द्वारा निर्मल अन्तःकरण आत्मा में विलीन होकर जो परमानन्द का उपभोग करता है, उसका वर्णन वाक्य के द्वारा नहीं हो सकता है, केवल निज अन्तःकरण में ही उसकी एकान्त अनुभूति होती है। और भी गीतोपनिषद् में–

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।

पराभक्ति दशा में स्वरूपस्थित होकर भक्त जिस आनन्द की उपलब्धि करते हैं, वह आत्यन्तिक अर्थात् दुःखलेशविहीन नित्यानन्द है, जो इन्द्रियों से अतीत और सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा ही अनुभव करने योग्य है। इस आनन्द पर प्रतिष्ठित होने से महात्मा पुरुष कभी किसी समय अपनी तात्त्विक स्थिति से विचलित नहीं होते, प्रारब्धजनित गुरुतर कष्ट आने पर भी उनके अन्तःकरण पर उसका कोई भी प्रभाव नहीं होता और उस परम वस्तु को प्राप्त करके अन्य किसी वस्तु को उससे अधिक स्पृहणीय नहीं समझते। उस समय उनकी दृष्टि कैसी होती है? इसके उत्तर में श्रीभगवान् ने कहा है–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।

सर्वत्र अद्वितीयदर्शी इस प्रकार योगयुक्तात्मा पूर्णभक्त परमात्मा को सकल भूतों में और सकल भूतों को परमात्मा में देखते हैं और आनन्दमय परमात्मा को सर्वत्र देखकर सकल अवस्था में ही समाधि का परमानन्द प्राप्त करते हैं। उनके लिये लौकिक जगत् के समस्त पदार्थ ही परमात्मा में अवस्थित होने के कारण दिव्य भावयुक्त और परमानन्दप्रद हो जाते हैं। श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजी ने इसी अवस्था में अपूर्व दर्शन का वर्णन किया है–

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः ।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताःक्रियाः ।।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी ।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परं ब्रह्मणि ।।

भगवद्भक्ति की परावस्था में सर्वव्यापक परमात्मा के दर्शन हो जाने से भक्त की दृष्टि में समस्त जगत् ही नन्दनवन की तरह आनन्दरूप भासमान होने लगता है, इनके लिये समस्त वृक्ष ही कल्पवृक्ष समस्त जल ही गङ्गाजल, समस्तकार्य ही पुण्यकार्य, प्राकृत संस्कृत समस्त वाक्य ही श्रुतिवाक्य, समस्त विश्व ही वाराणसी और समस्त स्थिति ही ब्रह्ममयी स्थिति हो जाती है। पराभक्ति की यह दशा, ज्ञानी की परज्ञान दशा, वैराग्यवान् की परवैराग्य दशा और योगी की निर्विकल्प समाधि दशा के तुल्य ही है क्योंकि सभी अवस्था अन्त में एक ही भाव में आकर पूर्णता को प्राप्त होती हैं। इस विषय में देवीभागवत में लिखा है–

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः ।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः ।।
अहङ्कारादिरहितो देहतादात्म्यवर्जितः ।
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता ।
यस्यां देव्यतिरिक्तन्तु न किञ्चिदपि भाव्यते ।।
इत्थं जाता परा भक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः ।
तदैव तस्य चिन्मात्रे सद्रूपे विलयो भवेत् ।।
भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम् ।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञानं तदुभयं यतः ।।

परानुरक्ति के साथ अभिन्नभाव से भगवच्चिन्तापरायण होकर साधना करने से पराभक्ति का उदय होता है, जिसमें अहङ्कार नाश तथा सर्वत्र विराजमान अद्वितीय ब्रह्मसत्ता का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार पराभक्ति को प्राप्त करके साधक चिन्मय भगवान् में लय हो जाते हैं। यही ज्ञान की चरम सीमा और यही वैराग्य की भी चरम सीमा है।

इस प्रकार से सच्चिदानन्दभाव में ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्ति दशा में आत्मरति होकर प्रारब्धक्षय पर्यन्त संसार में अवस्थान करते हैं और तत्पश्चात् प्रारब्धावसान में विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। इस समय उनकी प्रकृति विराट् प्रकृति में और उनकी आत्मा व्यापक परमात्मा में मिलकर एक हो जाती है, यथा, उपनिषद् में–

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

जिस प्रकार समुद्रवाहिनी नदी नामरूप से च्युत होकर समुद्र में मिल जाती है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती है, उसी प्रकार ज्ञानी भक्त प्रकृतिजनित नाम और रूप को त्यागकर विदेहमुक्ति दशा में परात्पर परब्रह्म में अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर विलीन हो जाते हैं। उनके लिये संसार में जन्ममरणचक्र चिरकाल के लिये बन्द हो जाता है। अनन्त दुःखमय संसार में पुनः उनको आना नहीं पड़ता है। यही सकल साधना का लक्ष्य और भक्ति मार्ग का चरम परिणाम है।

उपासना काण्ड के निम्न अधिकार से लेकर उच्चतम अधिकार तक भक्ति किस प्रकार से परमावश्यकीय है, किस प्रकार से भक्ति के बिना उपासना का कोई अङ्ग भी पूर्णरीत्या साधित नहीं हो सकता है और बिना प्राण के जिस प्रकार शरीर नहीं रह सकता है, उसी प्रकार बिना भक्ति के उपासना बन ही नहीं सकती ये सब भलीभाँति ऊपर दिखा चुके हैं। अब उपासना के शरीररूप योग का वर्णन किया जाता है। शरीर के बिना जिस प्रकार शरीरी आत्मा का भोग असम्भव है, उसी प्रकार योग की शैली के बिना उपासना का कोई साधन बन ही नहीं सकता है। इसी कारण उपासना को योग का शरीर कहा है। आवरण विक्षेप आदि भावों से अन्तःकरण युक्त रहने से परमात्मा का स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता है। इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीव के अन्तःकरण में विराजमान रहने पर भी उससे दूर हो जाते हैं अथवा यह कहिये कि अन्तःकरण रूप जलाशय सदसद्वृत्तियों से तरङ्गायित और आलोडित रहने के कारण परमात्मारूपी सूर्य का यथार्थ स्वरूप उस जलाशय में दिखाई नहीं

पड़ता। जब साधक की सुकौशल क्रिया द्वारा उस जलाशयरूपी अन्त:करण का वृत्तिरूपी तरङ्ग एक बार ही शान्त हो जाता है। तभी सूर्य प्रतिबिम्ब अथवा अपना मुँह दर्शक उसमें देख सकता है। अत: योगशास्त्र में कहा है–

''योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:''

''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्''

चित्तवृत्ति निरोध के सुकौशलपूर्ण क्रियाओं को योग कहते हैं। योगक्रिया द्वारा क्रमश: अन्त:करण की वृत्तियाँ सान्त होती होती जब एक बार ही शान्त हो जाती है, उस अवस्था का नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्था में द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं। हम यह दिखा चुके हैं कि, चित्तवृत्तियों के चाञ्चल्य के कारण सर्वव्यापक तथा जीव-हृदयविहारी परमात्मा जीव के हृदय से छिप जाते हैं, यही उनका जीव से दूर हट जाना है। जिन जिन साधनों ने इस प्रकार से दूर हटे हुए परमात्मा से अनाथ हुआ जीव उसके निकट होकर सनाथ हो जाता है, उसी को उपासना कहते हैं; अर्थात् उप-समीप, आस्यते-प्राप्त होता है अनया-इस साधन के द्वारा; इति उपासना। अत: जिन जिन क्रियाओं के अवलम्बन से परमात्मा के निकट होने में जीव समर्थ होता है, उन्हीं को उपासना कहते हैं और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते होते चित्तवृत्तिनिरोध की पूर्णावस्था में परमात्मा अन्त:करण में प्रकट होकर जीव के निकटस्थ हो जाते हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि उपासना यज्ञ में सर्वथा सर्वरूप से सहायक योग उपासना का शरीर रूप है।

योग का विषय विस्तारित रूप से इस वृहत् ग्रन्थ के अनेक अध्यायों में आवेगा। इस कारण यहाँ केवल दिग्दर्शनार्थ कुछ कुछ विषय कहे जाते हैं। चित्तवृत्तिनिरोध करने वाली सुकौशलपूर्ण जितनी क्रियाएँ हैं उन्हीं को पूज्यपाद महर्षियों ने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोध करने वाली क्रियाशैली को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं और चित्तवृत्तियों के निरोध करने के मार्ग को आठ सोपान

अथवा आठ मर्गविभाग में विभक्त कर सकते हैं। यह संसार नामरूपात्मक है अर्थात् परिदृश्यमान संसार का कोई भी अङ्ग नाम रूप से बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नाम रूप में फंस कर ही जीव बद्ध होता है। चित्त की वृत्तियां भी नामरूप के ही अवलम्बन से अन्त:करण को चञ्चल किया करती हैं। अत: जहाँ मनुष्य गिरता है उसी भूमि को पकड़ के उठना चाहिये, अस्तु नामरूप के अवलम्बन से चित्तवृत्ति निरोध की जितनी क्रियाएँ हैं उनको मन्त्रयोग के अन्तर्गत करके महर्षियों ने वर्णन किया है। हठयोग का ढङ्ग कुछ और ही है। स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीर का ही परिणाम है इस कारण स्थूलशरीर का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर बराबर समान रूप से पड़ता है अत: स्थूलशरीर के अवलम्बन से सूक्ष्मशरीर पर प्रभाव डाल कर चित्तवृत्ति निरोध करने की जितनी शैलियाँ हैं, उनको हठयोग कहते हैं। लययोग का ढंग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टिव्यष्टि सम्बन्ध से एक ही हैं। अत: दोनों को एक समझ कर दोनों में व्यापक जो पुरुषभाव और प्रकृतिशक्ति है उसी अपने शरीरस्थ प्रकृतिशक्ति को अपने शरीरस्थ पुरुषभाव में लय करने की जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं, उनको लययोग कहते हैं। राजयोग का अधिकार सबसे बढ़ कर है। मन की क्रिया मनुष्य को फंसाती है और बुद्धि की क्रिया मनुष्य को मुक्त करने में सहायक होती है; यही कारण है कि अज्ञान से जीव बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्त होता है। अत: बुद्धि क्रियारूपी विचार द्वारा चित्तवृत्ति निरोध की जो शैली है, उसको राजयोग कहते हैं। इस बृहत् ग्रन्थ में मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग के अलग अलग अध्याय दिये जायेंगे इस कारण इन क्रियाशैलियों का विस्तारित वर्णन यहां करने की आवश्यकता नहीं है।

योगमार्ग के आठ सोपानरूप आठ अंगों में से चार बहिरङ्ग और चार अन्तरङ्ग कहलाते हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायाम चे चार बहिरंग हैं और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरङ्ग हैं। बहिरंग और अन्तरङ्ग को मिलाने वाला प्रत्याहार अङ्ग है। जीव

बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय में फंस कर बद्ध रहता है। इस कारण बहिरिन्द्रिय और अन्तन्द्रिय से वीतराग कराने के जो अभ्यास हैं, उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनों की क्रियाशैली विभिन्न आचार्यों के मतानुसार विभिन्न प्रकार की है। इस प्रकार से यम और नियम के साधनों से उपासनाकाण्ड का साधक योगसाधन का अधिकारी बनता है और तृतीय सोपान में वह अपने शरीर को योग-उपयोगी करता है। मीमांसा का यह सिद्धान्त है कि चाञ्चल्य से बन्धन और धैर्य्य से मुक्ति होती है। अत: शरीर को धैर्य्ययुक्त करने की जो शैली है, उसको आसन कहते हैं। शरीर को धैर्य्ययुक्त करने के अनंतर प्राण को धैर्य्ययुक्त करने की जो शैली है, उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अङ्ग है। प्राणायाम अङ्ग के साधन के अनंतर साधक को योग के अन्तरङ्ग साधन का अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूप से एक ही हैं। प्रत्याहार साधन के द्वारा साधक अपनी बहिर्दृष्टि को बहिर्जगत् से हटाकर अन्तर्जगत् में ले जाता है। कूर्म जिस प्रकार अपने अङ्गों को समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अङ्ग के साधन से उन्नत साधक बहिर्विषय से अपनी विषवती प्रवृत्ति को अन्तर राज्य में खींच कर बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् में पहुंच जाता है। यही योग का पंचम अंग है। अन्तर्जगत् में पहुँच कर सूक्ष्म अन्तरराज्य के किसी विभाग को अवलम्बन करके अन्तरराज्य में ठहरे रहने को ही धारणा कहते हैं। इस प्रकार से षष्ठ अङ्गरूपी धारणा साधन द्वारा योगी जब अन्तराज्य को जय कर लेता है, तब बहिर् और अन्तरराज्य के द्रष्टा परमात्मा के सगुण अथवा निर्गुण रूप के ध्यान करने की शक्ति योगी को प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटि के सिवाय और कुछ नहीं रहता है। यही योग का सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटी का जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यान में मिल कर दोनों ध्येय में लय हो जाते हैं, उसी द्वैतभाव रहित वृत्तिनिरोध की अंतिम अवस्था को समाधि कहते हैं। यही भोग का अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों

क्रियासिद्धांशों की जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियों ने कहीं हैं वे सब इन्हीं आठ अंगों की सहायता से निर्णीत हुई हैं। भेद इतना ही है कि किसी में किसी अङ्ग का विस्तार है और किसी में किसी अंग का संकोच है। इस प्रकार से साधक एक के बाद दूसरा सोपान, दूसरे के बाद तीसरा सोपान इस प्रकार से सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधि में पहुंच जाता है और तदनन्तर निर्विकल्प समाधि में पहुंच कर स्वरूप उपलब्धि करने में समर्थ हो जाता है। निर्विकल्प समाधि प्राप्त योगी शारीरिक सब कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूप स्थित रहे, चाहे व्युत्थान दशा को प्राप्त होकर कर्म में प्रवृत्त हो, सब दशा में निर्विकल्प भाव में स्थित रहने के कारण अद्वैत भाव में स्थित रहता है। इसी दशा को जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। इसी को अद्वैतस्थिति, इसी को परज्ञान की दशा और इसी को पराभक्ति की दशा भी कहते हैं। विभिन्न विभिन्न विचार के अनुसार ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। उपासना की प्राणरूपिणी भक्ति और उपासना के शरीर रूपी योग का यही अन्तिम लक्ष्य है।

***

मन्त्रयोग

चित्तवृत्ति का निरोध करके आत्मसाक्षात्कार तथा श्रीभगवान् का सान्निध्यलाभ करने के लिये जितनी साधन प्रणालियां प्रचलित हो सकती हैं उन सबों को चार भागों में विभक्त किया है, यथा-योगतत्त्वोपनिषदम् में-

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ।।

योग के क्रियासिद्धांश चार भाग में विभक्त होते हैं, यथा-मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन चारों में से अधिकार विचारानुसार मन्त्र योग प्रथम है। इस ग्रन्थ के उपासना यज्ञ नामक अध्याय में पहले ही बताया गया है कि अतिसूक्ष्म इन्द्रियातीत परम तत्त्व के प्राप्त करने के लिये मायाबद्ध चित्त एकाएक अधिकार युक्त नहीं हो सकता है, इसलिये मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग साधन द्वारा धीरे धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर चित्तवृत्ति को लगा करके अन्त में राजयोग साधन द्वारा अद्वितीय निराकार देशकाल से अपरिच्छिन्न परब्रह्मसत्ता में जीवात्मा को विलीन किया जाता है। इसी अधिकार-भेदानुसार चारों योगों का साधन क्रम है, जो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि मुनिगण मन्त्र योग के आचार्य हुए हैं। उनका सिद्धान्त यह है- समस्त दृश्यजगत् भाव का ही विकासमात्र है। प्रलयावस्था के अनन्तर प्रकृति के गर्भ में स्थित जीवों का संस्कार जब सृष्टि के अनुकूल होता है, उसी समय परमात्मा के अन्तःकरण में।

''एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय''

मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं की सृष्टि करूँ, इस प्रकार का भाव स्वतः ही उत्पन्न होता है और इसी भाव का परिणाम

नामरूपात्मक यह दृश्य संसार है। दृश्य संसार के नामरूपात्मक होने का कारण यह है कि प्रत्येक भाव ही नाम और रूप के द्वारा संसार में प्रकट होता है। जिस किसी के चित्त में जो भाव हो, वह उसी के अनुसार शब्द द्वारा तथा रूपकल्पना द्वारा उसी दृश्यभाव को प्रकट करता है। प्रेम का भाव प्रेममूलक शब्द और प्रेममयी मूर्ति के द्वारा संसार में प्रकट होता है। वीरता का भाव वीरता प्रकाशक शब्द और वीररूप के द्वारा प्रकट होता है इत्यादि इत्यादि व्यष्टिभाव के विचार द्वारा यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि, जिस प्रकार व्यष्टि जगत् में प्रत्येक भाव का प्रकाश नाम और रूप के द्वारा देखा जाता है, उसी प्रकार समष्टि सृष्टि में भी परमात्मा के चित्त का सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) भाव नामरूपात्मक जगत् रूप से प्रकट होता है। जगत् का प्रसव करने वाली और सिसृक्षामूलिका उनकी यह इच्छाशक्ति ही माया है अर्थात् संसार सृष्टि करने वाली उनकी इच्छाशक्ति का नाम ही माया है। यही माया नामरूपमयी होकर समस्त दृश्य संसार को प्रकट करती है, इसी लिये श्रुति कहती है–

''नामरूपे व्याकरवाणि'' ''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरा नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते'' ''आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता''

परमात्मा में नामरूपमयी माया की उपाधि होने से ही दृश्यजगत् का विकास होता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि परमात्मा से भाव, भाव से नामरूप और उसका विकार और विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रम के अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्ग से ही लय होगा यह निश्चय है; अर्थात् परमात्मा से भाव, भाव से नामरूप द्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार बन्धन में आ गये हैं तो यदि मुक्ति लाभ करना हो तो प्रथम नामरूप का आश्रय लेकर नामरूप से भाव में और भाव से भावग्राही परमात्मा में चित्तवृत्ति का लय होने पर तब मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियों ने नाम और रूप के अवलम्बन से साधन की विधियां बताई हैं जिसका नाम मन्त्रयोग है, यथा, मन्त्रयोग संहिता योगशास्त्र में–

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ।।
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठिति जनः सर्वोऽध्यक्षणेतत्समीक्ष्यते ।।
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः ।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात् ।।
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चाऽनुसृत्य वै ।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात् ।
यो योगः साध्यते सोऽयं मन्त्रयोगः प्रकीर्तितः ।।

सृष्टि नामरूपात्मक होने के कारण नामरूप के अवलम्बन से ही साधक सृष्टि के बन्धन से अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमि पर मनुष्य गिरता है उसी भूमि के अवलम्बन से पुनः उठ सकता है। नामरूपात्मक विषय जीव को बन्धनयुक्त करते हैं, नामरूपात्मक प्रकृति- वैभव जीव को अविद्या से ग्रस्त किये रहते हैं, अतः अपनी अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्ति की गति के अनुसार नाममय शब्द और भावमय रूप के अवलम्बन से जो योगसाधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।

मनुष्य भावों का दास है। भावशून्य होकर मनुष्य का अन्तःकरण एक मुहूर्त भी स्थिर नहीं रह सकता है। वैदिक दर्शनों का यह सिद्धान्त है कि भावशुद्धि के द्वारा असत्कार्य भी सत् हो जाता है और भावमालिन्य के हेतु सत्कार्य भी असत् हो जाता है। उदाहरणरूप से कहा जा सकता है कि मनुष्यहत्या एक असत् कार्य है, परन्तु यदि वह धर्मयुद्ध के लिये या राजा अथा साधुजनों की रक्षा के लिये हो, तो वह धर्मकार्य कहलायेगा; अर्थात् मनुष्यहत्या रूप कार्य असत् होने पर भी भावशुद्धि के कारण सत् हो जाता है। इसी प्रकार आश्रयदान एक पुण्यकार्य है; परन्तु कोई मनुष्य यदि किसी पापी का पाप जानता हुआ भी उसे आश्रय और प्रश्रय दे, तो उससे उसका वह आश्रय तथा

अभयदानरूप सत्कार्य भी असत्भाव के कारण पापों में गिना जायगा। इस प्रकार सनातनधर्म में भावशुद्धि का प्राधान्य यथेष्ट वर्णित है। भावतत्व के समझने के लिये इस प्रकार समझना चाहिए कि, भोग्य विषय को देखकर इन्द्रिय का सम्बन्ध अनुमान किया जाता है, इन्द्रिय की क्रिया को देखकर अन्तःकरण की वृत्ति का अनुमान हो सकता है और तब अन्तःकरण की वृत्ति के मूल में जो भाव रहता है वह अनुभूत होता है स्त्रीरूप विषय को प्रथम दर्शनेन्द्रिय ने देखा, फिर उससे अन्तःकरण में नाना वृत्तियों का उदय हुआ परन्तु उस द्रष्टा का भाव यदि मलिन रहा तो वह उस स्त्रीरूप विषय को इन्द्रियभोग्य मान लेगा और यदि उसके अन्तःकरण में भाव की शुद्धता रही तो वह उस स्त्रीरूप विषय को मातृरूप में अथवा जगज्जननी की प्रतिमूर्तिरूप में देखने में समर्थ होगा। इसी प्रकार सनातनधर्म में भाव का यथार्थ स्वरूप गृहीत होकर भावशुद्धि के बहुत से उपाय निश्चित हुए हैं।

अविद्याग्रस्त मनुष्यों के चित्त में वैषयिक भाव का प्राधान्य होने के कारण वे सदा ही अपने अपने भावों के अनुकूल संसार के लौकिक रूप और नाम में फंसे रहते हैं, अतः उनके चित्त से लौकिक भावों को दूर करके दिव्य भावों का उदय करने के लिये लौकिक नाम तथा रूप के बदले दिव्य नाम और दिव्य रूपों की साधनविधि मन्त्रयोग में बताई गई है। मन्त्रयोग में स्थूल मूर्ति की पूजा हुआ करती है। शास्त्र में स्थूलमूर्तिमयी प्रतिमा आठ प्रकार की कही गई है, यथा, श्रीमद्भागवत में–

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ।।

श्रीभगवान् की प्रतिमा आठ प्रकार की हुआ करती है, यथा– पाषाणमयी प्रतिमा, काष्ठनिर्मित प्रतिमा, लोहनिर्मित प्रतिमा, लेपन द्वारा बनाई हुई प्रतिमा, तूलिका से चित्रित प्रतिमा, बालू के द्वारा निर्मित प्रतिमा, अन्तःकरण में ही कल्पित प्रतिमा और विविध प्रकार की मणियों के द्वारा निर्मित प्रतिमा। केवल पुराण में ही नहीं वेद में भी

श्रीभगवान् की इस प्रकार पाषाणादिमयी मूर्ति बनाने की आज्ञा है, यथा अथर्ववेद में–

"एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनुः"

हे भगवान्! आप इस पाषाणमयी मूर्ति में विराजमान हो जायँ, आपका शरीर यही पाषाण हो, ऋग्वेद में भी–

"कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः"

यथार्थ ज्ञान कौन है, प्रतिमा कौन है, समस्त जगत् का कारण कौन है, घृत के समान संसार में सार वस्तु कौन है और समस्त प्रकृति की परिधि में विद्यमान कौन है इत्यादि रूप से प्रतिमा में भगवद्भाव की स्थिति का वर्णन पाया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि, मन्त्र योग में विहित मूर्तिपूजा सर्वथा वेदादि शास्त्र के अनुकूल है।

'जीविकार्थे चापण्ये'

इस सूत्र के भाष्य द्वारा महाभाष्यकार ने भी प्राचीन काल में मूर्तिपूजा प्रचलित थी ऐसा प्रमाण कर दिया है; क्योंकि इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि जो मूर्ति जीविका निर्वाह के लिये हैं, विक्रयार्थ नहीं है उसमें कन् प्रत्यय का लोप होता है, अतः व्याकरण के प्रमाण से मूर्तिपूजा का प्रचलन सिद्ध हुआ। आज दिन भी भारतवर्ष में देवमूर्ति बनाकर जीविका निर्वाह करने वाले बहुत हैं। उनके विषय में ही यह सूत्र है। अब आकारविहीन ज्ञानस्वरूप अद्वितीय परमात्मा की इस प्रकार नश्वर स्थूलमूर्ति में उपासना कैसे सम्भव हो सकती है, यह बताया जाता है। अनेक पाश्चात्य और एतद्देशीय अर्वाचीन पुरुषों ने हिन्दू जाति की मूर्तिपूजा के तत्त्व को न समझ कर उसकी पाषाणपूजक, जड़ोपासक, पौत्तलिका आदि कह कर निन्दा की है। किसी किसी ने तो वेद से भी मन्त्रों को उठाकर उनका मिथ्या तथा अप्रासंगिक अर्थ करके अपनी अज्ञानता का परिचय प्रदान किया है। उदाहरण रूप से समझ सकते हैं कि–

"न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद् यशः"

यह जो वेद का प्रमाण अर्वाचीन पुरुष उठाते हैं, वहां पर प्रसंग मिलाने से निश्चय होता है कि वहां "प्रतिमा" शब्द का अर्थ पाषाणादिमयी प्रतिमा नहीं है परन्तु 'उपमा' है; अर्थात् पूरे मन्त्र का अर्थ यह है कि जिस परमात्मा का नाम और यश महत् है, उसके साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती है। इसी प्रकार केनोपनिषद् के कई एक मन्त्रों का अर्थ अर्वाचीन पुरुषों ने अप्रासंगिक रूप से किया है, यथा–

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदं उपासते ।।

जो आंख से नहीं देखा जाता है और जिसके रहने से आँख में दृष्टिशक्ति आती है, उसे ब्रह्म जानो, जिस मूर्ति आदि में उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है इत्यादि। इन मन्त्रों का अर्थ तो अर्वाचीन पुरुषों ने किया है परन्तु कटाक्ष करने में प्रसंग का विचार ठीक नहीं किया है। इन मन्त्रों में जो उपास्य वस्तु ब्रह्म नहीं है ऐसा कहकर उपासना की निन्दा की गई है सो निर्गुण ब्रह्मोपासना के विषय में है, सगुण ब्रह्मोपासना के विषय में नहीं है; क्योंकि निर्गुण ब्रह्म मन, वाणी, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियों से अतीत होने के कारण मूर्ति आदि के द्वारा उनकी उपासना नहीं हो सकती है। सगुण ब्रह्म ईश्वर ही भावगम्य होने के कारण भावद्योतक नाम और रूप की सहायता से उनकी उपासना होती है। इसलिये निर्गुण ब्रह्मोपासना विषयक मन्त्रों का अर्थ सगुणोपासना के सम्बन्ध से करके मूर्तिपूजा आदि की निन्दा करना केवल वेद और शास्त्र का अपलाप करना मात्र है और सबसे अधिक विचार की बात यह है कि हिन्दू धर्म में नश्वर पाषाणमयी मूर्ति की पूजा होती ही नहीं तब इसके मण्डन में प्रयत्न करने का प्रयोजन क्या है? ऊपर जो आठ तरह की प्रतिमा का वर्णन वेदादि शास्त्र-प्रमाण से किया गया है, हिन्दू जाति उन सब पाषाणादिमयी प्रतिमाओं की पूजा नहीं करती है, परन्तु पाषाणादिमयी प्रतिमाओं में पूजा करती है; अर्थात् निराकार परमात्मा की सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी अनन्त लीलाओं के अनन्त भावों में से कुछ भावों को लेकर उन्हीं के अनुसार तथा उन्हीं भावों के प्रकाशक रूप

पाषाण, काष्ठ, धातु तथा मणि आदि उपकरणों से बनाकर उन भावों की और परमात्मा की सर्वव्यापिनी शक्ति को प्रतिमारूपी आधार के द्वारा प्रकटित करके उस शक्ति की पूजा करती है। अब निराकार भगवान् की इन सब पाषाणादि प्रतिमाओं के अवलमबन से किस प्रकार से भावद्वारा स्थूलपूजा हो सकती है और इस प्रकार की साकार भावमयी मूर्तियों की पूजा का प्रयोजन भी क्या है, यह नीचे बताया जाता है।

आर्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार परमात्मा के तीन भाव माने गये हैं, यथा– ब्रह्म, ईश और विराट्। इन सब भावों के यथार्थ लक्षण इस ग्रन्थ के उपासनायज्ञ नामक प्रबन्ध में पृथक् पृथक् वर्णित किये गये हैं। उन सब लक्षणों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि, परमात्मा का निर्गुण ब्रह्म भाव प्रकृति से परे है, यथा, श्रुतिः–

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति
न मनो न विद्मो न विजानीमः '

निर्गुण ब्रह्म चक्षु, वाक् आदि इन्द्रियां तथा मन और बुद्धि से भी परे हैं। जो वस्तु जिससे अतीत है, वह उसके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती है। जब निर्गुण ब्रह्म प्रकृति से तथा मन बुद्धि से भी अतीत है तो प्रकृति की किसी वस्तु के अवलम्बन के द्वारा भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती है, अतः मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि के द्वारा निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना वृथा चेष्टा मात्र है; परन्तु क्या इससे यह सिद्धान्त निकालना पड़ेगा कि निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना और उपलब्धि होती ही नहीं? सो नहीं। निर्गुण निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उपासना भिन्न प्रकार की है, यथा, कठोपनिषद् में–

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।।
एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।

महत्तत्व के परे अव्याकृत प्रकृति है और अव्याकृत प्रकृति के परे निर्गुण निराकार परम पुरुष परमात्मा हैं, उनसे परे और कोई भी नहीं है।

ये ही परमात्मा सकल भूतों में गूढ़ हैं। सूक्ष्म अतीन्द्रियदृष्टि-सम्पन्न योगिगण उनको सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा अनुभव करते हैं। और भी मुण्डकोपनिषद् में–

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।"

आनन्दरूप अमृतरूप परमात्मा को धीर योगिराज प्रज्ञा के द्वारा देखते हैं। वह प्रज्ञा कैसी है? इसके उत्तर में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं–

"ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा" "ऋतं सत्यं विभर्तीति ऋतंभरा।"

जिस प्रज्ञा के द्वारा सत्य वस्तु का अनुभव हो वही ऋतम्भरा प्रज्ञा है। उस प्रज्ञा के उदय होने से क्या होता है? भगवान् पतञ्जलि लिखते हैं–

"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी"

उससे उत्पन्न संस्कार प्रकृतिसम्भूत अन्य सभी संस्कारों को नष्ट करता है। केवल स्थूल सूक्ष्म सर्वदर्शी ज्ञान संस्कार ही रह जाता है। तदनन्तर निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि कब होती है?

"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः"

प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार का भी निरोध होकर सर्व-निरोध होने से निर्बीज अर्थात् निर्विकल्प समाधि होती है। इसी निर्विकल्प समाधि में निर्गुण निराकार परब्रह्मसत्ता की उपलब्धि होती है। इस समय विकल्परहित होने से ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय या ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटी का पूर्ण विलय हो जाता है और साधक अपनी प्रकृति की समस्त सूक्ष्मदशा को अतिक्रम करके प्रकृति से अतीत परब्रह्मभाव में विराजमान हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि जब तक साधक की चित्तवृत्ति तथा बुद्धि प्रकृति की सीमा के भीतर है तथा ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटी विद्यमान है, तब तक निर्गुण निराकार ब्रह्म का पता नहीं लग सकता है। दैवी मीमांसादर्शन में कहा है–

"ब्रह्मणोऽधिदैवाधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम्"

"स्वरूपेण तदध्यात्मरूपम्"

ब्रह्म का अधिदैव और अधिभूतरूप तटस्थलक्षणवेद्य है और उनका अध्यात्मरूप स्वरूपलक्षणवेद्य है। तटस्थलक्षण त्रिपुटी के अन्तर्गत है और स्वरूप लक्षण त्रिपुटी से अतीत है। परमात्मा का ईश तथा विराट् भाव तटस्थलक्षण के द्वारा अनुभवगम्य है, परन्तु ब्रह्मभाव तटस्थ लक्षण से अतीत है जैसा कि ऊपर बताया गया है। शास्त्र में तटस्थभाव के अन्तर्गत त्रिपुटी के अवलम्बन से परमात्मा की जितने प्रकार की उपासना बताई गई है, वे सब ही उनके ईश या विराट् भाव के लक्ष्य से हैं ऐसा समझना चाहिए। अब नीचे सगुणब्रह्म ईश्वर की उपासनाके लिये भावमयी मूर्त्तिकी क्या आवश्यकता है सो बताया जाता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है:-

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।

मुझमें चित्तको अर्पण करके श्रद्धाके साथ नित्ययुक्त होकर जो मेरी उपासना करता है, वह श्रेष्ठ भक्त है। जो भक्त समस्त इन्द्रियोंको संयत करके, सर्वत्र समबुद्धि तथा सर्वभूतकल्याणनिरत होकर मेरे अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, चिन्तासे अतीत, कूटस्थ, अचल तथा ध्रुव भावमें अपने चित्तको अर्पण करता है, वह भी मुझे ही प्राप्त करता है। केवल भेद इतना ही है कि देहाभिमानी साधकके लिये देहरहित अव्यक्त ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही क्लेशसे होती है क्योंकि जहाँ देहका अभिमान है, वहाँ निराकारकी भावना अत्यन्त कठिन होनेसे वह दुःखसे प्राप्त होती है। इन श्लोकोंपर विचार करनेसे निश्चय होगा कि प्रथम श्लोकमें परमात्माकी भावमयी साकार मूर्त्तिमें मनःसंयोगके लिये

श्रीभगवान्‌ने आज्ञा की है और इस प्रकार साकार पूजा तभीतकके लिये बतायी है, जबतक साधकका देहाभिमान दूर न हो और पूर्ण वैराग्यप्राप्ति तथा इन्द्रिय-संयमशक्ति साधकमें न आवे। और परवर्त्ती श्लोकोंमें देहाभिमानी तथा पूर्णवैराग्यहीन साधकोंके लिये निर्गुण निराकारका साधन कठिन बताकर उसी समय निराकारकी साधनाके लिये यथार्थ काल बताया गया है, जिस समय कि साधकका देहाभिमान पूर्ण नष्ट हो जाय और उसको परमवैराग्यकी प्राप्ति हो। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। निराकार निराकार कहकर चीत्कार करना और संसारको भ्रमजालमें फँसाना सहज है परन्तु देहाभिमान रहते हुए निराकारमें मनःसंयोग करना बहुत ही कठिन, अपितु असम्भव ही हे। इसके दो कारण हैं—

प्रथम मनका स्वाभाविक चाञ्चल्य और द्वितीयतः अनादिकालसे मनका अभ्यास। अपञ्चीकृत महाभूतके विकारसे जो अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है उसमें मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये चार वस्तु हैं। इनमेंसे बुद्धि निश्चयकारिणी है, परन्तु मनका धर्म निरन्तर सङ्कल्प विकल्प करना ही है। अतः संकल्प-विकल्पधर्मी मनके लिये सर्वदा चञ्चल रहना स्वाभाविक है। मनको शान्त करनेके लिये प्रयत्न करना उसे अपने स्वाभाविक धर्मसे च्युत करना है। इसलिये मनके वास्ते यह संग्राम जीवन-मरण संग्राम होनेसे उसे शान्त करनेका पुरुषार्थ करने पर भी वह अधिक चंचल होने लगता है। प्रत्येक वृत्तिकी शक्ति तभी पूरी तरहसे प्रकाशित होती है, जब उस वृत्तिके दमन करनेका अवसर आवे; क्योंकि बन्धन दशामें वृत्तिके अधीन रहने पर उसकी शक्ति एतादृश प्रकाशित नहीं होती है। दमन करते समय ही वृत्तिकी समग्र शक्ति तथा चित्तपर अधिकारका प्रभाव मालूम होने लगता है। यही कारण है कि अन्य समय में मन चाहे साधारण रूपसे ही चंचल रहे, जिस समय मनको रोकनेके लिये प्रयत्न किया जाता है, उसी समय मनकी सारी शक्ति प्रकट होने लगती है जिससे चाञ्चल्य बहुत ही बढ़ कर मनको क्या जाने कहाँ भगाता रहता है। इसी विषय को श्रीभगवान् वेदव्यासजीने महाभारतमें वर्णन किया है, यथाः—

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनी।।
समाहितं क्षणं किञ्चिद्ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।।

कमल के पत्र पर स्थित जल जैसा चंचल रहता है उसी प्रकार ध्यान के समय मन भी चंचल होता है। कभी थोड़ा सा शान्त होकर मन ध्यान में निविष्ट होता है परन्तु पुनः वायु की तरह चंचल होकर ध्येय वस्तु से दूर चला जाता है।

श्रीगीताजीमें अर्जुनके मुखसे:—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

मन अतिचञ्चल उन्मत्त और वेगवान् है, इसका दमन करना वायु को शान्त करने की तरह सुकठिन है, इस बात को सुनकर श्रीभगवान् ने—

''असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्''

यह बात ठीक है कि मन चंचल और दुर्दमनीय है ऐसा कहकर निज मुख से ही मन की चंचलता का विषय प्रकट किया है। अब विचार करने की बात यह है कि जब साकार ध्येय वस्तु का अवलम्बन मिलने पर भी मन की यह दशा है कि ध्येय वस्तु में एकाग्र न होकर जिधर-किधर भटकता रह जाय और कमलदलस्थित जलकी तरह चंचल होता रहे तो जहाँ किसी प्रकार की ध्येय वस्तु का अवलम्बन ही नहीं है उस प्रकार निराकार उपासना में चंचल मन कैसे स्थिर हो सकता है? अतः मन के पूर्ण शान्त होने के पहले तथा जितेन्द्रियता, संयम, पूर्णवैराग्य और देहाभिमान नाश होने के पहिले निराकार में मनःसंयमकी चेष्टा करना उन्मत्त की चेष्टा की तरह प्रमादपूर्ण और निष्फल है। अर्वाचीन पुरुषों ने कहीं-कहीं ऐसा कहकर साकार पूजा कर कटाक्ष किया है कि साकार मूर्ति के भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें चित्त धावमान होने से स्थिर नहीं हो सकता। यह बात ठीक है और इसीलिये शास्त्रमें यदि सभी अङ्गों पर

एकाएक चित्त स्थिर करना कठिन होवे तो किसी एक प्रिय अङ्गपर ही मन:संयोग करनेकी आज्ञा दी गई है। इसलिये अर्वाचीन पुरुषोंका यह कटाक्ष व्यर्थ है और इस कटाक्षके साथ स्वपक्षपातपुष्टिके लिये उन्होंने जो लिखा है निराकारमें मन खूब दौड़ता है और अन्त न पानेसे स्थिर हो जाता है यह बड़ी हास्यजनक बात है; क्योंकि एक बालक भी इस बात पर विचार कर सकता है कि यदि दौड़कर कोई अवलम्बन प्राप्त करना हो तब तो चित्तके शान्त होनेकी कुछ आशा भी है, परन्तु जहाँ निराकार होनेसे दुर्बल मनका कोई भी अवलम्बन नहीं है और अनादि अनन्त होनेसे दौड़नेकी भी सीमा नहीं है तो निराकारमें मन शांत न होकर दौड़ताही रह जायगा जिससे अविराम दौड़नेकी अशांति और चाञ्चल्य ही बना रहेगा, मन कभी शांत नहीं हो सकेगा अत: इस प्रकार युक्ति सर्वथा भ्रमपूर्ण है। देहाभिमान रहते हुए निराकारमें मनोनिवेश की असम्भावना का दूसरा कारण अनादिकाल से मन का अभ्यास है। यह दृश्य संसार मनका ही विलास मात्र है।

''मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम्''

अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतमय चराचर दृश्य जगद्विलास मनके ही कारण है। मनही नामरूपमय संसारको बनाकर इन्द्रियाँ और वृत्तियोंकी सहायतासे नाम तथा रूपमें फँसा हुआ रहता है। अविद्योपाधियुक्त जीव मनका दास होकर संसारके भिन्न-भिन्न नाम तथा रूपमें फँस जाता है और इसीसे नवीन-नवीन संस्कारोंको प्राप्त करता हुआ जन्ममृत्युचक्रमें परिभ्रमण करता रहता है। इसलिये नाम और रूप के प्रति मनकी आसक्ति अनादि अभ्यासजनित होनेके कारण अनादि है। इस अनादिरूप तृष्णाको छोड़नेके लिये प्रबल वैराग्यके विना मनुष्य कदापि समर्थ नहीं हो सकता इसीलिये महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति निरोधके वास्ते—

''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:''

श्रीभगवान्‌ने गीतामें—

''अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते''

यही अभ्यास और वैराग्यरूपी उपाय मन:स्थिर करनेके लिये बताया है। परमात्मामें चित्त स्थितिके यत्नका नाम अभ्यास और विषयका दोषदर्शन करते हुए विषयत्यागकी चेष्टाका नाम वैराग्य है; परन्तु जबतक संसारके रूपसे प्रबल वैराग्य न हो तबतक यह निश्चय है कि रूपरहित परमात्माके भावमें चित्त स्थिर कभी नहीं होगा, क्योंकि अनादि अभ्यासके कारण रूपमें आसक्त चित्त रूपको ही चाहेगा और संसारके रूपके अवलम्बनसे ही शान्त होनेमें अभ्यास होनेके कारण रूपके आश्रयसे ही शान्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं हो सकेगा; परन्तु संसारके रूपमें क्षणभङ्गुर सुख होनेके कारण नित्यानन्दप्रयासी जीव उसमें चिरशान्तिको प्राप्त हो नहीं सकता; अधिकन्तु वैषयिक रूपमें काम लोभ मोहादि वृत्तियोंका दास होकर और भी अवनतिको प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर शमादि अभ्यासके कारण रूपका अवलम्बन होना भी जरूरी है इसलिये परमकरुणामय महर्षियोंने मन्दमति मायाबद्ध जीवोंकी वैषयिक तृष्णाको घटाकर भगवद्भावमें साधकको निमग्न करनेके लिये निराकार सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अनन्तलीला—विलासमयी भावमयी मूर्त्तिका विधान साधनकी प्रथम दशामें मन्त्रयोगके अधिकारियोंके वास्ते किया है।

श्रीभगवान्‌की लीलामयी भावमयी मधुर मूर्त्तिमें चित्तको अर्पण करनेसे, उनके किसी अङ्गमें अथवा सर्वाङ्गमें ही प्रेमके द्वारा चित्तको आसक्त करनेसे, विषयासक्त चित्त धीरे-धीरे संसारके रूपोंको छोड़ देगा और सांसारिक काममोहादि वृत्तियां नष्ट होकर भगवान्‌के रूपोंमें आसक्ति द्वारा केवल श्रद्धा भक्ति और सात्त्विक प्रेम ही वह प्राप्त करेगा। इस तरहसे आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ, पूर्ण वैराग्य प्राप्ति होनेसे जब उसकी नामरूपासक्ति बिलकुल छूट जायगी, तब वह राजयोगोक्त रूपरहित, अद्वितीय, सर्वव्यापी परब्रह्म भावमें निमग्न होकर नि:श्रेयसपद प्राप्त करेगा। यही श्रीभगवान्‌की साकार मूर्त्तिकी पूजाका प्रयोजन है। इसलिये मन्त्रयोगका सिद्धान्त है, जैसा कि पहले बताया गया है—

तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।

जिस प्रकार जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है, उसीको पकड़कर उठ सकता है, वायु या आकाशको पकड़कर नहीं उठ सकता, उसी प्रकार जब नाम तथा रूपको पकड़ कर ही जीव बन्धनदशाको प्राप्त हो गया है तो नाम तथा रूपके द्वारा ही वह उन्नतिको प्राप्त करेगा। यह नाम तथा रूप बन्धनदायी वैषयिक नाम और रूप नहीं, किन्तु यह नाम और रूप मुक्तिप्रदानकारी श्रीभगवान्‌के दिव्य नाम और दिव्य रूप हैं इसीलिये शास्त्रमें अधिकारि निर्णय प्रसङ्गमें कहा गया है:—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः ।।
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ।।

साधारण अधिकारी निर्गुण, निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेमें अशक्त होते हैं, उनके लिये सगुण साकार मूर्तिपूजाका विधान किया जाता है। सगुण साकार पूजाके द्वारा चित्तके वशीभूत होनेपर उपाधिरहित निर्गुण परब्रह्मकी साधनाका अधिकार साधक प्राप्त कर सकते हैं। तथा च—

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पनम् ।।

चिन्मय, अप्रमेय, निर्गुण और निराकार ब्रह्मकी रूपकल्पना साधकके कल्याणके लिये ही की जाती है। मन्त्रयोगसंहितामें लिखा है:—

आकारो न हि विद्यते किमपि वा रूपं परब्रह्मणो
रूपं तत्परिकल्प्यते जनगणैः किञ्चिज्जगद्रूपिणः ।
ध्यायद्भिर्निजवृत्तिमार्गचलितैर्देवं परं रूपिणम्
मन्त्रं वा सततं जपद्भिरिह तैर्मुक्तिः परा लभ्यते ।।

परब्रह्म निराकार है, उसका कोई रूप नहीं है। रूपरहित और विराटरूपी परमात्माके रूपकी कल्पना साधकगण भाव द्वारा किया करते

हैं। अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार भगवद्रूपका ध्यान और बीजमन्त्रके जपसे योगी शीघ्र ही मुक्ति पदको प्राप्त कर लेते हैं।

अब नीचे भावके अनुसार सगुणोपासनामें रूपकी प्रतिष्ठा प्रतिमा आदि द्वारा किस प्रकारसे होती है सो बताया जाता है। अर्वाचीन पुरुषोंने भावका यथार्थ तत्त्व न समझकर अनेक मिथ्या काल्पनिक दोषारोप भावपर किये हैं, यथा:—"तुम मृत्तिकामें सुवर्ण रजतादि, पाषाणमें हीरा पन्ना आदि और धूलिमें मैदा शक्कर आदिकी भावना कर वैसा क्यों नहीं बनाते?" इत्यादि इत्यादि। अर्वाचीन पुरुषोंका इस प्रकारका प्रलाप भावतत्त्वके न समझनेका ही फल है। जिन भावोंके अनुसार पाषाणादिमें भगवन्मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा होती है वे भाव मिथ्या मानसिक कल्पनामय नहीं हैं कि धूलिमें मैदा आदिकी झूंठ मूट भावना कर ली जाय। वे सब भाव श्रीभगवान्‌की सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी अनन्त लीलाओंके भावोंमेंसे महर्षियोंकी समाधिशुद्ध बुद्धिके द्वारा अनुभूत सत्य तथा दिव्य भाव हैं और इन्हीं सत्य और दिव्य भावोंका परिप्रकाश जिन रूपोंके द्वारा हो सकता है, सगुणोपासनाकी प्रतिमाओंमें उन्हीं रूपोंकी प्रतिष्ठा की गई है। अब नीचे भावोंके अनुसार कुछ रूपोंका तात्पर्य वर्णन किया जाता है। वेदमें:—

"विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्"
"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"
"तामग्निवर्णां दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये"
"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे"
"त्र्यम्बकं यजामहे"
"यो भूतानामधिपती रुद्रस्तं" आदि।

इन विविध मन्त्रोंके द्वारा सगुणोपासनामें आराध्य पञ्चमूर्तियोंका वर्णन किया गया है और साथ ही साथ—

"उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाराणि"

ऐसा कह कर उपासनाराज्यमें प्रतिमापूजनकी महिमा और परमावश्यकता बताई गई है। इन्हीं पंचमूर्ति तथा अन्यान्य मूर्तियोंकी जो

विचित्र प्रतिमाएं बनवा कर पूजी जाती हैं, उन सबोंके पृथक् पृथक् रूप वर्णनमें भावकी पृथक्ता ही कारण है सो निम्नलिखित प्रबन्धसे स्पष्ट हो जायगा। शास्त्रमें शेषशायी भगवान्की ध्यानयोग्य मूर्ति इस प्रकारसे वर्णित है:—

ध्यायन्ति दुग्धादिभुजङ्गभोगे
शयानमाद्यं कमलासहायम् ।
प्रफुल्लनेत्रोत्पलमञ्जनाभं
चतुर्मुखेनाश्रितनाभिपद्मम् ।।
आम्नायगं त्रिचरणं घननीलमुद्य-
च्छ्रीवत्सकौस्तुभगदाम्बुजशंखचक्रम् ।
हृत्पुण्डरीकनिलयं जगदेकमूल-
मालोकयन्ति कृतिनः पुरुषं पुराणम् ।।

इस ध्यानमें शेषशायी भगवान्की निम्नलिखित मूर्ति बनाई गई है, यथा:—भगवान् क्षीरसमुद्रमें भुजङ्ग अर्थात् अनन्त नागपर सोये हुए हैं, कमला अर्थात् लक्ष्मीरूपिणी प्रकृति उनकी पादसेवा कर रही हैं, उनके नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई है, उनका रङ्ग घननील है, उनके गलदेशमें कौस्तुभमणिविभूषित माला है, उनके चार हाथ हैं, जिनमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं, वे जगत्के आदिकारण तथा भक्तजनहृत्सरोजविहारी हैं, इनके ध्यान तथा इनकी भावमयी मूर्तिमें तन्मयता प्राप्त करनेसे भक्तका भवभ्रम दूर होता है। अब निराकार भगवान्की प्रकृतिके साथ अनन्त लीलाओंमेंसे कौन कौन भावोंको लेकर शेषशायी भगवान्की यह मूर्ति बताई गई है सो विचार करने योग्य है। यह सब रूपवर्णन कविकल्पना या अलङ्कार नहीं है; परन्तु दिव्य भावोंकी ही विकाशरूप दिव्य मूर्ति है। क्षीरका अनन्त समुद्र सृष्टि उत्पत्तिकारी अनन्त संस्कार समुद्र है, जिसको कारणवारि करके भी शास्त्रमें वर्णन किया है। कारणवारि जल नहीं है; किन्तु संसारोत्पत्तिके कारण अनन्त संस्कार हैं। इसका पूर्ण वर्णन वेदके अध्यायमें पहले ही

किया गया है। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजनीय है। संस्कारोंको क्षीर इसलिये कहा गया है कि क्षीरकी तरह इनमें उत्पत्ति और स्थितिविधानकी शक्ति विद्यमान है। ये सब संस्कार प्रलयके गर्भमें विलीन जीवोंके समष्टि संस्कार हैं। भुजङ्ग अर्थात् अनन्त नाग, अनन्त आकाशका रूप है जिसके ऊपर श्रीभगवान् सोये रहते हैं। श्रीभगवान् अनन्त आकाशमें संस्कारोंके भीतर निद्रित रहते हैं। उनके सोनेके लिये अनन्त आकाश इसलिये चाहिये कि वे स्वयं अनन्त रूप हैं सान्त अर्थात् देशकालवस्तुपरिछिन्न नहीं हैं। अनन्तदेवकी सहस्रफणा महाकाशकी सर्वव्याकता प्रतिपादन करती हैं, क्योंकि शास्त्रमें 'सहस्र' शब्द अनन्ततावाचक है। आकाश ही सबसे सूक्ष्म भूत है, आकाशकी व्यापकतासे ही ब्रह्मकी व्यापकता अनुभव होती है और आकाशसे परे ही परम पुरुषका भाव है इस कारण महाकाशरूपी अनन्त शय्यापर भगवान् सोये हुए हैं। संस्कारोंके बीचमें श्रीभगवान्के सोये रहनेका कारण यह है कि उनके रहे बिना संस्कारके द्वारा पुनः सृष्टि नहीं हो सकती; क्योंकि संस्कार जड़ हैं और श्रीभगवान् चेतन हैं, चेतनकी शक्तिसे ही जड़में कार्यकारिणी और फलप्रदायिनी प्रेरणा उत्पन्न होती है। श्रीभगवान् प्रलयके बाद अपना चेतन बीच संस्कारोंमें अर्पण करते हैं और उसीसे पूर्वकल्पसञ्चित संस्कारानुसार सृष्टि होने लगती है, यथा—मनुसंहितामें:—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।

पहले जल अर्थात् संस्कारराशिको उद्‌बुद्ध करके उसमें बीच अर्थात् अपनी चेतन शक्तिका सन्निवेश किया। कमला अर्थात् प्रकृति उनकी पादसेवा कर रही है। इस भावमें प्रकृतिके साथ श्रीभगवान्का सम्बन्ध बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा है:—

''मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्''

प्रकृति ही माया और परमात्मा उस प्रकृतिके प्रेरक मायी हैं। मायोपहित चैतन्य परमात्मा मायाके द्वारा सृष्टि करते हैं, परन्तु मायाके अधीन नहीं हैं, जीव ही मायाके अधीन हैं। माया परमेश्वरकी दासी बनकर उनके अधीन होकर उनकी प्रेरणाके अनुसार सृष्टि, स्थिति, प्रलय

करती है। इसी दासी भाव अर्थात् अधीनता भावके बतानेके अर्थ शेषशायी भगवान्की पादसेविकारूपसे मायाकी मूर्त्ति बताई गई है।

उनके नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। शेषशायी भगवान्में प्रलयकालमें सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी ब्रह्मविष्णुरुद्रशाक्त प्रच्छन्न रहती है और सृष्टिके समय उन्हींसे धीरे धीरे लीनशक्ति प्रकट होती है। उन्हींमेंसे सृष्टिकारिणी शक्ति ब्रह्मा है जो कि श्रीभगवान्के नाभिकमलसे प्रकट हुई है।

''यौ वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्व''
''हिरण्यगर्भ जनयामास पूर्व''

इन वचनोंसे श्रुतिने भी ब्रह्माजीकी उत्पत्ति बताई है। ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके विज्ञानके विषयमें वेद और पुराणके प्रबन्धोंमें पहले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है। शरीरके अन्यान्य अङ्गोंमेंसे नाभिके साथ सृष्टिकार्यका सम्बन्ध अधिक है। इसलिये परमात्माकी नाभिसे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजीका उत्पन्न होना विज्ञानसिद्ध है। कमल अव्याकृतसे व्याकृतिके अभिमुखीन प्रकृतिका रूप है और उसीसे ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है, यथा-मुण्डकोपनिषद्में—

''अन्नात्प्राणः''

अन्न अर्थात् व्याकृतावस्थ प्रकृति, प्राण अर्थात् समष्टि प्राण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, इस प्रकारसे श्रीभगवान् शंकराचार्यजीने अर्थ किया है जैसा कि पहले ही वेदके अध्यायमें बताया गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें कमलके विषयमें लिखा है:—

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।
तस्मात् पद्मात्समभवद्ब्रह्मा वेदमयोनिधिः।।
मानसस्येहया मूर्त्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थ पृथिवी पद्ममुच्यते।।
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः।।

तदनन्तर श्रीभगवान्‌ने एक तेजोमय दिव्य कमलकी सृष्टि की जिसमें हाथमें वेदोंको लेकर ब्रह्माजी प्रकट हुए। श्रीभगवान्‌के सृष्टिकार्यजनित संकल्पसे ही ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई और उनके आसनरूपसे पृथिवीको ही पद्म कहा गया है। यहाँ पर पृथिवी शब्द व्यकृतावस्थ ब्रह्माण्डका बोधक है, जिसका—

"तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्"

इस प्रकारसे मनुजीने अपनी संहितामें वर्णन किया है। गगनविस्तारी मेरु पर्व्वत ही इस पद्मकी कर्णिका है और उसी पद्ममें विराजमान होकर ब्रह्माजी समस्त संसारकी सृष्टि करते हैं। यही श्रीभगवान्‌के नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीकी उत्पत्तिका भाव है।

श्रीभगवान्‌के शरीरका रङ्ग घननील है। आकाशका रंग नील है। निराकार ब्रह्मका शरीर निर्देश करते समय शास्त्रमें उनको आकाशशरीर कहा है, क्योंकि सर्वव्यापक अति सूक्ष्म आकाशके साथ ही उनके रूपकी कुछ तुलना हो सकती है, यथा-श्रुतिमें—

"आकाशशरीरं ब्रह्म" **"आकाशसलिङ्गात्"** इत्यादि।

अत: आकाशशरीर ब्रह्मका रंग नील होना विज्ञानसिद्ध है। उनके गलदेशमें कौस्तुभमणिविभूषित माला है—श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

श्रीभगवान्‌की सत्ताको छोड़कर कोई भी जीव पृथक् नहीं रह सकता, समस्त जीव सूत्रमें मणियोंकी तरह परमात्मामें ही ग्रथित हैं। समस्त जीव मणि हैं, परमात्मा सर्वजीवमें विराजमान सूत्र हैं। गलेमें मालाकी तरह जीव परमात्मामें ही स्थित हैं। इसी भावको बतानेके लिये उनके गलेमें माला है। सब मालाकी मणियोंके बीचमें उज्ज्वलतम कौस्तुभमणि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव कूटस्थ चैतन्य है। ज्ञानरूप तथा मुक्तस्वरूप होनेहीसे कूटस्थरूपी कौस्तुभकी इतनी ज्योति है। मालाकी

अन्यान्य मणियां जीवात्मा और कौस्तुभ कूटस्थ चैतन्य हैं। यही कौस्तुभ तथा मणिसे युक्त मालाका भाव है। श्रीभगवान् चतुर्भुज हैं—गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अधिकारानुसार जो साधक जिस प्रकारसे श्रीभगवान्‌की भक्ति करते हैं, उनको श्रीभगवान् अधिकारानुसार धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षफल प्रदान करते हैं। इसी चतुर्वर्ग फलप्रदानके अर्थ ही श्रीभगवान्‌के चार हाथ हैं। यही चतुर्भुज मूर्तिका भाव है और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इस चतुर्वर्गके परिचायक शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। इस प्रकारसे क्षुद्र मूर्तिमें उनके विश्वरूपकी कल्पना की गई है। अत: इन सब वर्णनोंके द्वारा सिद्धान्त हुआ कि किस प्रकारसे सृष्टिस्थितिप्रलयके अनन्त भावोंके अनुसार निराकार भगवान्‌की रूपकल्पना होती है और उन्हीं रूपोंके अनुसार प्रतिमा बनाकर भक्त निज निज अधिकारानुसार श्रीभगवान्‌की पूजा करके मुक्तिभूमिमें अग्रसर हो सकता है। जिन भावोंके अनुसार रूपकी प्रतिष्ठा होती है भक्त उसी रूपका ध्यान करते करते उन्हीं भावोंमें अपना चित्त विलीन कर सकता है और भावसे चित्तविलय करके भावग्राही भगवान्‌का दर्शन कर सकता है। शेषशायी भगवान्‌के साथ सर्वशक्तिमान, जगन्माता द्वारा सेवित, तत्त्वातीत और जीवको चतुर्वर्ग फल देनेवाले भगवान्‌का सम्बन्ध रहनेसे उनके भावोंमें चित्त विलीन करके भक्तलोग शीघ्र ही प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपदको प्राप्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार समस्त विश्वव्यापिनी प्रकृतिके भावोंके अनुसार भगवान्‌की मूर्त्तिका वर्णन होता है, उसी प्रकार प्रकृतिके परिच्छिन्न भावोंके अनुसार भी देवदेवियोंकी रूपकल्पना होती है। इस प्रकार रूपकल्पनामें प्रकृतिके जिस भावपर उस देवताकी चेतनशक्ति कार्यकारिणी है, उसी भावके अनुसार उस देवता या देवीकी मूत्ति बनाई जाती है। दृष्टान्तरूपसे ब्रह्माजीकी मूर्त्तिका विज्ञान समझ सकते हैं। ब्रह्माजी प्रकृतिके अन्तर्गत राजसिक भावपर अधिष्ठान करते हैं। इसलिये ब्रह्माजीका रङ्ग लाल है; क्योंकि रजोगुणका रङ्ग लाल है, यथा-श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में—

''अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्''

त्रिगुणमयी प्रकृति लोहित, शुक्ल तथा कृष्णवर्णा है। रजोगुण लोहित, सत्त्वगुण शुक्ल और तमोगुण कृष्णवर्ण है। समष्टि अन्त:करण ब्रह्माजीका शरीर है जैसा कि वेद और पुराणके अध्यायमें कहा गया है इसलिये ब्रह्माजीके चार मुख हैं; क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, ये अन्त:करणके चार अङ्ग हैं। क्रियाकालमें ज्ञानकी अप्रधानता रहनेपर भी ज्ञानकी सहायता बिना क्रिया ठीक ठीक नहीं चल सकती है। इसलिये ज्ञानके रूप नीरक्षीर-विवेकी हंसको ब्रह्माजीने वाहन कर रक्खा है और वाहन होनेके कारण उसीकी सहायतासे कार्य्य भी करते हैं इत्यादि इत्यादि। ब्रह्माजीकी मूर्तिके भावोंको विचार कर देखने से पता लग जायगा कि प्रकृतिके राजसिक भावकी लीलाके अनुसार ही ब्रह्माजीकी मूर्ति-कल्पना की गई है। योगशास्त्रमें शिवजीका रूप निम्नलिखित भावसे वर्णन किया गया है, यथा—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्राऽवतंसम् ।
रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृगवराऽभीतिहस्तं प्रसन्नम् ।।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम् ।
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम् ।।

इस ध्यानमें शिवजी चांदीके पहाड़के समान श्वेतवर्ण तथा चन्द्रकलासे भूषित हैं। वे उज्ज्वलाङ्ग, प्रसन्नचित्त तथा चतुर्हस्तमें परशु, मृग, वर और अभयके धारण करनेवाले हैं। व्याघ्रचर्मके पहननेवाले देवादिदेव परमात्मा समस्त देवताओंके आराध्य हैं और संसारके आदिकारण भवभयनाशी पञ्चमुख तथा त्रिनेत्र हैं। शिवजीका यह भाव सृष्टिस्थितिप्रलयंकारी ईश्वरका भाव है जो सृष्टिके साथ ही साथ जीवको आत्यन्तिक प्रलयके द्वारा भवभयनाशन मुक्तिपद प्रदान भी करते हैं। इस शिवरूप परमात्माके तमोगुणमय संहार भावको धारण करनेसे रुद्रमूर्त्ति भी प्रकट होती है, जो प्रलयके समय समस्त ब्रह्माण्डका नाश करती है अत: शिवरूपमें एक शान्तिमय ईश्वरभाव और दूसरा संहारकारी रुद्रभाव विराजमान है और शास्त्रमें जो शिवरूपका स्वतन्त्र स्वतन्त्र भाव और

मूर्ति बताई गई है, वह सब इन्हीं दो भावोंके अनुसार है जो कि नीचे क्रमशः बताया जायगा। उनके ईश्वरभावमें जैसा कि ऊपर बताया गया है समस्त प्रकृतिका विलास उन्हींकी कृपासे उन्हींके ऊपर प्रकाशित है इसलिये शिवजी श्वेतगिरिके तुल्य मूर्तिमान्, पंचमुख त्रिनेत्र और चन्द्रशेखर हैं। प्रकृतिका समस्त विलास उन्हींके शरीरमें होनेसे उनका रङ्ग श्वेत है; क्योंकि जहां पर प्राकृतिक समस्त वर्णोंका विकाश होता है, वहां श्वेतवर्ण ही होता है। उनका पंचमुख स्वरूप प्राकृतिक पञ्चतत्त्वोंका रूप है जिसके विलासके द्वारा अपूर्व शोभामय ब्राह्माण्डकी उत्पत्ति होती है। इसलिये शिवजीके पञ्चमुखों का हास्य ही प्रकृतिकी ब्रह्माण्डविकाशमयी दिव्य छटा है। उनके दो नेत्र पृथिवीके तथा आकाशके हैं, तृतीय नेत्र सूर्य या ज्ञानाग्नि है, क्योंकि सूर्यात्मा बुद्धिका अधिदैव है इसलिये इसी ज्ञाननेत्रके द्वारा मदन भस्म हुआ था। चतुर्थ ज्योति का स्थान चन्द्रकला है जो ज्योतिका भी आधार और मनका भी अधिदैव होनेसे संसारका प्रकाशक है। इस प्रकारसे उनके ईश्वरभाव द्वारा समस्त संसारका प्रकाश होता है, यथा-श्रुति—

''तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति''

उनकी ही दीप्तिके अनुसार समस्त ज्योतिष्मान् पदार्थोंकी दीप्ति है और उनकी ही ज्योतिसे समस्त संसार आलोकित है। उनके ईश्वर भावोंमें त्रिशूल त्रिगुणका रूप है, जिसके ऊपर विश्वरूपी वाराणसी स्थित है। जबतक शिवकी सत्ता त्रिगुणमयी प्रकृतिके भीतर प्रकट रहेगी तब तक वाराणसीका नाश नहीं हो सकता। उनके चार हाथोंमें परशुमृगवराभीति-मुद्राके द्वारा चतुर्वर्गफल-दान शक्ति सूचित की गई है, यथा—जिस हस्तमें मृग है उसी हस्तमें काम अर्थात् सकल मनोरणपूर्णकारी मृगमुद्रा है। जिस हस्तमें परशु है उसी हस्तमें अर्थ है जो कि शत्रुनाश और दिग्विजयकी मुद्रा है। जिस हस्तमें वर है उसीमें धर्म है क्योंकि बिना धर्मके वरणीय सुखकी प्राप्ति असम्भव है और जिस हस्तमें अभय है उसी हस्तमें मोक्ष है क्योंकि बिना मोक्षके आत्यन्तिक भयनाश अर्थात् भवभयनाश नहीं हो सकता है। इस प्रकारसे ऊपर

कथित ध्यानके द्वारा शिवजीका ईश्वरभाव बताया गया है। शिवजीके अन्य दो भाव नीचे बताये जाते हैं, इनमेंसे एकमें प्राकृतिक प्रलय और दूसरेमें आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मुक्तिका भाव बताया गया है। इस भावमें शिव त्रिशूलधारी, भुजङ्गभूषण,भस्मविभूषित, श्मशानवासी, कपालमाली, श्वेतकाय, हरिप्रिय, व्याघ्राम्बरधारी तथा भिखारी हैं। ये सब इनके रूप प्राकृतिक प्रलय तथा आत्यन्तिक प्रलयके भावानुसार प्रकट होते हैं। जिस समय एक ब्रह्माण्डका नाश हो जाता है, वही प्राकृतिक या महाप्रलयका काल है। उस समय ईश्वरकी तामसिक शक्ति रुद्ररूप या कालरूप धारण करके संसारको नष्ट कर देती है। द्वितीय अर्थात् आत्यन्तिक प्रलय मुक्तिको कहते हैं। जिस समय जीव ब्रह्ममें विलीन होकर पृथक् सत्ताको छोड़ देता है। इस प्रलयके साथ महाकालरूपी परमात्माका सम्बन्ध रहता है, यह भी शिवजीका एक भाव है। शिवका त्रिशूल सृष्टिनाशकारी रुद्रभावमें नियत (अदृष्ट) का चिन्ह है जो सर्वथा अबाधित, सर्वनाशकारी और अति प्रबलपराक्रान्त है, जिसके तेजसे समस्त संसारको प्रलयकालमें कालके गर्भमें निमग्न होना पड़ता ही है, परन्तु शिवजीके आत्यन्तिक प्रलयकारी अर्थात् मुक्तिप्रदाता महाकालभावमें यही त्रिशूल आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखरूपी त्रिविध शूलका रूप है; क्योंकि इन्हीं त्रिविध शूलोंके द्वारा पीड़ित होकर ही जीव मुक्तिके लिये महाकालरूपी शिवजीकी शरण लेता है, यथा-सांख्यकारिकामें—

''दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ''

आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक, इन तीनों प्रकारके दुःखांके द्वारा पीड़ित होकर ही जीव त्रिविध दुःखनाशक मुक्तिके लिये जिज्ञासा करता है। रुद्रभावमें भुजङ्गभूषण, भस्मलेपन, श्मशानवास, कङ्कालमाल (अस्थिकी माला) नरकपाल आदि नाशका रूप प्रकाश करनेवाला है। जब रुद्रके द्वारा संसारका नाश होता है, तो उनका अलङ्कार सोने चांदीसे निर्मित न होकर अत्यन्त तमोगुणी और प्राणनाशकारी सर्प ही होना चाहिये। इसलिये रुद्रमूर्ति भुजङ्गभूषण है और

यह भी इसमें दूसरा भाव है कि सर्प जैसा क्रूर तथा हिंस्र जीव भी कालके द्वारा वशीभूत रहता है, जिससे कालकी सर्वग्रासकारी अमोघ गति सिद्ध होती है। प्रलयकालमें समस्त संसारका नाश होकर भस्म ही शेष रह जाता है तथा प्रत्येक जीवका अन्तिम परिणाम भस्म ही है और इसी परिणामके कर्त्ता रुद्रजी हैं। इसलिये उनका शरीर भस्म-भूषित है, चन्दनचचिर्तत नहीं है। समस्त संसारको नष्ट करके श्मशान बनानेवाले रुद्रजीके लिये श्मशानवास विज्ञानसिद्ध होगा, अट्टालिकावास विज्ञानविरुद्ध होगा इसलिये रुद्र श्मसानवासी हैं। उनका कङ्कालमालाधारण और नरकपालधारण भी नाशके ही भावको सूचित करता है। अब इन सब वर्णनोंके साथ महाकालरूपी मुक्तिप्रदाता शिवजीका क्या सम्बन्ध है सो बताया जाता है। महाकालका भुजङ्गभूषण प्रकृतिविलयका लक्षण प्रकट करता है। महाकालमें अपनी सत्ताको विलीन करके जीव जिस समय मुक्तिपद प्राप्त करता है। उस समय उसकी द्वन्द्वबहुल प्रकृति शान्त हो जानेसे धर्म अधर्म, पाप पुण्य, सत्त्वगुण तमोगुण आदि समस्त विरुद्ध वृत्तियाँ उसमें लय होकर एकाकार भावको प्राप्त हो जाती हैं। इसीकी सूचनाके लिये महाकाल भुजङ्ग-भूषण हैं अर्थात् महाकालकी प्रकृतिमें प्रबल तमोगुणका रूप सर्प भी अपना हिंसावृत्तिको भूलकर सत्त्वगुणके साथ शोभायमान है यही इसका भावार्थ है। जगदम्बा गृहिणी और कुबेर भण्डारी होनेपर महाकालरूपी शिवजीका श्मशानवास, भस्मविभूषण, भिक्षापात्र हस्तमें लेकर भिक्षार्थ पर्यटन, त्याग और वैराग्यभावकी सूचना करता है, क्योंकि त्याग तथा वैराग्यका ही सम्बन्ध मुक्तिके साथ है। समस्त संसारकी विभूतिको छोड़कर जो मुमुक्षु भिक्षापात्र हस्तमें लेकर संन्यासी बन सकते हैं वे ही मुक्तिके अधिकारी हो सकते हैं और महाकालके प्रिय बन सकते हैं। ये ही भाव इनके द्वारा प्रकट किये गये हैं, यथा श्रुति—

''न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः''

''पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लोकैषणाया व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति''

कर्म, प्रजा या धनके द्वारा नहीं परन्तु त्यागके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। पुत्रकी इच्छा और धनकी इच्छा और यशोलिप्साको त्याग करके ही मनुष्य संन्यास अवलम्बन कर सकता है। कालरूप रुद्र व्याघ्राम्बरधारी हैं, परन्तु महाकाल दिग्वसन अर्थात् नग्न है। चाहे कितना ही बलशाली जीव हो काल सभीको ग्रास करता है और सभीकी खाल खींचकर उसे मृत्युके ग्रासमें डालता है। इसी भावके प्रकाश करनेके अर्थ रुद्र व्याघ्राम्बरधारी हें; क्योंकि हिंस्र पशुओंमें शेर सबसे बलवान् है, परन्तु उसकी भी खाल खींचकर रुद्रने अपना वस्त्र बनाया है। अन्य वेशमें महाकालके शरीरमें कोई वस्त्र नहीं है, जिसका यह तात्पर्य है कि महाकालरूपी परमात्मा देशकालके द्वारा अपरिच्छिन्न और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें सर्वव्यापक है। जो वस्तु असीम और सर्वव्यापक है, उसे वस्त्रके द्वारा ससीम और आवृत नहीं कर सकते। इसलिये महाकाल दिग्वसन हैं परन्तु कालका सम्बन्ध एक एक ब्रह्माण्डके साथ रहनेके कारण कालकी सीमा ब्रह्माण्डकी आयुके द्वारा परिच्छिन्न है इसलिये कालरूप रुद्र वस्त्र पहना करते हैं। महाकालका तृतीय नेत्र जिसका वर्णन पहिले ही कर चुके हैं ज्ञाननेत्र है। इसलिये उसकी स्थिति कूटस्थ चैतन्यके स्थानके ऊपर ललाटमें है। ज्ञाननेत्रका स्वरूप बतानेके लिये ही उसी नेत्रके द्वारा मदनदहनका वृत्तान्त शास्त्रमें प्रसिद्ध किया गया है। शास्त्रमें कामकी तीन दशाएँ बताई गई हैं। यथा-संस्कार दशा, चिन्त्यमान दशा और भुज्यमान दशा। जिस दशामें काम-सम्बन्धीय स्थूलक्रिया तथा सङ्कल्प विकल्परूपसे उसकी चिन्ता भी नहीं रहती है, कामकी वह दशा संस्कार दशा कहलाती है। कामकी चिन्त्यमान दशामें कामका सङ्कल्प विकल्प होता रहता है और तृतीय अर्थात् भुज्यमान दशामें भोगरूपसे कामकी स्थूल क्रिया होती है। इन तीन दशाओंमें कामके द्वारा ही ज्ञान आवृत होता है और किस तरहसे होता है सो गीतामें लिखा है, यथा—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।

जिस प्रकार धूमके द्वारा अग्नि, मलके द्वारा आदर्श (कांच) और गर्भचर्मके द्वारा गर्भ आवृत होता है, उसी प्रकार ज्ञानियोंके नित्यशत्रु और अग्निकी तरह अतृप्त कामके द्वारा ज्ञान आवृत होता है। इसमें प्रधान दृष्टान्त संसार दशागत कामके लिये है; अर्थात् जिस प्रकार धूमके द्वारा अग्नि आवृत होनेपर भी दाहादि कार्य कर सकता है, उसी प्रकार चित्तमें सूक्ष्मरूपसे स्थित काम ज्ञानको बाह्यरूपसे अधिक आवृत नहीं कर सकता है। द्वितीय दृष्टान्त चिन्त्यमानदशागत कामके लिये है; अर्थात् जिस प्रकार दर्पणके मलयुक्त होनेपर उसकी प्रतिबिम्बग्रहणशक्ति मात्र नष्ट होती है किन्तु स्वरूपकी हानि नहीं होती है, उसी प्रकार कामकी चिन्त्यमान अवस्थामें ज्ञानपर आवरण आ जानेपर भी स्वरूपकी हानि नहीं होती है। तृतीय दृष्टान्त भुज्यमान दशागत कामका है; अर्थात् जिस प्रकार चर्मावृत गर्भ हस्तपदादि विस्तारपूर्वक स्वकार्य नहीं कर सकता है और यथार्थमें उपलब्ध भी नहीं होता है उसी प्रकार कामकी बाह्य भोगदशामें ज्ञान सम्पूर्णरूपसे आच्छन्न हो जाता है। इन तीनों प्रकारके कामके नाशके लिये योगदर्शनमें कहा है।

"ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः"
"ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः"

सूक्ष्मरूपमें अन्तःकरणमें स्थित कामादि ज्ञान द्वारा अविद्याके नाशके साथ ही नष्ट होते हैं और स्थूल वृत्तिरूपमें प्रकाशमान काम ध्यानके द्वारा नष्ट होता है। भगवानके चरणकमलोंके ध्यानमें सदा चित्त निविष्ट रहने से कामक्रिया और कामचिन्ता नष्ट हो जाती है; परन्तु अन्तःकरणमें निहित कामका सूक्ष्म संस्कार ध्यान द्वारा नष्ट नहीं हो सकता है। इसलिये ध्यान द्वारा कामकी चिन्ता और क्रिया बन्द होने पर भी संस्कार भीतर रहनेसे जड़से काम नष्ट नहीं हो सकता है। इसलिये कामके पदार्थ सामने आने पर पुनः कामका उदय हो जाता है। इसका आमूल नाश संस्कारतकके नाशके द्वारा ही हो सकता है और संस्कारका

नाश संस्कारके कारणरूप अविद्याके नाशके द्वारा और अविद्याका नाश विवेकख्याति अर्थात् ज्ञानके द्वारा होता है। इसलिये ज्ञाननेत्रके द्वारा ही मदन भस्म होकर आमूल नाशको प्राप्त हो सकता है। यही ज्ञानस्वरूप शिवजीका तृतीय नेत्र है। शास्त्रमें सत्त्वगुणका रंग श्वेत, रजोगुणका लाल और तमोगुणका कृष्ण बताया गया है, यथा-श्वेताश्वतरमें—

"अजामेकां लोहितशक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः"

सत्त्वरजस्तमोगुणानुसार श्वेतलोहितकृष्णवर्णा, जन्मरहित और अद्वितीय प्रकृति रूपयुक्त अनेक प्रजाओंकी सृष्टि करती है; परन्तु क्या कारण है कि शिवजी तमोगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी श्वेतवर्ण हैं और विष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी कृष्णवर्ण हैं? इसका तात्पर्य यह है कि जो चेतनशक्ति क्रिया तथा फल दोनोंको प्रदान करती है, उसके भीतर जिस भावका प्रकाश रहता है बाहर ठीक उसके विपरीत भावका प्रकाश रहेगा इसीलिये सत्त्वाधिष्ठाता विष्णुके भीतर सत्त्वगुणका प्रकाश रहनेके कारण बाहर तमोगुणका विलास है और इसीलिये विष्णुजीका रङ्ग घननील है। इसी प्रकार तमोधिष्ठाता शिवजीके भीतर तमोभावका प्रकाश रहनेके कारण बाहर सत्त्वगुणका प्रकाश है और इसीलिये शिवजी श्वेतवर्ण हैं; परन्तु रजोगुणमें केवल क्रियाशक्ति रहनेके कारण तथा फलप्रदानशक्ति न रहनेके कारण रजोगुणके अधिष्ठाता भीतर बाहर दोनों ओर एक प्रकृतिके हैं और इसलिये रजोगुणके अधिष्ठाता ब्रह्माजीका रङ्ग लाल है। प्रत्येक चेतनशक्तिकी पूजा फललाभके लिये होती है। इसलिये रजोगुणमें केवल क्रियाशक्ति रहनेसे और फलदानशक्ति न रहनेसे रजोगुणकी अधिष्ठाता चेतनशक्तिकी पूजा नहीं हो सकती है। यही कारण है कि ब्रह्माजीकी पूजा नहीं होती है। शास्त्रमें सत्त्वगुण और तमोगुणको अन्योन्यमिथुनवृत्तिक कहा गया है। दो वस्तुओंकी प्रकृतिमें परस्पर सम्बन्ध हो तो उन्हें अन्योन्यमिथुनवृत्तिक कहा जाता है। प्रकाश तथा अन्धकार, ज्ञान तथा अज्ञान, स्वर्ग तथा नरक, ऊर्द्ध्वगति और अधोगतिके विचारसे सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रकृति एकही है। केवल

एक प्रकृति ही नहीं दोनोंमें शक्ति भी तुल्य रूप है; अर्थात् जीवको उन्नत करनेकी जितनी शक्ति सत्त्वगुणमें है, जीवको अवनत करनेकी उतनीही शक्ति तमोगुण में है इसलिये सत्त्वगुण तथा तमोगुणमें अन्योन्यमिथुन सम्बन्ध है। यही कारण है कि सत्त्वगुणके अधिष्ठाता विष्णु और तमोगुणके अधिष्ठाता शिवजीमें परस्पर तन्मयासक्तिका भाव विद्यमान है। हरिहरका जो अपूर्व प्रेमसम्मेलन शास्त्रमें बताया गया है उसका यही कारण है, यथा-देवीभागवतमें—

शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम ।
उभयोरन्तरं नास्ति अन्योन्यासक्तचेतसोः ।।

शिव विष्णुके प्राण हैं और विष्णु भी शिवके प्राण हैं, परस्परासक्तचित्त हरिहरमें कोई भेद नहीं है। सबसे प्रथम जो विष्णु भगवान्‌की एक शेषशायी मूर्त्तिका वर्णन किया गया है वह विष्णु भगवान्‌की सप्त प्रधान मूर्त्तियोंमेंसे एक मूर्त्तिका वर्णन है, इसी प्रकार श्रीविष्णु भगवान्‌की अन्यान्य मूर्त्तियोंका भाव भी समझना उचित है और श्रीमहादेवकी मूर्त्तिका एक ही रूप वर्णन करके और और मूर्त्तियोंका कुछ कुछ रहस्य कह दिया गया है, जिससे जिज्ञासुओंको साधारण ज्ञानकी प्राप्ति हो सके। हरिहर विज्ञानका विस्तारित रहस्य भक्ति और योगके अध्यायमें वर्णित हुआ है।

शिवजी पृथिवी तत्त्वके अधीश्वर हैं। इसलिये पृथिवी तत्त्वकी सर्वश्रेष्ठ विकाशभूमि हिमालयका सर्वोच्च शिखर कैलास शिवजीका स्थान है, ऐसा शास्त्रमें पाया जाता है। शिव प्रकृतिमें द्वन्द्वका अभाव होनेसे, गुणातीत ईश्वरमें सकल गुणोंका लय होनेसे, कैलासनिवासि जीवगण हिंसाशून्य होते हैं और सिंह, मृग, सर्प, नकुल आदि परस्पर विरुद्ध प्रकृतियुक्त जीवगण भी विरोध और हिंसा भूलकर शान्तिके साथ विचरण करते हैं। शिवजीका वाहन वृषभ धर्मका रूप है, क्योंकि धर्मका ही आश्रय करके संसारमें शिवसतताके द्वारा समस्त कार्य होता है। पशुजातिमें सत्त्वगुणका पूर्ण विकास गौमें ही है और सत्त्वगुणकी पूर्णतामें

ही धर्मका पूर्ण विकाश है इसलिये शिववाहन वृषभ है। यही सब प्रकृतिलीलामूलक भावों के अनुसार सगुण शिवोपासनापरायण भक्तकी सहायताके लिये शिवमूर्त्तिका रहस्य है। इस प्रकार भाववैचित्र्यपूर्ण शिवमूर्त्तिके अतिरिक्त शिवलिंग-पूजाकी विधि भी शास्त्रमें पाई जाती है, यथा-याज्ञवल्क्य संहितामें—

प्रशस्तं नार्मदं लिगं पक्वलम्बूफलाकृति ।
मधुवर्ण तथा शुक्लं नीलं मरकतप्रभम् ।।

नर्मदा नदीसे प्राप्त पक्वजम्बूफलकी तरह आकारयुक्त, मधुवर्ण तथा शुक्ल या नील मरकत मणितुल्य शिवलिङ्ग पूजनमें प्रशस्त है। मत्स्यसूक्तमें—

दृष्ट्वा लिंगं महेशस्य स्वयम्भूतस्य पार्वती ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः परे ब्रह्मणि लीयते ।।

स्वयम्भू महादेवके लिङ्गका दर्शन करनेसे भक्त लोग समस्त पापसे मुक्त होकर परब्रह्मपदमें विलीन हो जाते हैं। स्कन्दपुराणमें—

आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका ।
आलयः सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ।।
लिङ्गत्वाल्लिङ्गमित्युक्तं सदेवासुरकिन्नरैः ।
प्रयच्छामि दिवं देवि यो मल्लिङ्गार्चने रतः ।।
त्यक्त्वा सर्वाणि पापानि निर्गदो दग्धकल्मषः ।
मन्मना मन्नमस्कारो मामेव प्रतिपद्यते ।।

आकाशरूप ब्रह्मलिङ्ग है और पृथिवी रूपिणी जगदम्बा उसकी पीठिका है। लिङ्ग समस्त देवताओंका आलय है और जीव भावका लय इसके द्वारा होनेसे इसका नाम लिंग है। लिंगपूजापरायण भक्त समस्त पापसे मुक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। लिंगपुराणमें—

मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णु स्त्रिभुवनेश्वरः ।
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः ।।
लिङ्गवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः ।
तयोः संपूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ ।।

लिंगके मूलमें ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु और उपरि भागमें ओंकाररूप सदाशिव विराजमान हैं। लिंगकी वेदी जगज्जननी जगदम्बा हैं और लिंग साक्षात् परमात्मा हैं अतः लिंगपीठकी और लिंगकी पूजासे प्रकृति और परमात्माकी पूजा हुआ करती है। लिंगके विश्वाधार होनेके विषयमें स्कन्दपुराणमें लिखा है—

सर्वे लिङ्गमया लोकाः सर्वे लिंगे प्रतिष्ठिताः ।
तस्मादभ्यर्च्चयेल्लिंगं यदीच्छेच्छाश्वतं पदम् ।।
ब्रह्मा हरश्च भगवान् विश्वेदेवा उमा हरिः ।
लक्ष्मीर्धृतिः स्मृतिः प्रज्ञा विधिर्दुर्गा शची तथा ।।
रुद्राश्च वसवः स्कन्दो विशाखः शाख एव च ।
नैगमेशश्च भगवान् लोकपाला ग्रहास्तथा ।।
सर्वे नन्दिपुरोगाश्च गणा गणपतिः प्रभुः ।
पितरो मुनयः सर्वे कुबेराद्याश्च सत्तमाः ।।
आदित्या वसवः साध्या अश्विनौ च भिषग्वरौ ।
विश्वेदेवा समहतः पशवः पक्षिणो मृगाः ।।
ब्रह्मादिस्थावरं यच्च सर्वं लिंगे प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्थापयेल्लिंगमैश्वरम् ।।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ये तीन प्रधान शक्तियाँ, उमा, लक्ष्मी, शची आदि देवियाँ, इन्द्रादि समस्त लोकपाल तथा समस्त देवगण, समस्त पितृगण तथा मुनिगण, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि भिन्न भिन्न लोकस्थ जीवगण, पशु, पक्षी, मृग यहाँ तक कि, ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त चराचर समस्त सृष्टि ही लिंगमें अवस्थित है। अतः परमात्माके इस लिंगकी स्थापना शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्तिके लिये भक्तजन अवश्य ही करें, तथा इसकी पूजाके द्वारा सर्वसिद्धि प्राप्त करें। लिंगपुराणमें लिंगके स्वरूपके विषयमें अपूर्व वर्णन मिलता है; यथा—

अलिंगो लिंगमूलन्तु अव्यक्तं लिंगमुच्यते ।
अलिंगः शिव इत्युक्तो लिंगं शैवमिति स्मृतम् ।।

प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुर्लिंगमुत्तमम् ।
गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शादिवर्ज्जितम् ।।
अगुणं ध्रुवमक्षय्यमलिंगं शिवलक्षणम् ।
गन्धवर्णरसैर्युक्तं शब्दस्पर्शादिलक्षणम् ।।
जगद्योनिं महाभूतं स्थूलं सूक्ष्मं द्विजोत्तमाः ।।
विग्रहो जगतां लिंगमलिंगादभवत् स्वयम् ।
सप्तधा चाष्टधा चैव तथैकादशधा पुनः ।।
लिंगान्यालिंगस्य तथा मायया वितता‌नि तु ।
लिङ्गवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः ।।
लयनाल्लिङ्गमित्युक्तं तत्रैव निखिलं सुराः ।।

अलिङ्ग लिङ्गका मूल है, लिंग अव्यक्त है, अलिंग शिव है और लिंग शैव है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिसे अतीत तथा गुणरहित परब्रह्म अलिंग है। वही शिव है। लिंग शैव है अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिके साथ युक्त शिव है अर्थात् मायोपहित चैतन्य सगुण ब्रह्म ईश्वर है। इसी लिंग और अलिंगके लक्षणका परवर्त्ती श्लोकोंके द्वारा वर्णन किया गया है,--तथा रूप रस आदि पञ्चतन्मात्राओंसे रहित निर्गुण, ध्रुव, क्षयरहित, शिवसत्ता अलिंग है और रूपरसादि पंचतन्मात्राओंसे युक्त जगद्योनि, स्थूल सूक्ष्म तथा कारण प्रकृतिसंबद्ध सृष्टिमें विग्रह रूपसे प्रकट सत्ता ही लिंग कहलाता है, जो अलिङ्गसेही प्रकट हुआ है। अलिंगसे प्रकट यह लिंग मायाके द्वारा सप्त, अष्ट तथा एकादशरूपसे संसारमें व्याप्त है। लिङ्गकी देवी महादेवी जगदंबा है और लिंग साक्षात् महेश्वर है। समस्त जीवोंका लयस्थान होनेसे लिंग नाम है। इसी लिंगमें समस्त देवताओंकी स्थिति है। जिस समय मूलप्रकृति परमब्रह्मसे अलग दिखाई देती है, उसी अवस्थाको व्यक्तावस्था कहते हैं और उसी समयमें यह लिंगमय जगत् अलिंग ब्रह्ममें भासमान होता है। इस कारण व्यक्तावस्थामें पुरुषसत्ता लिङ्गरूपसे और प्रकृतिसत्ता पीठरूपसे अर्च्चनीय होती है। यह अवस्था सर्वशक्तिमान् सगुण ब्रह्मकी है; परन्तु यह अवश्य समझने योग्य है कि, यद्यपि सगुण ब्रह्ममें प्रकृति पुरुष दोनों की स्वतंत्र

स्वतंत्र सत्ता अनुमेय है परंतु लिंगमें प्रकृति अप्रधान और पुरुषकी प्रधानता रक्खी गई है। लिंग और लिंगपीठके ऊपर वर्णित लक्षणोंके द्वारा सिद्धांत हुआ कि जगदाधार परमात्माकी सगुण पुंसत्ताको ही स्थूल लिंगरूपसे प्रकट किया है और जगज्ननी प्रकृतिकी स्त्री सत्ताकी ही लिंगपीठ रूपसे बताया गया है। रूप भावके अनुसार ही होता है। इसलिये जगदुत्पत्तिकारण परत्मात्माके उत्पत्तिभावको किसी स्थूल रूपमें प्रकट करना हो तो मनुष्य स्थूलसंसारमें उत्पत्तिका कारण जो लिंगका आकार है, उसी रूपमें उसको प्रकट करेगा; क्योंकि मनुष्यकी चित्तवृत्ति उसके सिवाय उत्पत्तिके लिये और किसी रूपकी कल्पना नहीं कर सकती। इसी विचारके अनुसार जगदुत्पतितकारिणी प्रकृतिका भी उत्पत्तिभाव तल्लिङ्गरूपसे लिङ्गपीठ बनाकर स्थूलरूपसे मनुष्य प्रकट कर सकता है अन्यथा नहीं कर सकता। यही लिङ्ग और लिङ्गपीठके एतादृशरूपका तात्पर्य है। अब इस लिङ्गकी पूजामें क्या क्या भाव रहता है सो बताया जाता है। यह बात पहले ही कही गई है कि मंत्रयोगका यह सिद्धान्त है कि जिससे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है उसीके अवलम्बनसे जीव लयकी ओर अग्रसर हो सकता है। जब जगद्योनि परमात्मा लिङ्गकी सत्ता द्वारा तथा जगत्प्रसविनी प्रकृतिकी सत्ता के द्वारा समस्त विश्वका विकाश हुआ है और वेही दो सत्ताएं लिङ्ग और लिङ्गवेदी रूपसे प्रथमाधिकारीके लिये प्रतिष्ठित की गई है, तो यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, लिङ्ग और वेदीमें इसी व्यापक भावके साथ पूजा करने से चित्तवृत्ति स्थूल लिङ्गकी सहायतासे उसकी भूप्रकाश्य व्यापक परमेश्वरसत्तामें धीरे धीरे विलीनताको प्राप्त करेगी, जिससे साधक अनन्तविस्तारमयी मायाकी लीलासे मुक्त होकर कार्यब्रह्मकी सहायतासे कारणब्रह्ममें स्थितिलाभ कर सकेगा। यही लिङ्गपूजाका उद्देश्य और लक्ष्य है। इसी महान् लक्ष्यकी साधक होनेसे ही लिङ्गपूजाकी इतनी महिमा शास्त्रमें वर्णित की गई है। रामायणके उत्तरकाण्डमें शिवभक्त राक्षसराज रावणके शिवलिङ्गपूजा करनेके विषयका प्रमाण मिलता है, यथा—

यत्र यत्र स यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बनदमयं लिंगं तत्र तत्र स्म नीयते ।।

बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिंगं स्थाप्य रावणः ।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चाऽमृतगन्धिभिः ।।

लिंगपूजाके मूलमें और भी एक गूढ़ रहस्य विद्यमान है। मंत्रयोगमें भावकी मुख्यताके अनुसार साधनपद्धति निर्णीत होनेसे लिंगपूजामें भी भावकी महिमाका अपूर्व विलास देखनेमें आता है। यह बात पहलेही कही गई है कि भावकी शुद्धि होनेसे अत्यन्त निन्दनीय वस्तु भी अच्छे स्वरूपमें कल्याणप्रद होकर प्रकट हो सकती है और भावकी अशुद्धि रहनेसे अच्छी वस्तु भी अपने स्वरूपसे च्युत हो जाती है। संसारमें स्त्री और पुरुष परस्पर भोग्य और भोक्ताके संबंध द्वारा बद्ध होकर अधोगतिको प्राप्त करते हैं। उनमें एकके वास्ते दूसरेका रूप और लिंगबंधनका कारण होता है और यह अभ्यास अनादि होनेसे शीघ्र छूट भी नहीं सकता है। अतः अनादि संसारके कारण जो बात छूट नहीं सकती, उसमें भावके परिवर्त्तनसे, उसके द्वारा उत्पन्न चित्तका विकार दूर कर देना, सहज उपाय होगा। अतः कार्य्यब्रह्म कारणब्रह्मका ही रूप होनेसे समस्त संसारके पुरुषोंको शिवरूप समझकर तथा समस्त संसारकी स्त्रियोंको प्रकृतिरूप समझकर उनके लिङ्ग तथा रूपमें शिवशक्तिरूप दिव्यभावका अभिनिवेश चित्तमें उदय करके समस्त संसारको उपासनाका आधार बनानेकी यदि चेष्टा की जाय, तो एतादृश भावशुद्धिकी प्रक्रिया द्वारा मायाकी मोहिनी शक्ति संसारसे नष्ट हो जायगी और स्त्री-पुरुष परस्परमें आसक्त न होकर परस्परको ही दिव्य भावसे देखकर मुक्तिपद प्राप्त करेंगे, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। लिङ्ग और लिङ्गवेदीकी पूजाके द्वारा इस भावकी प्रतिष्ठा होती है, जिसके फलसे हर पार्वतीको घट घटमें आराधना करके जीव दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त तथा संसार-सिन्धुसे मुक्त हो सकता है। यही लिङ्गपूजाके मूलमें गम्भीर रहस्य है, जिसको बुद्धिमान् विचारशील उपासक ही समझ सकेंगे।

शिवोपासनामें प्रायः लिङ्गपूजाकी की ही विशेषता है। इस कारण लिङ्गका रहस्य कुछ कहना आवश्यक समझा गया। उसी प्रकार

विष्णुकी उपासनामें जिस मूर्त्तिकी पूजा अधिक प्रचलित है, उसी मनोमुग्धकारी मूर्त्तिका कुछ संक्षेप रहस्य भी वर्णित किया जाता है जिसका ध्यान निम्नलिखित रूप है, यथा—

उद्यत्कोटिदिवाकराभमनिशं शंखं गदां पङ्कजं
चक्रं बिभ्रतमिन्दिरावसुमतीसंशोभिपार्श्वद्वयम् ।
कोटीरांगदहारकुण्डलधरं पीताम्बरं कौस्तुभो
दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि लसच्छ्रीवत्सचिन्हं भजे ।।

उदय होते हुए अनेक सूर्योंके समान जो दीप्यमान हैं, शङ्ख गदा कमल और चक्रको धारण करते हैं, जिनके दोनों पार्श्वमें लक्ष्मी और वसुमती बैठी हैं, जो अंगद, हार, कुण्डल आदि भूषणोंसे भूषित हैं और पीत वस्त्र धारण किये हैं, जो कौस्तुभमणिसे सुशोभित हो रहे हैं, जिनमें सकल त्रिलोकस्थित हैं और जिनके वक्षस्थलमें श्रीवत्सचिह्न शोभा दे रहा है उनका भजन करता हूँ। इस ध्यानमें विष्णुजीकी कान्ति जो कोटि सूर्यके तुल्य कही गई है। इसका कारण यह है कि विष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठाता होनेके कारण चित्सत्ताके साथ विष्णुका विशेष सम्बन्ध है और चित्सत्ताका रूप शास्त्रमें कोटिसूर्य्यकी तरह बताया गया है। श्रीविष्णुकी अन्यान्य शरीर-शोभा तथा बहुमूल्य अलंकार आदि ब्रह्माण्डकी स्थितिदशाके साथ उनका सम्बन्ध प्रकट करते हैं। इससे पहले शिवमूर्त्तिके रहस्य वर्णन प्रसंगमें बताया गया है कि शिवभावमें तमोगुण और ब्रह्माण्डनाशका सम्बन्ध रहनेसे भुजंग, भस्म आदि शिवजीका अलङ्कार है और श्मशानवास, व्याघ्राम्बरधारण आदि भी नाशको ही सूचित करते हैं; परन्तु विष्णुमूर्तिके साथ ब्रह्माण्डकी स्थितिका सम्बन्ध होनेसे स्थितिदशाकी विलासकलासे विष्णुका शरीर अलंकृत रहता है। ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें सर्वत्र सुजला, सुफला, शस्यश्यामला वसुमती शोभायमाना रहती है और सर्वत्र ही ब्रह्माण्डकी यौवन दशा विलसित रहा करती है। यही कारण है कि विष्णुका शरीर यौवनसुलभसौन्दर्ययुक्त तथा अमूल्य रत्नयुक्त अलङ्कारोंसे और पीतवस्त्रसे सुसज्जित है और

लक्ष्मी तथा वसुमती उनकी दासी रूपिणी हैं। उनके चतुर्हस्त आदि अंग प्रत्यङ्ग तथा वर्णका तात्पर्य पहलेही लिखा गया है। विष्णुमूर्तिके साथ आकाशतत्त्वका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे आकाशचर खगपति गरुड़ विष्णुका वाहन है। इन सब भावानुसार विष्णुजीकी मूर्ति बनाई जाती है।

शक्तिके रूपोंमें दुर्गा देवीका रूप माना गया है। उन्हीं दुर्गादेवीके रूपका भाव समझानेके लिये इस प्रकार समझना चाहिये कि, महिषासुररूप तमोगुणको सिंहरूपी रजोगुणने परास्त किया है और ऐसे सिंहके ऊपर आरोहण की हुई सिंहवाहिनी माता दुर्गा हैं जो कि शुद्ध सत्त्वगुणमयी ब्रह्मरूपिणी सर्वव्यापिनी और दशदिग्रूपी दश हस्तोंमें शस्त्र धारण पूर्वक पूर्ण शक्तिशालिनी हैं। उनको एक ओर बुद्धिके अधिष्ठाता गणपति तथा धनकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी देवी और दूसरी ओर बलके अधिष्ठाता कार्तिकेय तथा विद्याकी अधिष्ठात्री सरस्वती विराजमान हैं। अतः बुद्धि धन और बलसंयुक्ता सर्वशक्तिमयी सगुण ब्रह्मरूपिणी दुर्गादेवी जगज्जननी महामाया हैं। प्रकृतिकी अनन्त शोभा, अनन्त विलास और दिगन्तव्यापिनी अनन्त शक्तिके अनुसारही उनकी मूर्ति बनाई जाती है और कहीं चतुर्हस्तसे, कहीं दशहस्तसे कहीं विविध अलङ्कार और अस्त्र शस्त्रोंके द्वारा विविध भावोंकी सहायतासे उनकी विभूतिका वर्णन किया जाता है। संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय विधानके लिये प्रकृतिका नाना रूपमें विकाश होता है और तदनुसार दश महाविद्या आदि अनेक भावोंमें उनका रूपवर्णन ध्यान और पूजा होती है, जिसमेंसे सगुण पञ्चोपासनामें प्रचलित ध्यान यह है—

सिंहस्था शशिशेखरा मरकतप्रख्या चतुर्भिर्भुजैः
शंखं चक्रधनुः शरांश्च दधती नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता ।
आमुक्तागदहारकंकणरणत्काञ्चीक्वणन्नूपुरा
दुर्गा दुर्गतिहीरिणी भवतु नो रत्नोल्लसत्कुण्डला ।।

जो सिंहारूढ़ा है, जिसके शिरोभागमें चन्द्रमा विराजमान है, जो मरकतके समान हरितवर्णकी है, चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, धनु और

शर धारण की हुई, जो तीन नयनोंसे सुशोभित है, जो अंगद, हार, कङ्कण, काञ्ची, नूपुर इत्यादि भूषणोंसे भूषित है, ऐसी दुर्गा हम लोगोंकी दुर्गतिहारिणी हो। इस ध्यानमें पूर्ववर्णनसे जो कुछ रूपवैचित्र्य बताया गया है सो प्रकृतिकी अनन्त लीलाओंके अनुसार भाववैचित्र्य बताया गया है सो प्रकृतिकी अनन्त लीलाओंके अनुसार भाववैचित्र्यके अनुसार ही है जिसको भावुकजन अपने हृदयके भावराज्यमें सत्य अनुभव करेंगे। यही भाववैचित्र्यके अनुसार देवीकी स्थूल मूर्तिका तात्पर्य है।

विष्णुरूपके प्रधान सात भेद, शिवरूपके प्रधान पाँच भेद और शक्तिरूपके प्रधान २४ भेद तन्त्रोंमें कहे हैं, जिन २४ भेदोंमेसे दश प्रधान भेद दश महाविद्या कहलाते हैं। उक्त दश महाविद्याओंमें कालीरूप प्रथम है। इसी कारण कालीरूपका रहस्य कुछ कहा जाता है। इसी प्रकार सब रूपोंके रहस्य विचित्रतासे पूर्ण हैं जो श्रीगुरुदीक्षासे जाने जाते हैं।

कालीरूपके विषयमें महानिर्वाण तन्त्रमें लिखा है:—

कालसंग्रहणात्काली सर्वेषामादिरूपिणी ।
कालत्वादादिपूतत्वादाद्या कालीति गीयते ।।
त्वमेव सूक्ष्मा त्वं स्थूला व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।
निराकारापि साकारा कस्त्वां वेदितुमर्हति ।।
साकारापि निराकारा मायया बहुरूपिणी ।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका ।।
ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं सरूपारूपभेदतः ।
अरूपं तव यद्ध्यानं अवाङ्मनसगोचरम् ।।
अव्यक्तं सर्वतो व्याप्तमिदमित्थविवर्जितम् ।
अगम्यं योगिभिर्गम्यं कृच्छ्रैर्बहुसमाधिभिः ।।
मनसो धारणार्थाय शीघ्रं स्वाभीष्टसिद्धये ।
सूक्ष्मध्यानप्रबोधाय स्थूलं ध्यानं वदामि ते ।।
अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ।।

कालके साथ सम्बन्ध तथा आदिस्वरूपा होनेसे आद्या काली यह नाम है। काली सूक्ष्मरूपा और स्थूलरूपा भी हैं, व्यक्ता तथा

अव्यक्तरूपिणी, निराकारा और साकारा भी हैं। काली सबकी आदि, अनादि रूपिणी और समस्त संसारकी सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी हैं। निराकार और साकार भेदसे उनका ध्यान द्विविध है। उनके रूपरहित स्वरूपका ध्यान योगी लोग आयाससाध्य समाधि दशामें कर सकते हैं। वह स्थूल इन्द्रियोंका अगम्य, वाक्य और मनसे अतीत, अव्यक्त, सर्वव्यापी और अनिर्द्देश्य है। इस प्रकारके निराकार स्वरूपका ध्यान अतिकठिन होनेसे मनकी धारणा और शीघ्र अभीष्टसिद्धिके लिये सूक्ष्मध्यानमें अधिकारप्राप्तिके अर्थ स्थूल .ध्यानका विधान कियां जाता है। कालमाता, महाज्योतिष्मती, रूपरहिता कालिकाकी ध्यानयोग्य रुपकल्पना उनके गुण तथा सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी क्रियाओंके अनुसार होती है, यथामहानिर्वाण तन्त्रमें—

मेघांगीं शशिशेखरां त्रिनयनां रक्ताम्बरं बिभ्रतीम्
पाणिभ्यामभयं वरं च विकसद्रक्तारविन्दस्थिताम् ।
नृत्यन्तं पुरतो निपीय मधुरं माध्वीकमद्यं महा-
कालं वीक्ष्य विकाशिताननवरामाद्यां भजे कालिकाम् ।।

जिनका अङ्ग मेघके सदृश कृष्णवर्ण है, जिनके ललाटमें चन्द्र है, जो त्रिनयना तथा रक्तवस्त्रधारिणी हैं, जिनके एक हस्तमें वर और अन्य हस्तमें अभय हैं, जो रक्त कमलपर स्थित हैं और जो मधुपानमें रत महाकालको सामने नृत्य करते हुए देख कर हास्य करती हैं, इस प्रकार आद्याशक्तिस्वरूपिणी कालीका ध्यान करें। इस ध्यानमें वर्णित रूपोंके निम्नलिखित भाव महानिर्वाण तन्त्रमें—

श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते ।
प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे ।।
अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः ।
हिताय प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णो निरूपितः ।।
नित्यायाः कालरूपाया अव्याया शिवात्मनः ।
अमृतत्वाल्ललाटेऽस्या शशिचिह्नं निरूपितम् ।।

शशिसूर्याऽग्निभिर्नित्यैरखिलं कालिका जगत् ।
सम्पश्यति यतस्तस्मात्कलितं नयनत्रयम् ।।
ग्रसनात्सर्वसत्त्वानां कालदन्तेन चर्वणात् ।
तद्रक्तवासोरूपेण भाषितं सकलं जगत् ।।
समये समये जीवरक्षणं विपदः शिवे ।
प्रेरणं सर्वकार्येषु वराञ्चाऽभयमीरितम् ।।
रजोजनितविश्वानि विष्टभ्य परितिष्ठति ।
अतो हि कथितं भद्रे रक्तपद्मासनस्थिता ।।
क्रीडन्तं कालिकं कालं पीत्वा मोहमयीं सुराम् ।
पश्यन्ती चिन्मयी देवी सर्वसाक्षिस्वरूपिणी ।।
एवं गुणानुसारेण रूपाणि विविधानि च ।
कल्पितानि हितार्थाय भक्तानामल्पमेधसाम् ।।

जिस प्रकार श्वेत, पीत आदि सभी वर्ण कृष्णवर्णमें लय हो जाते हैं उसी प्रकार महाशक्तिरूपिणी कालीके गर्भमें सभी जीव लयप्राप्त होते हैं इसी भावको प्रकट करनेके लिये कालीका वर्ण कृष्ण निरूपित किया गया है। नित्या, कालरूपी, अव्यया और शिवात्मारूपिणी माताके अमृतरूपा होनेसे सुधाधार चन्द्रका चिन्ह ललाटमें रक्खा गया है। शशि, सूर्य अग्निरूपी त्रिनेत्रके द्वारा प्रकृतिमाता विश्वसंसारका निरीक्षण करती हैं इसलिये उनके तीन नेत्र हैं। समस्त जीवको काली ग्रास करती हैं और कालदन्तसे चर्वण करती हैं इसलिये ग्रस्त जीवोंकी रक्तराशि ही उनका वस्त्ररूप है।

समय समयपर विपत्तियोंसे जीवोंकी रक्षा तथा सकल कार्यप्रेरणाके कारण वर और अभय उनके हस्तमें हैं। रजोगुणसे उत्पन्न विश्वको आवृत्त करके विराजमान रहती हैं इसलिये माता रक्तपद्मासनस्था करके वर्णित की गई हैं मोहमयी मदिराको पान करके काल नृत्य करता है और न्मियी माता साक्षीरूपसे कालकी लीलाको देख हास्य करती हैं यही उनके हास्यमय मुखविकाशका कारण है। इस प्रकारसे साधारण अधिकारीके कल्याणके लिये गुणोंके अनुसार जगज्जननी प्रकृतिकी

विविध रूप कल्पना की गई है। भावान्तरमें कालीको मुण्डमालिनी, दिगम्बरी, मुक्तकेशी, करालवदनी, पीनोन्नतयोधरा, चतुर्हस्ता, शवरूपमहादेवके उपरिभाग स्थित महाकालके साथ विपरीतरतातुरा बताया गया है, जिसके अनुसार ध्यान है:—

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम् ।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ।।
महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बरीम् ।
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम् ।।
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराभिः स्फुरिताननाम् ।
घोररावां महारौद्रीं श्मसानालयवासिनीम् ।।
बालार्कमण्डलाकारां लोचनत्रितयान्विताम् ।
शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु भयानकाम् ।।
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम् ।
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तालम्बिकचोच्चयाम् ।।
शवरूपमहादेवहृदयोपरिसंस्थिताम् ।।
एवं सचिन्तयेत् कालीं सर्वकामार्थसिद्धिदाम् ।।

इस ध्यानमें कालीकी सृष्टिस्थितिसंहारकारिणी तथा परमपद-प्रदायिनी महाशक्तिके भावका वर्णन किया गया है। उनका करालवदन, मुण्डमालाभूषण, घोरदन्त, रक्ताक्त मुखमण्डल, भीषण रव, रौद्री मूर्त्ति, श्मसानालयनिवास, चतुर्दिशाओंमें शिवा आदिकी भीषण ध्वनिसे उत्पन्न भयानक भाव आदि समस्तही उनकी संहार मूर्तिको प्रकट करता है। संसारमें धर्मकी रूपसे संहार करती हैं। पक्षान्तरमें उनका पीनोन्नतपयोधर, मुक्तकेश, सुखप्रसन्नवदन; हास्यमय मुखपङ्कज, वराभयकर स्थिति और मुक्ति प्रदानके भावकी सूचना करता है। आद्या शक्ति समस्त संसारकी जननी और पालनकर्त्री है इसलिये पीनोन्नतपयोधरा स्थूलस्तनी है। उनका प्रसन्नवदन भी स्नेहमयी माताके वात्सल्यभावको सूचना करता है। उनके हस्तकी वरमुद्रा जगत्पालनशीलता परिचय प्रदान करती है और

अभयमुद्रा भवभयनाशकारिणी मुक्तिप्रदान-शक्तिसूचना करती है। उनका हास्यमय मुखपङ्कज मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें सात्त्विक प्रकृतिका ज्योतिर्मय, प्रफुल्लतामय मधुर विकाश है। उनका दिगम्बर रूप मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें अनादि अनन्त प्रकृतिका देशकालानवच्छिन्न व्यापक स्वरूप है। आद्याशक्ति मुक्तकेशी क्यों हैं? संसारका मायाजाल ही उनका केशपाश है जो महामायाके पृष्ठपर सुशोभित रहता है। केशसमूह चञ्चल है इसलिये मायामुग्ध जीव सदा ही चंचल और परिणामस्वभाव हैं। पक्षान्तरमें मुक्तात्मागण मायामें बद्ध और चंचल न होकर स्थिर रहते हैं इसलिये आद्याशक्ति मुक्तपुरुषोंके लिये मुक्तकेशी अर्थात् मुक्तबन्धना है। यह उनके मुक्तकेशी होनेका तात्पर्य है। सद्भाव और चिद्भावके ओतप्रेत विकासके द्वारा ही विश्व संसारकी स्थिति बनी रहती है। उनमेंसे चिद्भावके ज्ञान प्रधान होनेके कारण उसमें क्रियाशकितका अभाव है। परन्तु सद्भावमें क्रियाशक्तिका आधिक्य है। सृष्टि स्थिति संसार दशामें क्रियाका प्राधान्य रहनेसे सद्भाव मुख्य रहता है और चिद्भावकी गौणता रहती है। चिदद्भावके केवल ईक्षण मात्रसे ही सद्भावमें क्रिया होती है। यही कारण है कि प्रकृतिकी संसारलीलामें चिद्भावप्रधान शिव शवरूप होकर उनके चरणतलमें पड़े हुए केवल ईक्षणमात्र कर रहे हैं और सद्भावमयी आद्याशक्ति काली रणरङ्गिणी होकर क्रियाशक्तिका अपूर्व विलास दिखा रही है, पक्षांतरमें मुक्तात्माकी प्रकृति अपने वेगानुसार स्वयं ही कार्य करती है, उसमें मुक्तात्माकी इच्छा या प्रेरणाकी अपेक्षा नहीं रहती है इसी भावको प्रकट करनेके लिये मुक्तात्मा शिव प्रकृतिरूपिणी कालीके चरणतलमें शवरूप होकर सोये हुए हैं और विराट् प्रकृति उसके ऊपर विराजमान होकर अनंत लीलाओंको दिखा रही है।

प्रलय दशाके अनन्तर विराट् प्रकृतिके गर्भमें विलीन अनन्त जीव संस्कारराशि जिस समय क्रियोन्मुख होती है उसी समय निर्गुण भावापन्न परमात्मामें सगुण भावका उदय होता है। परब्रह्मके निष्क्रिय

और इच्छारहित होनेसे उनकी तरफसे कोई भी स्वत: प्रेरणा सृष्टिके लिये नहीं होती है। प्रकृतिकी ही समष्टि जीव-संस्कारानुसार प्रेरणा स्त्री-पुरुषभावरहित नपुंसक ब्रह्ममें सृष्टिकारी पुंभावका विकाश कर देती है। अत: सृष्टिकार्यमें प्रकृति ही प्रधाना है और ईश्वरकी अप्राधानता है। इसी भावको मुख्य रखकर श्रीगीताजीमें वर्णन है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।।
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।

प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं और विकार और गुणसमूह प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। प्रकृति ही कार्य और कारणकी हेतुरूपिणी और पुरुष सुखदुःख भोगके हेतु हैं। अध्यात्म रामायणमें लिखा है—

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
त्याकाङ्क्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित् ।
आनन्दमूर्तिरमया परिणामहीनो-
मायागुणाननुगता हि तथा विभाति ।।

परमात्मामें गमन, अनुशोचन, आकाङ्क्षा, त्याग आदि क्रियाका कोई भी लक्षण नहीं है, मायाके द्वारा परिणाम भी उनमें नहीं होता है, केवल त्रिगुणमयी मायाके गुणानुसार तत्तद्भावापन्न प्रतीत मात्र होते हैं। वास्तवमें माया ही सृष्टि स्थिति संहार कार्यको गुणपरिणामानुसार करती रहती है। अर्थात् शिव परमब्रह्म निष्क्रिय हैं। प्रकृतिकी इस प्रकार प्रधानता और पुरुषकी गौणता बतानेके अर्थही कालीको महाकालके साथ विपरीतरतातुरा कहा गया है; जिसमें शिव शवरूप होकर नीचे विराजमान हैं और आद्याशक्ति महाकालके ऊपर चढ़कर समस्त क्रियाओंको कर रही है। पक्षान्तरमें विपरीतरति मोक्ष प्रदानकारी भावकी सूचना करती है, क्योंकि यह बात विज्ञानसिद्ध है कि जब शिवसत्ताके प्रकृतिके भीतर जानेसे संसारकी उत्पत्ति होती है, तो प्रकृतिसत्ताके शिवके भीतर प्रवेश करनेसे संसारका लय हो जायगा। इसलिये मुक्त पुरुष अपनी

प्रकृतिको अपने भीतर लय करके ही विदेहमुक्ति लाभ कर सकते हैं। प्रकृतिकी विपरीत रतिमें प्रकृति महाकालपर लीला करती हुई अन्तमें महाकालमें ही लय हो जाती है जिससे संसारमें जीवको मुक्तिपद प्राप्त हो जाता है। यही विपरीतरतिका मोक्षप्रद अध्यात्म भाव है और अन्यान्य शास्त्रोंमें दूसरे रहस्य भी ऐसे वर्णित हैं कि, सदा शिवरूपी परब्रह्म निष्क्रिय अर्थात् तत्त्वातीत होकर शवरूप प्रतीयमान होते हैं और सर्वशक्तिमयी महामाया काली महाकालको अपने अधीन करके विपरीतरतारूपसे महाकालके आनन्दको देखती हुई ब्रह्माण्डकी सृष्टि स्थिति लयमें स्वयं ही प्रवृत्त है। यह कार्यब्रह्मका दृश्य है जो निर्गुण चिन्मय ब्रह्ममें भासमान होता है। अत: इसी प्रकार देवीमूर्तिके सब भावोंपर विचार करनेसे सिद्धांत होगा कि, उनकी सारी मूर्ति गुणक्रियानुसार अनन्त भावोंका ही विकाश मात्र है।

भगवान् सूर्यके रूपके विषयमें योगशास्त्रमें ध्यान है, यथा—

भास्वद्रत्नाऽऽढ्यमौलिः स्फुरदधररुचा रञ्जितश्चारुकेशो,
भास्वान् यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः ।
विश्वाकाशावकाशे ग्रहगणसहितो भाति यश्चोदयाद्रौ,
सर्वानन्दप्रदाता हरिहरहृदयः पातु मां विश्वचक्षुः ।।

उत्तम रत्नसमूह जिनके मस्तकको शोभा दे रहे हैं, जो चमकते हुए अधर ओष्ठकी कान्तिसे शोभित हो रहे हैं, जिनके सुन्दर केश हैं, जो दीप्तिमान् अलौकिक तेजसे युक्त हैं, जिनके हस्तोंमें कमल हैं; जो प्रभाके द्वारा स्वर्णवर्ण हैं, ग्रहवृन्दके सहित आकाश देशमें उदय पर्वत पर शोभा पाते हैं, जिनसे समस्त मानवलोग आनन्द प्राप्त करते हैं, हरि और हर जिनके हृदयमें स्थित हैं, ऐसे विश्वचक्षु भगवान् सूर्यदेव मेरी रक्षा करें। इस ध्यानमें सारे रूपोंके द्वारा ब्रह्मके ज्योतिर्मय प्रभावका वर्णन किया गया है। श्रीपरमात्मा सूर्यात्मारूपसे सूर्यमें विराजमान हैं और उनकी परम ज्योतिका स्थूल दृश्य सूर्य है। इसी भावको प्रकट करनेके अर्थही सूर्यध्यानमें इस प्रकार ज्योतिर्मय रूपका वर्णन किया गया है।

सूर्यकिरणमें हरित, पीत, लाल, नील आदि सप्तवर्णके मेलसे ही सूर्यकिरण श्वेतवर्ण है। इसलिये सप्तवर्णके रूपसे सप्त अश्वको सूर्यका वाहन कहा है क्योंकि ज्योतिर्मय कारणब्रह्मसे जब कार्यब्रह्म का आविर्भाव होगा, उस समय सप्त रंगही प्रथम परिणाम होता है। इस कारण व्यक्त अवस्थाका प्रकाशक वाहन और अव्यक्तरूपी ज्योतिर्मय सगुण ब्रह्मका प्रकाशक सूर्यध्यान है और हाथका कमल मुक्तिका प्रकाशक है, अर्थात् जीवको मुक्ति देना जिसके हाथमें है। अरुणका उदय सूर्योदयसे पूर्व होता है। इसलिये सप्ताश्ववाही रथके सारथि सूर्यके सन्मुख विराजमान अरुण हैं। इसी प्रकारसे सूर्य भगवान्‌की मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा ज्योतिःपूर्ण भावोंके अनुसार की गई है।

शास्त्रमें गणपतिकी मूर्त्तिके विषयमें निम्नलिखित ध्यान बताया गया है—

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लंबोदरं सुन्दरं,
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम् ।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं,
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कर्म्मसु ।।

जिनकी आकृति खर्व है, शरीर स्थूल है, मुख गजेन्द्रका है, उदर विशाल है, जो सुन्दर है, जिनके गण्डस्थलसे मदधारा प्रवाहित हो रही है और भ्रमरगण गन्धलोभसे चञ्चल होकर गण्डस्थलमें एकत्रित हो रहे हैं, जिन्होंने अपने दन्तोंके आघातसे शत्रुओंको विदीर्ण करके उनके रुधिरसे सिन्दूरशोभाको धारण किया है और जो समस्त कर्मोंमें सिद्धि प्रदान करते हैं ऐसे पार्वतीपुत्र गणेशजीको नमस्कार है। शास्त्रमें गणपतिको ब्रह्माण्डके सात्त्विक सुबुद्धि राज्यपर अधिष्ठात्री देवता कहा गया है, यथा—

बुद्धिर्गणेशो मम चक्षुरर्कः शिवो ममात्मा मम शक्तिराद्या।
विभेदबुद्ध्या मयि ये भजन्ति मामङ्गहीनं कलयन्ति मूढाः।।

गणपति परमात्माके बुद्धिरूप हैं, सूर्य्य चक्षुरूप हैं, शिव आत्मारूप और आद्या प्रकृति जगदम्बा शक्तिरूप हैं। जो मूढ़ इस

रहस्यको न जानकर भेदबुद्धिसे मेरी भजना करता है, वह मुझे अङ्गहीन करता है। इस श्लोकमें गणपति श्रीभगवान्‌की बुद्धिरूपसे वर्णित किये गये हैं। गायत्रीमें जोः—

''धियो यो नः प्रचोदयात्''

कहकर बुद्धिके प्रेरकरूपसे परमात्माका ध्यान किया गया है, उसी भावसे गणपतिका सम्बन्ध है।

गणपतिके ध्यानमें जिस प्रकार रूप बताया गया है तदनुसार भावोंपर संयम कर देखनेसे साधकको ज्ञात होगा कि ब्रह्माण्डव्यापिनी सुबुद्धिके अधिष्ठातृत्व विचारसेही ऐसा रूप बताया गया है। जो बुद्धि अद्वैतमय परमात्मामें समस्त संसार-प्रपञ्चका विस्तार करे, वह कुबुद्धि है और जो बुद्धि संसारकी द्वैतताको नष्ट करके अद्वितीय ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा करे वही सुबुद्धि है। गणेशजी सुबुद्धिके देवता होनेके कारण खर्वकाय और स्थूलतनु हैं। सुबुद्धिके द्वारा मायामय संसारप्रपंचका विस्तार खर्व होकर अद्वितीय भावमें लवलीन होता है। इसलिये गणेशजी खर्वकाय हैं। सुबुद्धि भीतरसे पुष्ट होती है तथा सारसे युक्त होती है। इसलिये गणेशजी स्थूलतनु हैं।

गणेशजीके स्कन्धपर हस्तीका मुण्ड होनेका हेतु बहुत गूढ़ है। समस्त देवता प्रकृतिके भिन्न भिन्न राज्यपर विराजमान चेतन सञ्चालक शक्ति होनेके कारण दैवीप्रकृतिसे लेकर मनुष्य तथा पश्वादि प्रकृति पर्यन्त देवताओंका सम्बन्ध रहता है। उसी सम्बन्धके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकृतिके पशुओंको तथा पक्षियोंको कहीं वाहनरूपसे, कहीं शरीरके सम्बन्धसे उन देवताओंके मूर्त्तिस्थापनमें वर्णन किया गया है। उदाहरण स्थलपर शीतलादेवीको समझ सकते हैं। प्रकृतिके जिस अङ्गके साथ चेचक रोगका सम्बन्ध है उस प्रकृतिकी अधिष्ठात्री देवी शीतला है और उस दैवी प्रकृतिसे ठीक समभावापन्न पाशविक प्रकृतिमें गर्दभकी योनि है। इसी सम्बन्धके कारण ही शीतला खरवाहिनी है। खरकी प्रकृति दैवराज्यमें शीतलासे सम्बन्ध रखनेके कारण जिस प्रकार शीतलाके पूजन द्वारा देशव्यापी चेचकरोग शान्त होता है, उसी प्रकार खरविष्ठाका धूम लगानेसे भी और

खरके साथ एक स्थान पर रहनेसे भी चेचक रोगमें बहुत शीघ्र आरोग्यलाभ होता है। अन्यान्य अनेक देवदेवियोंके पशुपक्षी आदि विविध प्रकारके वाहन होनेके मूलमें भी यही विज्ञान निहित है। इस विज्ञानके अनुसार विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि जिस प्रकृतिके अधिष्ठाता गणपति देव हैं उसी प्रकृतिसे समभावापन्न पाशविक प्रकृति बुद्धिराज्यमें हस्तीकी है और इसलिये समस्त पशुओंमें हस्तीकी बुद्धि तीक्ष्णतम है।

अतः इस प्रकार प्रकृतिकी एकता होनेके कारणही बुद्धिराज्यके अधिष्ठाता गणेशजी गजेन्द्रवदन हैं; परन्तु गजेन्द्रवदन होनेपर भी दो दन्त न होकर गणेशजीका जो एकही दन्त है उसका कारण यह है कि, गणेशजी सुबुद्धिके देवता हैं कुबुद्धिके नहीं; क्योंकि कुबुद्धि चित्तवृत्तिको एकसे अनेककी ओर प्रवाहित करती है और सुबुद्धि सर्वदा अद्वितीयताकी ओर ही जीवको उन्मुख करती है। इसी अद्वैत भावके कारण गणपति एकरदेश्वर कहलाते हैं। गणेशजीका लम्बोदर, सुबुद्धिकी गँभीरता सूचक है। द्वैतभावमें प्रपञ्चका विस्तार है परन्तु गाम्भीर्य नहीं है और सुबुद्धि परिणामी अद्वैत भावमें प्रपञ्चका विस्तार नहीं है परन्तु भावकी गंभीरता है, यही लम्बोदर होनेका तात्पर्य है। गजेन्द्रवदनका मदस्राव सुबुद्धिमथित ज्ञानामृत है, जिसके पान करनेके लिये मुमुक्षु मधुकर सदाही व्यग्र रहते हैं। इसी भावका—

"प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम्"

यह ध्यान बताया गया है। सुबुद्धिका जो अद्वैत भावमय अमोघ अस्त्र है उसके द्वारा प्रपञ्चपरिणामिनी मायाकी तामसिक आसुरी शक्तियोंका समूल नाश हो जाता है। इसी भावको प्रकट करनेके लिये कहा गया है कि गणेशजीने दन्तके आघातसे समस्त शत्रुओंको मार दिया है। जहाँपर सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुण तथा तमोगुण नष्ट हो जाते हैं वहाँपर रजोगुणकी तमोगुणके साथ तुलनामें सत्त्वगुणकी माधुरी और भी बढ़ने लगती है इसलिये दन्ताघातसे विनष्ट असुरोंकी रुधिर धाराके द्वारा गणपतिकी शोभा वृद्धिंगत हुई है ऐसा वर्णन किया गया है। शैलसुता

जगज्जननी आद्या प्रकृति हैं उसी प्रकृतिके सात्त्विक विद्याभावसे सुबुद्धिकी उत्पत्ति होती है इसलिये गणपति शैलसुतासुत हैं। सुबुद्धिकी सहायतासे सकल कार्यमें सिद्धि प्राप्त होती है इसलिये गणेशजी सिद्धिदाता करके वर्णन किये गये हैं। गणेशजीका वाहन मूषक कुतर्कका रूप है। जिस प्रकार किसी वस्तुका मूल्य और आवश्यकता न समझकर सभीको काट देना मूषकका स्वभाव है, उसी प्रकार कुतर्कीका भी स्वभाव यह है कि किसी विज्ञान या शास्त्रकी गम्भीरताको न समझकर सबका खण्डन कर देवे। सुबुद्धि इस प्रकार कुतर्कको दबा रखती है प्रबल होने नहीं देती है। इसलिये कुतर्करूपी मूषकको सुबुद्धिके देवता गणपतिजीने वाहनरूपसे दबा रक्खा है। गणपतिका शरीर इतना बड़ा है परन्तु उनके वाहन मूषकका शरीर इतना छोटा है, इसका तात्पर्य यह है कि गम्भीर विचारके द्वारा भगवद्ज्ञानके विषयमें तर्ककी अप्रयोजनीयता और निरर्थकता जितनीही मनुष्यको मालूम होती है, उतनीही उसमें कुतर्कबुद्धिकी कमी और सुबुद्धिकी वृद्धि हुआ करती है। शास्त्रमें लिखा है—

''नैषा मतिस्तर्केणापनेया''

''अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्''

भगवद्विषयिणी बुद्धि तर्कके द्वारा नहीं प्राप्त होती है, जो चिन्तासे अतीत भावसमूह हैं उन्हें तर्कके द्वारा प्राप्त करनेकी स्पर्द्धा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार विचार तथा शास्त्र प्रमाण द्वारा जितनी सुबुद्धि सुलभ श्रद्धा भक्ति आदि वृद्धिंगत होती है, उतनीही चित्तमेंसे तर्कबुद्धि कम होती जाती है। इसलिये सुबुद्धिके सञ्चालक गणेशजी जितने बृहत्कार्य हैं, कुतर्करूपी मूषिक भी इतना ही क्षुद्रकाय है, ऐसा भाव उक्त प्रकारके रूपके द्वारा प्रकट किया गया है। यही सब प्रकृतिलीलाजनित भावानुसार गणपतिके रूपके द्वारा प्रकट किया गया है। यही सब प्रकृतिलीलाजनित भावानुसार गणपतिके रूप-वर्णनका तात्पर्य है।

इस पूर्वकथित सगुण पञ्चोपासनाके विष्णु, शिव, देवी, सूर्य और गणपति, इन पाँचों सगुण परब्रह्मके जो प्रचलित रूप हैं, उन्हींको सम्मुख रखकर मन्त्रयोगके अनुसार आध्यात्मिक रहस्यका कुछ

दिग्दर्शन करनेका यत्न किया गया है। गुरुभक्तिपरायण और शास्त्रज्ञ शिष्य अपनी अपनी इष्ट मूर्तिका रहस्य इसी प्रकारसे समझनेमें समर्थ होते हैं। यह सब अतिगूढ़ विषय है। परमात्मा एक, अद्वितीय, निराकार और सर्वव्यापक होनेपर भी किस प्रकारसे पञ्च सगुणरूपमें प्रकट होते हैं, उसके लिये शास्त्रका एक प्रमाण दिया जाता है, यथा—

विष्णुश्चिता यस्तु सता शिवः सन्
स्वतेजसार्कः स्वधिया गणेशः ।
देवी स्वशक्त्या कुशलं विधत्ते
कस्मैचिदस्मै प्रणतिः सदास्ताम् ।।

जो परमात्मा चित् भावसे विष्णुरूप होकर, सत् भावसे शिवरूप होकर, तेजरूपसे सूर्यरूप होकर, बुद्धिरूपसे गणेशरूप होकर और शक्तिरूपसे देवीरूप होकर जगत्का कल्याण करते हैं ऐसे परब्रह्मको नमस्कार है। तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्दमय, मन वाक बुद्धिसे अतीत, निराकार, निष्क्रिय, तत्त्वातीत, निर्गुण पद कुछ और ही है। वह निर्गुण परब्रह्म भाव जब सगुण रूपसे उपासक भक्तके सम्मुख ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटीके सम्बन्धसे आविर्भूत होता है तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवलम्बन या तो चित्भावमय होगा, या सद्भावमय होगा या तेजोमय होगा, या बुद्धिमय होगा, या शक्तिमय होगा। चिद्भावका अवलम्बन करके जो भावना चलेगी वह विष्णुरूपमें परिणत होगी, जो सद्भावका अवलम्बन करके चलेगी वह शिवरूपमें परिणत होगी, जो दिव्य तेजोभावको अवलम्बन करके चलेगी वह सूर्यरूपमें परिणत होगी, जो विशुद्ध बुद्धि भावको अवलम्बन करके अग्रसर होगी वह गणपतिरूपमें परिणत होगी और जो अलौकिक अनन्तशक्तिका अवलम्बन करके अग्रसर होगी वह देवीके रूपमें परिणत होगी। पांचों रूपही सगुण ब्रह्मके परिचायक होते हुए पाँचो भावोंके अवलम्बनसे पञ्चधा बन गये हैं।

अब वैदिक कर्मकाण्डके प्रधान देवता अग्निदेवके रूपका कुछ वर्णन करके इस रूपरहस्य वर्णनको समाप्त किया जाता है।

अग्निदेवके ध्यानवर्णन प्रसङ्गमें श्रुतिने कहा है—

'ओं चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश।।'

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार जिसके शृङ्ग हैं, भूत भविष्यत् वर्त्तमान ये तीन जिसके चरण हैं; नित्यशब्द और कार्यशब्द जिसके दो मस्तक हैं, प्रथमासे सप्तमी पर्यन्त सात विभक्ति जिसके सात हस्त हैं, हृदय कण्ठ और मस्तकमें जो अग्नि बद्ध रहता है, जो साधकोंके सम्पूर्ण मनोरथकी वृष्टि करनेवाला है, वही शब्दब्रह्मरूप महान्देव स्ववर्णात्मक शब्दसमूहका आविर्भाव करके मनुष्यदेहमें परिव्याप्त है। इस मन्त्रके द्वारा वेदमें सिद्ध किया गया है कि गुण और क्रियाके भावानुसार ही अग्नि देवताकी स्थूल मूर्तिकी प्रतिमा की जाती है। इस प्रकार अन्यान्य देवताओंकी अनेक मूर्तियाँ जो वेद स्मृति, पुराणादि शास्त्रमें बहुधा प्राप्त होती हैं उनपर भी विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि अनादि अनन्त प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंकी संचालन क्रियाके अनुसार ही ये सब देव और देवियोंकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। अत: जो पहले कहा गया था कि रूप भावका ही विकाशमात्र है और प्रतिमापूजनमें परिकल्पित समस्त मूर्तियां भावानुसार ही प्रतिष्ठित की जाती हैं सो उपर्युक्त मूर्तिविज्ञान प्रसंगोंके द्वारा सम्यक् प्रमाणित हो गया।

ऊपर जितनी मूर्तियोंका वर्णन किया गया है उनमेंसे विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणपतिकी पञ्चमूर्त्ति सगुण पञ्चोपासना रूपसे मन्त्रयोगमें विहित की गई है। यह पञ्चमूर्त्ति देवताओंकी मूर्ति नहीं है परंतु सगुण ब्रह्म ईश्वरकी ही पञ्चतत्त्वभेदानुसार पञ्चमूर्त्ति है, यथा-योगशास्त्रमें:—

''उपासनं पञ्चविधं ब्रह्मोपासनमेव तत्''

सगुण ब्रह्मोपासनामें विहित गणपति, सूर्य, शक्ति आदि सामान्य देव देवियां नहीं हैं परन्तु सगुण ब्रह्म ईश्वरके ही सब रूप हैं, यथा योगशास्त्रमें—

प्रकृतेः पर एवान्यः स नरः पञ्चविंशकः ।
तस्येमानि च भूतानि तेन नारायणः स्मृतः ।।
सविता सर्वभूतानां सर्वान् भावान् प्रसूयते ।
सवनात्पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ।।
ब्रह्माण्डमूलभूता या पूजिता देवतागणैः ।
ईशनात्सर्वलोकस्य मता सा वै महेश्वरी ।।
गुणत्रयेश्वरोऽतीततत्त्वोऽव्यक्तः सुनिर्मलः ।
गणानामीश्वरो यस्मात्तस्माद् गणपतिर्मतः ।।
ब्रह्मादीनां सुराणां च मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
तेषां महत्त्वाद्देवोऽयं महादेवः प्रकीर्तितः ।।
देवपञ्चकमित्याहुरेकं देवं सुधीवराः ।
एकमेव परं ब्रह्म परमात्मपराऽभिधम् ।।

जो पुरुष प्रकृतिसे अतीत और पच्चीसवां तत्त्व है, सह सम्पूर्ण चराचर जगत् जिसके अधीन है उसको नारायण कहते हैं। जो सम्पूर्ण प्राणी और समस्त पदार्थोंको उत्पन्न करता है और जगत्को पवित्र करता है, उसे सूर्य कहते हैं। जो इस ब्रह्माण्डको मूलस्वरूपा है, जिसकी देवतागण पूजा किया करते हैं, जो जगत्की ईश्वरी है, उसे महेश्वरी कहते हैं। जो त्रिगुणका स्वामी है, तत्त्वातीत अव्यक्त और नितान्त निर्मल है और जो गुणोंका प्रभु है, वह गणपति कहा जाता है। ब्रह्मादि देवतागण, मुनि और ब्रह्मवादियोंमें जो सबसे महान् है, उस देवको महादेव कहते हैं। इस प्रकार एक ही परमात्मा ईश्वरके पञ्चदेवरूप पाँच भेद पूज्यपाद महर्षियोंने किये हैं; परन्तु एक ईश्वरकी इस प्रकारसे पञ्चमूर्त्ति बनाकर पञ्चोपासनाके विधान करनेका प्रयोजन क्या है? इसके उत्तरमें योगशास्त्रमें लिखा है—

मानवानां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्त्तिताः ।
यतो निरूप्यते सर्गः पंचभूतात्मको बुधैः ।।
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात् ।
तथापि पंचतत्त्वानामनुसारेण तत्त्ववित् ।।

प्रत्येकतत्त्वप्राचुर्य्यविमृश्य विधिपूर्वकम् ।
उपासनाधिकारस्य पंचभेदानवर्णयत् ।।

क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम इन पंच तत्त्वोंके द्वारा समस्त सृष्टि उत्पन्न होनेसे तत्त्वोंके अनुसार मनुष्य प्रकृति भी पांच प्रकारकी होती है। यद्यपि प्राकृतिक वैचित्र्यके कारण सब मनुष्योंकी प्रकृतिमें कुछ न कुछ भेद रहता है परंतु आकाश आदि पंचतत्त्वके अनुसार प्रत्येक तत्त्वकी अधिकताके विचारसे मनुष्यके उपासनाधिकारको महर्षियोंने पांच भेदमें वर्णन किया है। संसारमें प्राय: ऐसा देखा जाता है कि बालकपनसे प्रत्येक मनुष्यकी किसी न किसी भिन्न भिन्न देवतामें स्वाभाविक रुचि रहती है। बालकपनसे ही स्वभावत: किसीको शिवजी अच्छे लगते हैं, किसीको विष्णुजी या कृष्णजी अच्छे लगते हैं, किसीको दुर्गाजी या कालीजी अच्छी लगती हैं इत्यादि। इस प्रकार बालकपनसे ही भिन्न भिन्न उपास्यदेवमें स्वाभाविकी रुचि होनेका कारण प्रकृति वैचित्र्य ही है; इसी वैचित्र्यके अनुसार ही एक ईश्वरकी पांच मूर्तियाँ विहित की गयी हैं। अर्थात् जिस तत्त्वके साथ जिस मूर्तिका अधिदैव सम्बन्ध है उस तत्त्वप्रधान प्रकृतियुक्त साधकके लिये वही मूर्ति ध्यानयोग्य बताई है; क्योंकि प्रकृतिके अनुकूल इष्टदेव मूर्ति होनेसे उसमें अनायास ही साधकका चित्त आकृष्ट और एकाग्र होगा जिससे ध्यानयोगमें विशेष लाभ हो सकेगा। तत्त्वोंके साथ पंचदेवोंका सम्बन्ध निम्नलिखित रूपसे मन्त्रयोग संहिता तथा कापिल तन्त्रमें वर्णन किया गया है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरो ।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ।।
गुरवो योगनिष्णाताः प्रकृतिं पञ्चधा गताम् ।
परीक्ष्य कुर्युः शिष्याणामधिकारविनिर्णयम् ।।
ऋतम्भरधिया ज्योतिःस्वरोदयसहायतः ।
उपासनाधिकारो वै निर्णेतुं शक्यते ध्रुवम् ।।
चित्तसंवेगवैराग्यधारणादिविनिर्णयम् ।
परीक्ष्य चाऽस्यान्तरिकान् भावांच्छिष्यस्य योगवित् ।।

तत्सम्प्रदायनियमं तेषां प्रकृतिसन्निभम् ।
करोति जीवकल्याणकल्पनाकलितान्तरः ।।

आकाशतत्त्वके अधिपति विष्णु हैं, अग्नितत्त्वकी अधिपति महेश्वरी हैं, वायुतत्त्वके सूर्य, पृथिवी तत्त्वके शिव और जलतत्त्वके गणेश हैं। योगमें पारदर्शी गुरुदेव शिष्यकी प्रकृति तत्त्वानुसार निर्णय करके उसके उपासनाधिकार अर्थात् इष्टदेवका निर्णय कर देवें। ऋतम्भरा प्रज्ञा, स्वरोदय अथवा ज्योतिष, इन तीनोंकी सहायतासे उपासनाधिकार निर्णय किया जा सकता है। ऋतम्भरा प्रज्ञायुक्त योगी साधकको देखते ही कह सकते हैं कि उसमें कौन तत्त्व प्रधान है और तदनुसार कौन इष्टदेव होना चाहिये। यदि गुरुमें ऐसा उच्चाधिकार न हो तो स्वरोदय प्रक्रियाके द्वारा भी तत्त्वका पता लग सकता है, यदि ऐसा भी न हो सके तो कुलाकुलचक्र, राशिचक्र आदि ज्योतिष चक्रोंकी सहायतासे भी तत्त्वनिर्णय और उपास्य निर्वाचन किया जा सकता है। इस प्रकारसे तत्त्वोंके अनुसार उपासनाधिकार निर्णय होनेके अनन्तर शिष्यके आन्तरिक भावोंकी परीक्षा द्वारा और उसके चित्तसंवेग, वैराग्य धारणा आदिके निर्णय द्वारा प्रकृतिके अनुसार उसके सम्प्रदाय और ध्येयरूपविशेषके निर्णय करनेसे साधकका कल्याण होता है।

उपरोक्त पञ्चोपासनाविज्ञान द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त होगा कि आजकल इन पञ्चमूर्तियोंको लेकर जो साम्प्रदायिक विरोध उत्पन्न हुआ है सो सर्वथा निर्मूल और अज्ञानकाही फल है। जब पञ्चदेवता एकही ईश्वरके रूप हैं, भिन्न भिन्न देवता नहीं हैं, केवल साधकके कल्याणार्थ ही तत्त्वानुसार एकको पांच रूपमें बताया गया है, तो शिव विष्णुसे बड़े हैं, विष्णु शिवसे बड़े हैं इत्यादि रूपसे भेद मानकर जो साम्प्रदायिक लोग झगड़ा करते हैं सो सर्वदा व्यर्थ है। यह विवाद यहाँ तक बढ़ गया है कि एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायके नामसे चिढ़ते हैं, उनके इष्टदेवका नाम लेना भी पाप समझते हैं, एक दूसरेके मन्दिरमें नहीं जाते हैं और कहीं कहीं जाने भी नहीं देते हैं, परस्परके चित्तमें घोर ईर्षानल प्रज्वलित रहता है, जिसके फलसे इन सब सम्प्रदायोंमें आजकल धर्मके बदले

अधर्मकी ही उत्पत्ति हो रही है। अतः पञ्चोपासना-सम्प्रदायोंके आचार्योंका कर्त्तव्य है कि उपरोक्त पञ्चोपासना-विज्ञानको भली भांति हृदयङ्गम करके अपने अपने चित्तमें शान्ति धारण करें और अपने शिष्यवर्गको भी इसका तत्त्व ठीक ठीक समझाकर शान्तिमय साधनपथमें अग्रसर करें तभी भारतका यथार्थ कल्याण होगा। पञ्चदेवोपासनामें प्रत्येक मूर्ति ही जगत्कारण ईश्वरकी मूर्ति होनेके कारण इन उपासनाओंके भावप्रकाशक शिवपुराण, विष्णुपुराण, गणेशपुराण आदि पञ्चपुराणोंमें शिव विष्णु आदि पञ्चमूर्तिको जगदादिकारण, जगद्योनि, सर्वशक्तिमान ईश्वररूपसे वर्णन किया गया है, यथा-शिवपुराणमें शिव ही परमात्मा हैं और ब्रह्मा विष्णु आदि उनसे उत्पन्न हुए हैं, विष्णुपुराणमें विष्णु ही परमात्मा है और शिव ब्रह्मा आदि उनसे उत्पन्न हुए हैं, गणेश पुराणमें गणेश ही जगत्करिण परमात्मा हैं और ब्रह्मा विष्णु आदि उनसे उत्पन्न हुए हैं और देवी भागवतादिमें कहा गया है कि देवीसे ही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए हैं। इत्यादि रूपसे भाव प्राधान्यानुसार सभीको ईश्वर कहा गया है जो उपरोक्त पञ्चोपासनाविज्ञानानुसार यथार्थ है। अतः इन सब पुराणोंको लेकर भी विवाद और ईर्षा द्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिये। भावके प्राधान्यानुसार इन पुराणोंका वर्णन भेद-रहस्य पुराणके अध्यायमें पहले ही वर्णित किया गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

यह बात पहले ही कही गई है कि हिन्दुजाति पाषाणादिमयी मूर्तिकी नहीं करती है; परन्तु पाषाण, काष्ठ, मृत्तिका आदि उपादानोंके द्वारा पूर्व वर्णित भावोंके अनुसार मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा करके श्रीभगवान्‌की सर्वब्यापिनी दिव्य शक्तिको उस मूर्तिके द्वारा प्रकट करके मूर्तिमें भाव तथा शक्तिकी पूजा करती है। भावके अनुसार मूर्ति कैसे बनाई जाती है सो पहले कहा गया है। अब उस भावानुसार बनी हुई मूर्तिमें दिव्यशक्तिका आविर्भाव किस तरहसे हो सकता है सो बताया जाता है। कुलार्णव तन्त्रमें लिखा है—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा ।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ।।

जिस प्रकार गोदुग्ध गोमाताके समस्त शरीरमें व्याप्त रहनेपर भी स्तनोंके द्वारा ही वह दुग्ध क्षरित होता है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌की शक्ति सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी प्रतिमारूपी माध्यम (medium) के द्वारा वह शक्ति प्रकट होती है; परन्तु स्तनोंके द्वारा युक्तिसे जिस प्रकार गोदुग्ध निकाला जाता है, उस प्रकार प्रतिमाके अवलम्बनसे (medium) भगवत् शक्ति प्रकट करानेके लिये कौन कौन उपाय आवश्यकीय है सो विचार कराने योग्य हैं। कुलार्णव तन्त्रमें लिखा है—

आभिरूप्याश्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद्देवतासन्निधिर्भवेत् ।।

ठीक ध्यान और भावके अनुसार मूर्तिका निर्माण होनेसे, पूर्ण विधिके अनुसार पूजा होनेसे और प्रतिमामें श्रद्धा तथा विश्वासपूर्ण होनेसे दैवीशक्तिका विकाश प्रतिमा द्वारा होता है। शास्त्रमें इस प्रकार शक्तिविकाशको प्राणप्रतिष्ठा कहा गया है, जिसके लिये वेदमें भी अनेक मन्त्र पाये जाते हैं।

"अयान्तु वः पितरः" "अग्नऽआयाहि"

इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा देवता तथा पितरोंके आवाहनकी विधि प्रमाणित होती है। इस प्रकारसे दैवीशक्तिका आवाहन करके ध्यानानुसार बनी हुई प्रतिमाके सर्वाङ्गमें प्राणका संयोग अर्थात् दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा करना वेदादि शास्त्रसम्मत है।

"वाचे स्वाहा" "प्राणाय स्वाहा"
"चक्षुषे स्वाहा" "श्रोत्राय स्वाहा"

इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा प्रतिमाके चक्षुरादि अङ्गोंमें तथा हृदयमें प्राणकी प्रतिष्ठा की जाती है। यजुर्वेदमें यज्ञमूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके अर्थ ऐसे अनेक मन्त्र बताये गये हैं, यथा—

"या ते धर्म दि॒व्या शुग्या गायत्र्याँ॒ हविर्धाने सा त।
आप्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्मै ते स्वाहा" इत्यादि।

हे धर्ममूर्त्ते ! तेरी जो दिव्यशक्ति (दिव्या शुक्) समष्टिप्राणमें (गायत्र्यां) तथा समष्टि शरीरमें (हविर्धाने) विद्यमान रहती है वह

दिव्यशक्ति (सां ते दिव्याशुक्) इस मूर्तिमें आकर प्रकट हो जायँ (आप्यायतान्निष्ट्यायतां) उसी दीप्तिको लक्ष्य करके स्वाहा मन्त्रका उच्चारण किया जाता है। शारदातिलकमें प्राणप्रतिष्ठाके विषयमें लिखा है—

सर्वेन्द्रियाणामप्यत्तन्ते वाङ्मनःचक्षुरन्ततः ।
श्रोत्रघ्राणपदे प्राण इहागत्य सुखं चिरम् ।
तिष्ठन्तग्निवधूरन्ते प्राणमन्त्रोऽयमीरितः ।।

इसके द्वारा वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण आदि सकल इन्द्रियोंमें प्राणशक्तिकी प्रतिष्ठाके लिये प्रार्थना की जाती है। इसके अतिरिक्त प्राणके प्रयोग मन्त्र भी तन्त्रशास्त्रमें वर्णन किये गये हैं, जिनके द्वारा प्रतिमामें प्राणकी स्थापना की जाती है, यथा—ङं कं खं गं घं आकाशवायुवह्निसलिलभूम्यात्मने हृदयाय नमः। ञं चं छं जं झं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मने शिरसे स्वाहा। इत्यादि प्रयोगमन्त्र प्राणप्रतिष्ठाके लिये हैं जैसा कि—

"प्राणाय स्वाहा"

आदि वैदिक मन्त्र पहले ही बताये गये हैं। अतः वेदादि शास्त्र प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध हुआ कि भावानुसार मूर्ति निर्मित होकर विधिके अनुसार प्रतिष्ठा और पूजा ठीक ठीक होनेसे प्रतिमामें सर्वव्यापिनी भगवत् शक्तिका विकाश होता है। इसीको कुलार्णव तन्त्रमें—

"आभिरूप्याच्च बिम्बस्य"

इत्यादि श्लोकके द्वारा वर्णित किया गया है। मूर्तिमें शक्ति प्रकट करनेका तीसरा उपाय साधकोंकी श्रद्धा और विश्वास है। जिस प्रकार स्थूल वैद्युतिकशक्तिके विकाशके लिये विज्ञानशास्त्र (Science) में यह प्रक्रिया है कि विषम शक्ति (Negative Electricity) समशक्तिको (Posivive Electricity) और समशक्ति विषमशक्तिको सदा ही आकर्षण करके प्रकट कर देती है, उसी प्रकार दैवीशक्तिके राज्यमें भी श्रद्धा और विश्वासकी विषमदैवीशक्ति (Negative Divine power) श्रीभगवान्की समदैवीशक्ति (Positive Divine power) को मूर्ति

या प्रतिमारूपी माध्यम (medium) के द्वारा प्रकट करती है। जिस प्रकार साधारण काचमें सूर्य्यकी किरण पड़नेपर भी उसमें सूर्यका उत्ताप आकर्षण करनेकी शक्ति नहीं है परन्तु जब प्रकृतिके परिवर्त्तन-नियमके अनुसार वही कञ्च आतशी कञ्च बन जाता है तो उसमें सूर्यके ताप-आकर्षणकी इतनी शक्ति हो जाती है कि उत्ताप आकर्षण करके आतशी कञ्च समस्त वस्तुको दग्ध कर दे सकता है। उसी प्रकार सामान्य पाषाण, मृत्तिका, काष्ठ आदिमें श्रीभगवान् की शक्ति प्रकट करनेकी सामर्थ्य न होने पर भी, जब उसी पाषाणादिके द्वारा भावानुसार मूर्ति बनाई जाती है, विधिके अनुसार उसकी प्राणप्रतिष्ठा और पूजा की जाती है और श्रद्धा भक्ति तथा विश्वासकी विषयम शक्ति उसमें एकाग्र की जाती है, तो वही पाषाणादि द्वारा निर्मित मूर्ति आतशी कञ्चकी तरह श्रीभगवान्‌की जगद्विहारिणी दिव्य शक्तिको साधक कल्याणार्थ प्रकट करनेमें समर्थ हो जाती है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इस प्रकारसे प्राणप्रतिष्ठा द्वारा प्रतिमामें दिव्यशक्तिका आविर्भाव होनेसे अनेक प्रकारका चमत्कार भी दिखाई देता है ऐसा वर्णन सामवेदके ब्राह्मणमें पाया जाता है, यथा—

"देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति" इत्यादि।

देवताओंके शरीर कांपते हैं, देव प्रतिमा हंसती हैं, रोती हैं, नाचती हैं, किसी देशमें स्फुटनको प्राप्त होती हैं, स्वेदयुक्त होती हैं, नेत्र खोलती हैं, बन्द करती हैं इत्यादि। यह सब प्राणप्रतिष्ठा द्वारा मूर्तिमें दिव्यशक्तिके विकाशका लक्षण है और यह सब लक्षण प्रकृतिके या परिवारके भिन्न भिन्न अवस्थाके साथ सम्बन्ध रखते हैं जैसा कि देशमें महामारी या घरमें किसी उत्तम पुरुषकी मृत्युके समय प्रतिमा रोया करे या स्फुटित हो जाय, कांप उठे, देशमें किसी महात्माके आविर्भावके समय या घरमें किसी मङ्गलमय कार्यके होते समय प्रतिमा नाचा करे, हंसा करे, इत्यादि सब प्राणप्रतिष्ठाकी महिमाका परिचायक है।

इस प्रकारसे प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल श्रीभगवान्‌की भावानुसार निर्मित किसी मूर्तिमें चित्तको अर्पण करके उसीकी पूजा और

ध्यान धारणा आदि साधनके द्वारा साधकका चित्त धीरे धीरे सांसारिक रूपादि विषयों से हटता हुआ भगवान्में ही मधुकरकी नाईं निविष्ट हो जाता है। भगवच्चरणकमलासक्त भक्त ध्याता ध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिके अवलम्बनसे साधनकी प्रथम दशामें इस प्रकार साधन करता हुआ रूपकी सहायतासे भावमें तन्मय होनेका प्रयत्न करता है। उस समय भक्तके एकाग्रचित्तमें यदि भावग्राही भगवान्के भावानुसार प्रकाशित रूपके दर्शनार्थ तीव्र लालसा और संवेग उत्पन्न हो तो सर्वशक्तिमान् भगवान् उन्हीं भावोंके अनुसार स्थूल मूर्त्ति धारण करके भक्तको दर्शन भी देते हैं, यथा—श्रीमद्भागवतमें—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।।

हे नाथ ! तुम भावयोगके द्वारा परिभावित होकर भक्तके हृदयसरोजमें अपनी मधुर मूर्त्तिको प्रकाशित करते हो और जिन जिन भावोंसे भक्त तुम्हारी भावना करता है, उन्हीं भावोंके अनुसार मूर्त्ति धारण करके तुम भक्तके ऊपर कृपा करके उसे दर्शन देते हो। इस प्रकारसे श्रीभगवान्की मधुरमूर्त्तिका दर्शन करके साधकका नयन तथा मन परितृप्त और प्रफुल्लित हो जाता है। वह उस रूपको देखते देखते आनन्दमें मग्न होकर रूपके द्वारा भगवद् भावमें तन्मय होता हुआ भावसमाधिको प्राप्त करता है। यही मूर्त्तिपूजाका चरमफल और मन्त्रयोगकी यही भावसमाधि है। इस प्रकार भावसमाधिप्राप्त योगीका चित्त संसारसे एक बार ही उपरत होकर पूर्ण वैराग्ययुक्त और निर्म्मल हो जाता है और तभी साधक योगीको राजयोगोक्त देश काल और वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न, निराकार, निर्गुण ब्रह्मध्यानमें अधिकार प्राप्त होता है। वह राजयोगके षोडश अङ्गोंका साधन नियमित रूपसे करता हुआ अंतमें सर्वत्र विराजमान, अद्वितीय परब्रह्मसत्तामें अपने आत्माको विलीन करके निर्व्विकल्प समाधि और स्वरूपोपलब्धि दशाको प्राप्त कर लेता है और

इस प्रकारसे जीवन्मुक्त महात्मा प्रारब्धक्षयपर्यन्त संसारमें ब्रह्मानंदमें निमग्न रहकर प्रारब्धक्षयान्तमें विदेह मुक्ति लाभ करता है। यही सब साधनोंकी अंतिम दशा है। यदि भावसमाधिके अंतर राजयोग साधनके पहले ही साधकका शरीर त्याग हो जाय तो भगवान्‌की जिस मूर्त्ति अवलम्बनसे महासमाधि प्राप्त हुई थी, उस देवताके लोकको भक्त देहान्तमें प्राप्त करते हैं। षष्ठलोकके अन्तर्गत इस प्रकार विष्णुलोक, शिवलोक, देवीलोक आदि आराध्यदेवलोक प्राप्त करके वहांपर बहुत दिनोंतक निवास करते हैं और तदनन्तर उच्च ज्ञानाधिकार प्राप्त करके सप्तम लोकमें क्रमोर्द्ध्वगतिके द्वारा गमन करके वहाँसे मुक्त होकर परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। सगुणोपासना द्वारा मुक्तिपद प्राप्त करनेके ये ही दो उपाय हैं। प्रथम उपाय द्वारा मुक्तिके विषयमें श्रुतिमें लिखा है—

''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समविलीयन्ते''

उसके प्राण ऊपर नहीं जाते हैं, यही महाप्राणमें विदेहमुक्तिके समय मिल जाता है।

''गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा''

आदि मन्त्रोंके द्वारा इस गतिका वर्णन पहले ही किया गया है। द्वितीय उपायके द्वारा जो क्रममुक्ति होती है, उसके लिये स्मृति प्रमाण है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ।।

इष्ट देवताके साथ उनके लोकमें प्रलय काल पर्यन्त वास करके प्रलय कालमें इष्टदेवके साथ भक्त परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषद्‌में भी लिखा है—

''सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रजान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा''

क्षीणपुण्यपाप साधक उत्तरायण गतिके द्वारा अव्ययात्मा यावत्संसारस्थायी हिरण्यगर्भके लोकमें जाते हैं। गीतामें भी—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।

उत्तरायण गतिके द्वारा उपासक अग्नि, ज्योति, अहः, शुक्लपक्ष, षण्मास आदि अभिमानिनी देवताओंके लोकोंको अतिक्रमण करके ब्रह्मलोकमें आते हैं और वहाँसे मुक्त हो जाते हैं। देवी भगवतमें लिखा है—

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति ।।
तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग ।।
तेन मुक्तः सदैव स्याज्ज्ञानान्मुक्तिर्न चान्यथा।
इहैव यस्य ज्ञानं स्याद्धृद्गतप्रत्यगात्मनः ।।
मम संवित्परतनोस्तस्य प्राणा व्रजन्ति न।
ब्रह्मैव संस्तदाप्नोति ब्रह्मैव ब्रह्म वेद यः ।।

भक्ति करनेपर भी यदि प्रारब्धवशात् चिन्मयी प्रकृतिमाताका ज्ञान उत्पन्न न हो तो मृत्युके बाद भक्त देवीलोक मणिद्वीपमें जाता है। वहांपर स्वत: ही उसे अनेक भोग्य वस्तुएं प्राप्त होती हैं। तदनन्तर वहांसे ज्ञानलोभ करके परामुक्तिको भक्त प्राप्त करता है क्योंकि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती। पक्षान्तरमें जिस भक्तको यहाँही ज्ञानप्राप्ति हो जाती है, उनको पुन: क्रममुक्तिमार्गमें नहीं जाना पड़ता है, जैसा कि पहले कहा गया है—

''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।''

वे ब्रह्मको जानकर ब्रह्मरूप बन जाते हैं। यही दो प्रकारकी मुक्तिका क्रम है। मुक्तिके विषयमें विस्तृत वर्णन आगेके समुल्लासमें किया जायगा।

जो भक्त भगवान्की पञ्चमूर्त्तिमेंसे किसीकी अर्थात् रामकृष्णादि अवतारोंकी उपासना न करके इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करता है, उसके ध्यानमें सुविधाके लिये उन देवताओंकी मूर्त्ति प्रकृतिके जिन जिन विभागोंपर वे देवता अधिष्ठाता हैं, उसके अनुसार जैसा कि पहले कहा गया है, बनाई जाती है। ऐसे देवोपासक लोग उन सब देवताओंके रूपमें

ध्यान द्वारा तन्मय होकर प्रकृतिके उन भावोंमें आत्माको विलीन करके तत्तदेवलोक प्राप्त करते हैं; परन्तु इस प्रकारकी देवोपासना प्राय: सकाम होनेसे इसका फल भी क्षणभङ्गुर ही होता है। इसलिये देवोपासना द्वारा देवलोक-प्राप्त साधक साधनाके फलसे उन लोकमें दिव्यभोगसमूह प्राप्त करता है, यथा-श्रीगीतामें—

अश्नन्ति दिव्यान् दिविदेवभोगान्।

परन्तु भोगके अन्तमें पुन: संसारमें उनको आना पड़ता है, यथा-गीतामें—

"अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्"
"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"

इस प्रकार सकाम देवोपासनाका फल नाशवान् होता है, जिससे पुण्य क्षीण होनेपर ऐसे साधकको पुन: मर्त्यलोकमें आना पड़ता है। यही सगुण पञ्चोपासना और इतर देवोपासनाका फल है जिसका वर्णन श्रीभगवान्ने गीताजीमें किया है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रता: ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।

देवताओंके उपासक लोग देवलोकको प्राप्त होते हैं, पितरोंके उपासक लोग पितृलोक, भूतोंके उपासक भूतलोक और श्रीभगवान्के उपासक लोग ब्रह्मधामको प्राप्त होते हैं। ये किस प्रकारसे होते हैं, ऊपर वर्णन किया गया है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिपूजाके ऊपर लिखित तत्त्वको न जानकर उस पर अनेक कटाक्ष किये हैं; परन्तु वे सब कटाक्ष इतने हल्के और मूर्खतामूलक हैं कि उनपर विचार करना भी अपनेको हल्का बनाना है इसलिये उन सब व्यर्थ कटाक्षकी बातोंको छोड़कर जो कि मूर्त्तिरहस्य जाननेपर खुद ही दूर हो जायंगी केवल दो तीन भ्रान्तिजनक कटाक्षोंपर विचार किया जाता है। वे कटाक्ष निम्नलिखित हैं, यथा—(१) मन्दिरमें

व्यभिचार होता है। इसलिये मूर्तिपूजा उठा देनी चाहिये। (२) यदि मूर्त्तिमें शक्ति रहती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्तिने अपनेको बचाया क्यों नहीं। (३) यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्त्ति चैतन्य क्यों न हो जाती और इस प्रकारसे मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते। प्रथम कटाक्षका उत्तर निम्नलिखित है।

मन्दिर जैसे देवस्थानमें वेश्याका नृत्य व्यभिचार या अन्यान्य असत्कार्य होना बहुत ही निन्दनीय है क्योंकि इसमें केवल स्थानकी पवित्रता नष्ट होती है और दैवीशक्तिका अवहेलन होता है यही बात नहीं, अधिकन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, जिस देवमन्दिरमें इस प्रकार तामसिक कर्म और तामसिक भाव उत्पन्न होते हैं, वहाँपर प्रतिमामें दैवीशक्ति ठहर नहीं सकती है और ऐसी प्रतिमाके पूजन द्वारा उपासनाका फल नहीं प्राप्त होता है। यह बात पहले ही कही गई है कि भावके अनुसार बनी हुई मूर्त्तिमें दैवीशक्तिका विकाश तभी हो सकता है, जब उपासक और भक्तोंकी श्रद्धा विश्वासकी शक्ति उस मूर्तिपर एकाग्र (**Concentrated**) हो। श्रद्धा विश्वासकी सात्त्विक शक्ति ही श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी दैवीशक्तिको मूर्तिके द्वारा प्रकट कर लेती है। अत: जिस मन्दिरके पुरोहित सदाचारी और भक्त होंगे, समयशील तथा पूजापरायण और क्रियाकाण्डनिपुण होंगे और जिस मन्दिर-स्थित मूर्तिपर मनुष्योंकी श्रद्धा और भक्ति होगी उसी प्रतिमामें दैवीशक्ति आकृष्ट होगी। अन्यथा यदि मन्दिरमें पुरोहित दुराचारी और अभक्त तथा मूर्ख होंगे और वेश्यागमन, व्यभिचार आदि तामसिक भावोत्पादक कार्य होगा जिससे लोगोंमें सात्त्विक भाव उत्पन्न न होकर श्रद्धा भक्ति ही नष्ट हो जाय तो उस मन्दिरकी प्रतिमामें श्रीभगवान्‌की दिव्यशक्ति कभी नहीं प्रकट हो सकेगी और पूर्वप्रकाशित दैवीशक्ति भी प्रतिमारूपी केन्द्रको छोड़कर व्यापक शक्तिमें मिल जायगी। अत: मन्दिरमें ब्यभिचार, वेश्यानृत्य

आदि दुराचरण कभी नहीं होना चाहिये; परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता है कि व्यभिचारके डरसे मन्दिरको ही तोड़ दिया जाय।

किसीकी आँखमें यदि फोड़ा हो तो फोड़ेके भयसे आँख फोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है अपितु फोड़ेकी ही चिकित्सा करके फोड़ेको आराम कर देना बुद्धिमता होगी। इसी प्रकार यदि मन्दिरमें व्यभिचार होता होगा तो व्यवस्थाके साथ व्यभिचारको दूर करना, और वेश्यानाच आदि कुरीतियोंको नष्ट करना ही धर्म होगा और मूर्त्ति और मन्दिरको तोड़ देना धर्म नहीं होगा। आजकल प्राय: देखा जाता है कि धनी लोग मन्दिर बनवाकर उसीमें एक मूर्ख पुरोहितको नौकर रख देते और पीछे कुछ पूजा होती है कि नहीं कुछ भी इसकी खबर नहीं लेते जिसका यह फल प्राय: होता है कि विद्याभक्तिशून्य वह पुरोहित अपनेको उस मन्दिरकी सम्पत्तियोंका मालिक समझ लेता और यथेच्छ आचरण करता रहता है। इस प्रकार पुरोहितोंके अत्याचारसे अनेक मन्दिर भ्रष्ट हो जाते हैं और दैवीशक्तिकी अवमानना होती है। इसलिये मन्दिर प्रतिष्ठाताको चाहिये कि इस प्रकार मन्दिरका जीर्णोद्धार करें, योग्य पुरुषको पुरोहित रक्खें, नित्यपूजा आदिका प्रबन्ध ठीक ठीक करें, सम्पत्तिके कुछ अंशके द्वारा पुरोहित विद्यालय स्थापन करके योग्य पुरोहित प्रस्तुत करें, दर्शक नर नारियोंके प्रतिमादर्शनकी व्यवस्था युक्तिपूर्वक कर देवें, ताकि सभ्यता विरुद्ध किसी प्रकारके व्यवहारका मौका ही न होने पावे—इत्यादि इत्यादि प्रकारसे मन्दिरोंका जीर्णोद्धार और व्यवस्था करनेपर व्यभिचार आदिकी सम्भावना नष्ट हो जायगी और सभी मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार मन्दिरोंमें देवदर्शन, देवपूजा आदि द्वारा परम कल्याण प्राप्त कर सकेंगे अत: अर्वाचीन पुरुषोंका प्रथम कटाक्ष युक्तियुक्त मालूम नहीं होता।

उनका दूसरा कटाक्ष यह है कि यदि मूर्त्तिमें शक्ति होती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्ति अपनी रक्षा अवश्य करती। इस बातके विचार करनेके पहिले मूर्त्तिमें जो शक्ति

आवाहन की जाती है, उसकी प्रकृति कैसी है सो विचार करना चाहिये। संसारमें स्थूल या सूक्ष्म समस्त शक्ति ही दो प्रकारकी होती हैं—एक स्वत:-क्रियाशील और दूसरी परत:क्रियाशील। इन्हीं दो प्रकारकी शक्तिओंको पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार एक्टीव **(Active)** और प्यासिव **(Passive)** शक्ति **(energy)** कहते हैं। स्वत: क्रियाशील शक्ति वह होती है, जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति हो और परत:क्रियाशील शक्ति वह होती है, जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति न हो केवल दूसरी ओरसे प्रेरणा होनेपर प्रेरणाकी शक्तिके अनुसार उसमेंसे फल प्राप्त हो। श्रीभगवान्की जो दैवीशक्ति समष्टिप्रकृतिकी आवश्यकता और प्रेरणाके अनुसार किसी अवतार या विभूतिके द्वारा प्रकट होती है, उसके स्वत:क्रियाशील होनेके कारण अवतार या विभूतिके द्वारा संसारमें धर्मसंस्थापन और अधर्मनाशके लिये अनेक कार्य होते हैं; परन्तु मूर्तिमें श्रद्धा क्रिया और मन्त्रद्वारा जो ब्यापक दिव्य शक्ति प्रकट की जाती है, जिसकी प्रक्रिया ऊपर वर्णित की गई है, वह शक्ति स्वत: क्रियाशील नहीं होती है; परन्तु अग्निकी तरह परत:क्रियाशील होती है। जिस प्रकार अग्निमें दग्ध करनेकी शक्ति रहनेपर भी अग्नि स्वेच्छासे किसी वस्तुको दग्ध नहीं करती है या किसीका अन्नपाक नहीं कर देती है; परन्तु जब दूसरी ओरसे किसी मनुष्यके द्वारा इस प्रकारकी प्रेरणा हो अर्थात् कोई मनुष्य अग्निके द्वारा किसी वस्तुको दग्ध करना या अन्नपाक करना चाहे तो, उस अग्निको अनुकूलताके साथ काममें लाकर स्वकार्य सिद्ध कर सकता है; ठीक उसी प्रकार मूर्तिमें जो दैवीशक्ति एकत्रित होती है, वह स्वयं किसीको शाप या वरप्रदान नहीं करती है क्योंकि उसमें इस प्रकारकी अवतारकी शक्तिकी तरह स्वत:क्रियाशीलता नहीं होती है। वह शक्ति केवल भाव और पूजाके द्वारा उपासकके आत्माके अनुकूल किये जानेपर अनुकूलताके अनुसार अर्थात् भाव और पूजाके अनुसार फलप्रदान करती है। उस फलप्रदानमें मूर्तिमें विराजमान शक्तिकी स्वयं चेष्टा कुछ भी नहीं रहती है; परन्तु उपासककी प्रेरणा ही उसमें एकमात्र

कारण होती है। जहाँ मूर्तिमें विराजमान शक्तिके प्रति कोई भाव नहीं है, वहाँ उस शक्तिके ऊपर चाहे चूहा ही चढ़ जाय, चाहे उसके सामने व्यभिचार ही हो और चाहे मुसलमान या और कोई पापी उसपर आक्रमण ही करे, उस मूर्तिमें विराजमान शक्तिकी ओरसे कोई भी क्रिया नहीं होगी क्योंकि इसपर चढ़नेवाले, कुकर्म करनेवाले या आक्रमण करनेवालोंकी हृदयगत शक्तिके साथ मूर्तिगत शक्तिका भावराज्यमें कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें केवल इतना ही होगा कि जिस प्रकार किसी अग्निमय गोलोंको तोड़ देनेपर अथवा उसपर जल डाल देनेपर वह अग्नि तोड़नेवाले या जल डालनेवालेको आघात न करके व्यापक अग्निमें मिल जाया करती है, उसी प्रकार जिस मन्दिरमें व्यभिचार आदि कदाचार होगा या पापीका आक्रमण होगा या मूर्त्ति तोड़ी जायगी उस मन्दिरकी मूर्त्तिमें विराजमान शक्ति उस केन्द्रको छोड़कर व्यापक दिव्यशक्तिमें मिल जायगी। केवल अत्याचार करनेवाले दिव्यशक्तिकी अवहेला करके दैवीजगत्‌में विप्लव उपस्थित करनेके कारण प्रत्यवायी होंगे। यही कारण है कि मूर्त्तिपर चूहे चढ़नेसे भी और मुसलमानोंका आक्रमण होनेपर भी उसमें दिव्य शक्ति स्वयं कूदकर आत्मरक्षा करने नहीं लग गयी थी या विपक्षियोंसे लड़ने नहीं लग गयी थी। अतः अर्वाचीन पुरुषोंको चूहेके डरसे धर्मत्याग नहीं करना चाहिये; परन्तु मूर्त्तिपूजाके यथार्थ रहस्यको समझ करके प्रकृतिस्थ होना चाहिये।

अर्वाचीन पुरुषोंका तीसरा कटाक्ष यह है कि यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्ति चेतन क्यों न हो जाती, परमेश्वरमें आना जाना कैसे सम्भव हो सकता है और यदि सम्भव होवे तो मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते? इसका उत्तर यह है कि पहले ही वेद प्रमाणके द्वारा बताया गया है कि मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा यथार्थ रीतिसे होनेपर उसमें चमत्कार देखा जाता है। यथा-मूर्ति हंसती है रोती है इत्यादि; परन्तु मूर्तिमें आवाहन की हुई दैवी शक्ति स्वतः क्रियाशील न होनेसे मनुष्यकी तरह चेतनाका कार्य उसमें आ नहीं सकता है क्योंकि

मनुष्यका शरीर प्रारब्धकर्मके अनुसार जीवात्मासे युक्त होनेके कारण कर्मशक्तिके द्वारा मानवीय कार्य होता है और मूर्तिमें केवल साधककी श्रद्धा पूजा आदिके अनुसार व्यापक शक्तिका आविर्भाव होनेके और उसमें किसी प्रकार कर्म सम्बन्ध न होनेके कारण उसके द्वारा इस प्रकार कार्य होनेका कोई भी हेतु नहीं हो सकता है। हाँ जिस समय वही दैवी शक्ति समष्टि प्रकृतिके कर्म संस्कारको आश्रय करके अवतार या विभूतिरूपसे प्रकट होती है, तब उसके द्वारा संसारमें अद्भुत कार्य होते हैं, जो मनुष्यके द्वारा भी नहीं हो सकते हैं; अतः मूर्तिमेंसे उस प्रकार चैतन्य क्रियाकी आशा विज्ञान-विरुद्ध है। अवश्य भक्त उपासकमें भावशक्तिके अनुसार मूर्तिके द्वारा जो चाहे सो क्रिया उत्पन्न हो सकती है जैसा कि पुराणादिमें भक्तवत्सल भगवान्‌की अपूर्व लीलाओंके विषय और भक्तकी प्रार्थनाके अनुसार भगवन्मूर्तिके भक्तके साथ अनेक लीलाविलासके विषय पाये जाते हैं; परन्तु इसमें भक्तका भाव ही मुख्य रहता है और उसी भावके अनुसार ही इच्छारहित और स्वतः क्रियारहित भगवन्मूर्तिमें क्रिया उत्पन्न होती है।

द्वितीय सन्देह अर्थात् परमेश्वरमें आना जाना सम्भव कैसे हो सकता है इसके विषयमें यह वक्तव्य है कि, इसमें आने जानेकी तो कोई बात ही नहीं है, केवल गोमाताके सर्वशरीरगत दुग्धके स्तनद्वारा क्षरणकी तरह सर्वव्यापिनी भगवत्शक्तिका मूर्तिरूपी माध्यम (**Mediun**) के द्वारा विकाशमात्र है। इसमें कहींसे कहीं जानेका कोई प्रयोजन नहीं पड़ता है। केवल सर्वत्र पूर्ण भगवान्‌की शक्तिको स्वच्छ केन्द्रके द्वारा प्रकाश होना मात्र पड़ता है। जिस प्रकार सूर्यकी ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति यदि आतशी काचके द्वारा प्रकट हो तो सूर्यमेंसे शक्ति कम नहीं हो जाती उसी प्रकार भगवत्शक्ति सर्वतः पूर्ण होनेसे चाहे कितने ही केन्द्रके द्वारा वह शक्ति विकाशको प्राप्त हो, उससे न भगवान्‌की पूर्णशक्तिमें कुछ कमी ही आती और न उसपर कहींसे कहीं जाने आनेका कलङ्क लगता क्योंकि ये सब बातें देशकालवस्तु परिच्छिन्न ससीम वस्तुपर ही घटती है और सर्वव्यापी

असीम वस्तुपर ये बातें नहीं घट सकती हैं। तृतीय सन्देह अर्थात् यदि मूर्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा करना सम्भव हो तो मरे हुए मनुष्यके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते इसका उत्तर निम्नलिखित है। यद्यपि मनुष्य तभी मरता है, जब जिस कर्मके अनुसार जो शरीर प्राप्त हुआ था उस कर्मका भोग उस शरीरके द्वारा समाप्त हो जाता है। अतः वह शरीर पुनः उस जीवात्माका भोगायतन बनने लायक नहीं रहता है। इसलिये मृतपुत्रके शरीरमें पुनः उसके आत्माको बुलाना कर्म्मविज्ञानसे विरुद्ध और असम्भव है। हां यदि कोई शक्तिमान् पुरुष या योगी अपनी शक्तिके द्वारा उस प्रकार शरीरको भोगायतन बना सके, तो उसमें वह परलोकगत आत्माको बुला सकते हैं। इसका दृष्टान्त शास्त्रमें बहुत मिलता है।

श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपने लोकलीला गुरु सान्दिपन मुनिके मृतपुत्रके भीतर इसी तरहसे जीवात्माका सन्निवेश किया था। भगवान् शङ्कराचार्यने इसी प्रकार मण्डनमिश्रकी स्त्रीसे शास्त्रार्थ करनेके बीचमें एक मृत राजाके शरीरमें अपने आत्माको प्रवेश कराकर उसे जीवित कर दिया था। सती सावित्रीने भी अपने मृत पतिको इस तरहसे जिला दिया था अतः अर्वाचीन पुरुषोंका ऐसा कटाक्ष निरर्थक है। इसके सिवाय तान्त्रिक शवसाधनमें मृतशरीरके भीतर दूसरी जीवशक्तिको आवाहन करके शवसाधनकी रीति अब भी प्रचलित है और सत्य है। इस प्रक्रियामें शवदेह चेतनदेहकी तरह खाने पीने और बोलने लगता है। अतः मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके विषयमें कोई भी सन्देह नहीं होना चाहिये।

अब देशमें श्रीभगवान् तथा अन्यान्य देवताओंकी मूर्तिस्थापना और मूर्तियोंकी पूजाके द्वारा क्या क्या कल्याण मनुष्यको प्राप्त होता है सो नीचे क्रमशः जाता है।

(१) जिस जीवनमें उपासनाकी अमृतधारा नहीं प्रवाहित होती है वह जीवन शुष्क कङ्कड़मय मरुभूमिकी तरह है। यह बात पहलेही कही गई है कि जब तक कर्म और ज्ञानके साथ उपासनाका मधुर मिश्रण न हो तबतक न तो कर्ममार्गमें ही पूर्णता प्राप्त हो सकती है। इसलिये कर्म और ज्ञानके साथ साधककी पूर्णताके लिये उपासनाका रहना

परमावश्यकीय है; परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है साधकको एकाएक निराकारकी उपासनामें चित्तवृत्ति कदापि निविष्ट नहीं हो सकती। इसलिये साकार मूर्तिपूजाके अवलम्बनसे कर्म और ज्ञानके साथ अग्रसर होते हुए अन्तमें निराकार उपासना द्वारा जीव अपने ब्रह्मभावको उपलब्ध कर सकते हैं। अत: जीवकी पूर्णताके लिये मूर्तिपूजा परम सहायक है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं हो सकता है।

(२) सच्चिदानन्दमय परमात्माकी आनन्दसत्ता समस्त जीवोंमें व्याप्त होनेसे परस्परके प्रति प्रेम करना मनुष्य हृदयका स्वाभाविक धर्म है; परन्तु जब यही प्रेम मायाके आश्रयसे क्षणभंगुर विषयोंके साथ होता है, तो विषयकी क्षणभंगुरताके कारण परिणाममें दु:ख उत्पन्न करता है। समस्त संसारके जीव मायामुग्ध होकर इस प्रकार प्रेमसूत्रमें अपने जीवनको बांधकर अनन्त दु:खोंको भोगते रहते हैं। हृदयमें प्रेमकी धारा स्वाभाविक होनेसे किसी वस्तुपर उस धाराको प्रवाहित किये बिना मनुष्य रह भी नहीं सकता है और उनके सम्मुख विद्यमान प्रलोभन देनेवाले विषयोंमें प्रेम करनेसे दु:ख भी होता है। इस प्रकार दोनों ओरके सङ्कटोंसे मनुष्यको बचाकर हृदयनिहित प्रेमधाराको कल्याणवाहिनी बनाकर श्रीभगवान्‌की आनन्दसत्तामें मनुष्यको निमग्न करके कृतकृत्य करनेके लिये मूर्तिपूजा ही जीवका एकमात्र अवलम्बनीय है; क्योंकि जैसा कि पहले कहा गया है स्थूलरूपके द्वारा आसक्तचित्त तथा उसमें प्रेमपरायण जीव यदि हृदयनिहित प्रेमधाराको दिकपरिवर्तन द्वारा दूसरी ओर डालना चाहे तो किसी दूसरे दिव्य स्थूलरूपमें ही डाल सकता है क्योंकि जैसा स्वभाव अनादि संस्कारके द्वारा उत्पन्न हुआ है, उसीके अनुकूल कार्य करनेसे ही भावशुद्धि द्वारा स्वभाव बदल सकता है इसलिये भगवान्‌की मूर्तिमें चित्तको अर्पण करके, उसीके साथ प्रेम सम्बन्ध निज निज भावके द्वारा कहीं दासभावसे, कहीं सखाभावसे, कहीं वात्सल्यभावसे, कहीं मधुरभावसे इत्यादि इत्यादि भवसे स्थापन करके संसारबन्धनको तोड़

सकता है और परमपदको प्राप्त कर सकता है। यही जीवकी आध्यात्मिक उन्नति प्राप्तिके लिये मूर्तिपूजाकी दूसरी आवश्यकता है।

(३) अब तीसरी आवश्यकताका वर्णन करते हैं, यथा—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

संसारमें मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है। सङ्कल्पविकल्पपरायण मन संसारके भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें चंचल होकर जीवको सदा ही अशान्तिके समुद्रमें डाल रखता है और इस प्रकार अशान्त चित्तमें किसी प्रकारका आनन्दलाभ नहीं हो सकता है। यह बात पहले ही कही गयी है कि आत्मा ही आनन्दरूप होनेसे और आत्माके सिवाय और कहीं भी आनन्द न रहनेसे विषयी मनुष्य जो विषयमें सुख अनुभव करता है वह भी सुख विषयका दिया हुआ नहीं होता है, परन्तु विषयके जरियेसे उसीमें एकाग्रताके कारण क्षणकालके लिये अन्त:करण शान्त होनेसे उस शान्त अन्त:करणमें आनन्दमय आत्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, विषयानन्द उसी आनन्दमय प्रतिबिम्ब-जनित है; परन्तु प्रकृति परिणामिनी होनेके कारण तथा वैषयिक पदार्थोंके क्षणभंगुर होनेके कारण विषयके जरियेसे चित्तकी एकाग्रता भी क्षणस्थायिनी होती है और एकाग्रता क्षणस्थायिनी होनेसे विषयसुख भी नश्वर होता है।

इसी तरहसे चञ्चल मन भिन्न-भिन्न विषयमें भटकता हुआ कहींपर स्थायी सुखको न पाकर सदा ही अशान्त रहता है और जीवको भी अशान्तिमें डाल रखता है। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्ति ही ऐसी एक वस्तु है, जिसमें क्षणभंगुरता और नश्वरताकी कोई भी सम्भावना न रहनेसे स्थूल भावमें अथवा सूक्ष्म भावमें हृदयके भीतर भगवान्‌की मधुर मूर्ति स्थापन करके मत्त मनको जीव मूर्तिमें एकाग्र कर शान्त और लय कर सकता है और विषय सुखको त्यागकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हो सकता है। परमात्माका निराकार स्वरूप मन बुद्धिसे अतीत होनेके कारण उसमें मनकी स्थिति कदापि सम्भव नहीं हो सकती है। अत: साकार मूर्तिकी

पूजाके द्वारा ही बन्धनकारी मन मोक्ष प्रदान करनेकी योग्यताको प्राप्त कर सकता है। यही परमार्थ साधनमें मूर्तिपूजाकी तीसरी आवश्यकता है।

(४) मनुष्य भावका दास है। प्रत्येक इन्द्रियप्रवृत्ति राजसिक और तामसिक भावके साथ संसारमें प्रवृत्त होनेसे मनुष्योंको बन्धन प्राप्त होता है और वही इन्द्रियप्रवृत्ति भावशुद्धिके साथ सात्त्विक रूपसे प्रवृत्त होनेपर मुक्तिका कारण हो जाती है। श्रीभगवान्‌की मूर्त्ति एक ऐसी वस्तु है जिसके साथ सात्त्विक भावसे मनकी प्रवृत्तिको बांधने पर मनुष्योंका सभी दुर्व्यसन छूट सकता है और घोर तमोगुणी पुरुष भी कुछ दिनोंमें परम सात्त्विक बनकर अपनेको तथा संसारको कृतार्थ कर सकता है। आप कामपिपासु हैं, आपकी रति श्रीभगवान्‌की मूर्त्तिमें हो जाय, आप क्रोधी हैं, आपका क्रोध अपनी दुष्प्रवृत्तिके दमनमें लग जाय, आप लोभी हैं, भगवच्चरणारविन्दके मधुर मकरन्दपानमें आपका लोभ प्रवृत्त हो जाय, आप मोहान्ध हैं, श्रीभगवान् आपके पुत्र हैं उनके प्रति चित्तका सारा मोह समर्पण कर दीजिये, आप मदोन्मत्त हैं, श्रीभगवान्‌के प्रति प्रेमरूपी मधुपान करके मस्त हो जाइये, आप अहङ्कारी हैं, श्रीभगवान् मेरे ही है मेरा चित्त सिवाय उनके और कहीं भी नहीं जा सकता है इस बातका अहङ्कार आपके हृदयमें उत्पन्न हो, इस प्रकारसे समस्त वृत्तियोंका मुख मोड़कर श्रीभगवान्‌की मूर्त्तिमें प्रयोग कर देनेसे भावशुद्धिके द्वारा बिना आयास ही आप जितेन्द्रिय तथा जितरिपु होकर ब्रह्मधामको प्राप्त करेंगे। इसी भावशुद्धिके द्वारा परम भाव प्राप्त करनेके लिये मूर्त्तिपूजाकी आवश्यकता है।

सात्त्विक साधक अपने भावके अनुसार श्रीभगवान्‌को पत्र पुष्प फल जल प्रदान करके भी मुक्तिपद प्राप्त करता है। राजसिक साधक अपने भावके अनुसार राजसिक वस्तुको श्रीभगवान्‌के आगे समर्पण करके भगवत्प्रसाद बुद्धिसे राजसिक वस्तुका सेवन करने पर भी उससे बन्धन नहीं प्राप्त करता है क्योंकि प्रसादबुद्धिके यथार्थ उदय होनेसे लोभबुद्धि नष्ट हो जाती है और समर्पण और पूजाके सात्त्विक भावके

फलसे राजसिक बुद्धि ही नष्ट हो जाती है, एतादृश भक्त शीघ्र ही सात्त्विक भक्त बन जाता है। इससे पहले वेदके अध्यायमें बताया गया है कि देवोद्देश्यसे तामसिक मांसादि प्रदान और सेवन करने पर भी भावशुद्धिके प्रभावसे तथा प्रसादबुद्धिके प्रभावसे साधक चित्त अनर्गल मांसादि भक्षणसे किस प्रकार निवृत्त होकर कुछ दिनोंके बाद अहिंसा पर सात्त्विक भावको प्राप्त हो सकता है। उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्ति क्षण क्षणमें मनुष्यको विषयपङ्कमें निमग्न करनेको तैयार है परन्तु यह भावशुद्धिकी ही महिमा है कि जिस वस्तुको समर्पणके बिना भोजन करनेसे लोभ उत्पन्न होकर बन्धन प्राप्त होगा, उसी वस्तुको श्रीभगवान्‌को समर्पण कर उनके प्रसाद रूपसे भोजन करनेसे उसमेंसे बंधनकारिणी भोगबुद्धि नष्ट हो जायगी और प्रसाद भक्षण द्वारा चित्त निष्पाप और शान्तिकी अमृतधारामें निमग्न हो जायगा। यह सब मूर्तिपूजाकी ही महिमाका चतुर्थ फल है।

(५) अपनी अपनी चित्तवृत्ति तथा अधिकारके अनुसार संसारमें सकाम निष्काम दोनों प्रकारके साधक होते हैं। श्रीभगवान्‌की मूर्तिकी पूजाके द्वारा सकाम साधकको इष्टफल प्राप्ति तथा कामना सिद्धि होती है क्योंकि श्रीभगवान्‌ने कहा है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

जो जिस भावसे मेरी आराधना करें मैं उसी भावसे उनका अभीष्ट सिद्ध करता हूँ। इस प्रकार सकाम भावसे देवमूर्तिकी पूजा करने पर भी कामना सिद्धि तथा देवलोक प्राप्ति होती है, यथा—गीतामें—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।।

कर्मसिद्धिकी आकांक्षा करके लोग देवताओंकी पूजा करते हैं और संसारमें शीघ्र ही सकाम देवपूजाका फल मिलता है। निष्काम भगवन्मूर्तिपूजन द्वारा जैसा कि पहले कहा गया है रूपके आश्रयसे भावमें समाधि होती है, जिसमें साधकको भावराज्यमें भगवान्‌की आनन्दसत्ताकी उपलब्धि होती है और तत्पश्चात् निराकार परमात्माके साधन द्वारा साधक पूर्णताको प्राप्त करते हैं अथवा सालोक्यादि मुक्ति

प्राप्त करके क्रममुक्तिके अधिकारी होते हैं। श्रीभगवान्‌की स्थूल भावमयी मूर्तिमें मन:संयमके बिना इस प्रकारकी उन्नत गति साधकको प्राप्त नहीं हो सकती। यही आध्यात्मिक मार्गमें मूर्तिपूजाकी पंचम आवश्यकता है।

(६) श्रीभगवान् ने अर्ज्जुनको उपासनाका उपदेश देते समय कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।

हे अर्ज्जुन ! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, देते हो या साधन करते हो, सब मुझमें समर्पण कर देना। इसका यही फल होगा कि सभी कार्य श्रीभगवान्‌में समर्पित होनेसे जीवन उपासनामय हो जायगा। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्तिमें प्रेम बांधकर जिस समय जीवनका सभी कार्य भक्त उन्हींके लिये कर सकता है और उन्हींमें समर्पण कर सकता है

उस समय भक्तके किसी भी कार्यमें दोष या संसारबन्धन-उत्पन्नकारी भाव नहीं रहता। उनके सभी कार्य शुद्ध हो जाते हैं, उनके लिये अपने पुत्र कन्याके प्रति प्रेम भी गोपालजी तथा गौरीके प्रति प्रेम बन जाता है, पितामाताके प्रति प्रेम हर गौरीके प्रति प्रेम हो जाता है, अपने प्रति प्रेम आत्माके प्रति प्रेम हो जाता है, इस प्रकार सभी लौकिक व्यवहारके द्वारा वह भक्त पारमार्थिक फलको प्राप्त कर सकता है, मूर्तिपूजाकी उन्नत दशामें यह एक परम फल साधकको प्राप्त होता है। केवल इतना ही नहीं इस प्रकार भक्तका हृदयभरा प्रेम, दया आदि सद्वृत्तियाँ समस्त संसारको श्रीभगवान्‌की मूर्ति मानकर संसारके जीवोंके प्रति परिव्याप्त होती हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ।।
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।।

ईश्वरको सर्वभूतोंमें निवासशील जानकर मित्रभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। श्रीभगवान् जीवरूपसे समस्त संसारमें व्याप्त हैं ऐसा समझकर समस्त जीवोंको भगवद्रूप मानकर प्रणाम करना चाहिये। श्रुतिमें भी लिखा है—

''एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च''

''इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते''

मायाके द्वारा एक परमात्मा नानारूप धारण करके समस्त विश्वमें परिव्याप्त हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्तिमें परम निविष्टचित्त भक्त उपासनाके उच्चाधिकारमें समस्त संसारको ही मनका रूप समझ हृदयनिहित प्रेमधारा को समस्त संसारमें परिव्याप्त कर देते हैं। उस समय जगत्‌में किसीके साथ उनका कोई भी रागद्वेषमूलक सम्बन्ध नहीं रहता है, वे सभीके साथ प्रेम, सभीके प्रति दया और सभीके लिये आत्मत्याग और स्वार्थत्याग कर देते हैं। उपासनाकी इस दशामें भक्तके हृदयमें अपूर्व शान्ति और आनन्दका विकाश हो जाता है। वह समस्त संसारको ही आनन्दकन्द जगदाधार श्रीभगवान्‌की मूर्तिरूपमें देखकर आनन्द समुद्रमें निमग्न हो जाता है। यही मूर्तिपूजाःकी परमानन्द और परमशान्तिविधायिनी षष्ठ आवश्यकता है।

(७) सत्ताके विचारसे जीव और ईश्वरमें भेद यह है कि जीव अपूर्ण होनेसे उसकी सत्ता देशकाल और वस्तुके द्वारा परिच्छिन्न होती है और ईश्वर पूर्ण होनेसे उनकी सत्ता देशकाल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न होती है। साधकका अन्तःकरण भावराज्यमें अपनेको जितना ही अधिक बढ़ाता जाता है उतनीही जीवकी परिच्छिन्न सत्ता घटती जाती है और जीवका परिच्छिन्न अन्तःकरण तथा परिच्छिन्न भाव व्यापक उदारभावमें विलीन होता जाता है। मूर्तिपूजामें जैसा कि पहले वर्णन किया गया है श्रीभगवान्‌के विविध भावोंके अनुसार ही मूर्तिकी प्रतिष्ठा होती है। इसलिये यह स्वतः सिद्ध है कि उस भावप्रकाशक मूर्तिकी साधनारें साधकका अन्तःकरण रूपके द्वारा भावमें जाकर लय होगा और इस प्रकारसे उपासनाका अधिकार जितना ही उन्नत होता जायगा उतना ही

देशकाल वस्तुसे परिच्छिन्न अन्त:करण भगवान्‌के अपरिच्छिन्न भवसागरमें जाकर लवलीन हो सकेगा। जीवकी परिच्छिन्न सत्ता इस प्रकारसे मूर्तिपूजा द्वारा अपनी परिच्छिन्नताको छोड़कर पूर्णताको प्राप्त कर लेगी, उनका जीवभाव महान् शिवभावमें लय होकर परमानन्द पदवीको प्राप्त करेगा, यही जीवत्वविनाशपूर्वक शिवत्वप्राप्ति-साधनमें मूर्तिपूजाकी सप्तम आवश्यकता है।

(८) प्रतिमारूपी आधारके द्वारा श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी दिव्य शक्तिको किस प्रकारसे प्राणप्रतिष्ठाकी प्रक्रियाओंके द्वारा प्रकट किया जा सकता है सो पहले ही वर्णन किया गया है और विस्तारित रूपसे पीठपूजा नामक अध्यायमें किया जायगा। मूर्तिपूजाके द्वारा साधकके अन्त:करणमें निहित शक्तिके साथ श्रीभगवान्‌की इस दिव्यशक्तिका मिलन होता है, तब जीवचित्तकी परिच्छिन्न तथा लघु शक्ति श्रीभगवान्‌की अनन्त दिव्य शक्तिमें विलीन होकर अपने परिच्छिन्न भावको छोड़कर असीम भावको धारण कर लेती है, जिसके फलसे साधकको असीम दिव्यशक्ति लाभ तथा अनेक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। संसारमें इस प्रकारसे सिद्धि तथा दैवी शक्तियुक्त महात्माओंका आज भी अभाव नहीं है। साधनराज्यमें सिद्धियोंकी प्राप्ति द्वारा साधकचित्तमें भगवान्‌के प्रति जीव्र विश्वास और आग्रहातिशय उत्पन्न होता है जिसके फलसे आध्यात्मिक मार्गमें एतादृश उपासक शीघ्र ही विशेष उन्नति करनेमें समर्थ हो सकते हैं। यही मूर्तिपूजा द्वारा शक्ति और सिद्धि प्राप्तिरूप अष्टम उपकारिता है।

(९) श्रीभगवान्‌की भावमयी मूर्त्तिमें अत्यन्त प्रेमके साथ ध्यानमग्न होकर समस्त मन प्राण उसीमें समर्पण कर देनेसे और तीव्रसंवेगके साथ श्रीभगवान्‌की दर्शनकामना करनेसे भक्तवत्सल भगवान् साधकके भावके अनुसार अनन्तशोभासे युक्त मधुर भावमयी मूर्त्तिको धारण करके भक्तको दर्शन देते हैं। उनके दर्शनसे भक्तका हृदयकमल खिल जाता है, समस्त शरीर रोमाञ्चयुक्त हो जाता है, द्रव-द्रवित धारासे प्रेमाश्रु बहने लगता है, भक्तकी समस्त सद्वृत्तियां असंख्य मन्दाकिनीका

रूप धारण करके श्रीभगवान्‌के आनंद समुद्रकी ओर प्रबल वेगसे धावमाना होने लगती हैं, उनके चित्तकी समस्त मलिनता प्रेमाश्रुधाराके द्वारा दूर हो जाती है, समस्त अज्ञानान्धकार सूर्यके उदयसे रात्रिके अन्धकारके सदृश भगवन्मूर्त्तिकी तेजोमयी किरणच्छटासे पूर्ण नाशको प्राप्त हो जाता है, भक्त संसारके क्षणभंगुर समस्त वैषयिक रूपको पूर्ण रूपसे भूलकर अनन्तरूपाधार श्रीभगवान्‌के रूपसागरमें चिरकालके लिये डूब जाता है, उसकी विषयतृष्णा श्रीभगवान्‌की प्रेमसुधाको पान करके चिरकालके लिये निवृत्त हो जाती है और प्रेमभरी दृष्टिसे चकोरकी तरह श्रीभगवान्‌की आनन्दमयी मूर्त्तिका आस्वादन करते करते भक्त ध्याता ध्यान ध्येय रूपी त्रिपुटीको पार करके उसी रूपमें तन्मय हो भावसमाधिको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार दिव्यभावमय आनन्दमय रूपसुधास्वादनकी सौभाग्यप्राप्ति साकार मूर्त्ति-पूजनपरायण साधकको ही प्राप्त हो सकती है। देवता यज्ञके अंगीभूत नहीं हो सकते हैं कर्ममीमांसाकृत इस पूर्व पक्षके उत्तरमें महर्षि वेदव्यासजीने स्वकीय ब्रह्मसूत्रमें लिखा है।

"विरोधः कर्म्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्"

यदि कर्मके विषयमें इस प्रकारसे विरोध माना जाय कि एक समय पर एक देवता अनेक स्थांनोंमें कैसे उपस्थित रह सकते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि देवताओंमें ऐसी शक्ति है कि एकही समय पर अनेक रूप धारण करके अनेक स्थानमें दर्शन दे सकते हैं। अतः ब्रह्मसूत्रके अनुसार सिद्ध हुआ कि भक्तकी प्रार्थना तथा अनुष्ठानके अंनुसार इष्ट देवता मूर्त्तिपरिग्रह कर सकते हैं यही मूर्त्तिपूजनकी नवम उपकारिता है।

(१०) श्रीभगवान्‌के अवतार राम कृष्ण आदिकी मूर्न्ति बनाकर पूजा करनेसे भगवदवतारकी पूजा द्वारा भी विष्णुलोक शिवलोक आदिकी प्राप्ति, रूपके द्वारा भावमें लय होकर भावसमाधिकी प्राप्ति तथा तदनन्तर निराकार उपासना द्वारा पूर्णता लाभ, अवतारकी मधुर मूर्त्तिमें

आसक्ति होनेसे विषयासक्तिका परित्याग, चञ्चल मनकी रूपमें स्थिति द्वारा चाञ्चल्य नाश तथा आनन्द प्राप्ति, उनके मधुर लीलाविलासका गुणकीर्त्तन, उनके प्रति प्रेम, दास्यादि भावसे आसक्ति द्वारा आध्यात्मिक उन्नति लाभ आदि मूर्त्तिपूजाके द्वारा कल्याणकी प्राप्ति तो होती है है, इसके अतिरिक्त उनके प्रति भक्ति तथा प्रेम तथा उनके मधुर चरित्रोंके श्रवण और पठन पाठनके द्वारा मानवचरित्रमें परमोन्नतिसाधन हो जाता है।

श्रीभगवान् रामचंद्रकी अपूर्व पितृभक्ति, अलौकिक चरित्र, एकपत्नीव्रत, मर्यादापरायणता, प्रजावत्सलता, धर्मभाव, सर्वजीवहितैषिता, भातृप्रेम, सर्वतोमुखिनी स्वभावसुंदरता आदि सद्गुणावलीको देखकर और उन भावोंके साथ उनकी सेवा करके मनुष्यजीवन अपूर्व आदर्शचरित्रयुक्त तथा संसारका भूषण बन सकता है। भगवती सीताका लोकोत्तर मधुर चरित्र तथा अपूर्व पातिव्रत्यका आदर्श उनकी पूजाके साथ प्रत्येक नर नारीके हृदयमें खचित हो जाता है। श्रीभगवान् कृष्णचंद्रकी पूर्णता, अलौकिक लोकलीला, दिव्यविभूतिका विकाश, अपूर्व धैर्य्य, अद्भुत ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, निष्काम भावकी पूर्णता, निर्लिप्तताकी पराकाष्ठा आदि सद्गुणोंको उनकी उपासनाके द्वारा हृदयमें प्रतिष्ठापित करके प्रत्येक मनुष्य पूर्णताकी पदवीपर पहुँच सकता है। इस तरहसे अन्यान्य अवतारोंकी पूजाके द्वारा भी दया शान्ति आदि अनन्त सदवृत्तियोंका लाभ साधकको हो जाता है। यही मूर्त्तिपूजाकी दशम उपकारिता है।

(११) राग तथा द्वेषही संसारमें अनंतद्रोह और दुःखके कारण हैं। मायाके प्रभावसे मुग्ध होकर अनुकूल वस्तुके प्रति राग और प्रतिकूल वस्तुके प्रति द्वेषबुद्धि प्राप्त करके संसारमें लोग घोर अनैक्य और अनंत द्रोहकी सृष्टि करते हैं; परन्तु जिस समय मनुष्यके चित्तमें श्रीभगवान्के प्रति परम पवित्र प्रेमधाराका सञ्चार होने लगता है। उस समय साधक समस्त सांसारिक रागद्वेषोंको त्याग कर समस्त अन्तःकरणको श्रीभगवान्के चरणकमलमें ही समर्पण कर देता है। उस समय रागद्वेषका

भाव उसके चित्तसे आमूल नाश प्राप्त होनेके कारण समस्त अनैक्य और द्रोह संसारसे नष्ट होकर परस्परके प्रति प्रेमभावका ही उदय हो जाता है। इसके सिवाय उपासनाकी उच्चदशामें जब साधकोंका जीवन ही उपासनामय बन जाता है और समस्त संसारको उन्हींका रूप भावना करके साधक संसारके प्रति प्रेमभाव प्रदर्शन करने लगते हैं, उस समय उनके चित्तसे द्रोहभाव एकबार ही उठ जाता है। श्रीभगवान्की मधुर मूर्त्तिमें पवित्र प्रेमका जितना विकाश होता है, उतना ही उपरोक्त द्रोहहीन, एकतायुक्त तथा मधुरिमामय स्वभावकी प्राप्ति मनुष्यको होती है। अतः जिस देशमें विचारानुसार इस प्रकार पूजापद्धतिकी जितनी प्रतिष्ठा होगी, उस देशके लोग उतने ही परस्पर प्रेम और एकताके साथ देश और धर्मकी सेवा कर सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही देश और धर्मकी उन्नति साधनमें एकता प्राप्ति रूप मूर्तिपूजाकी एकादश उपकारिता है।

(१२) जिस गृहस्थके गृहमें श्रीभगवान्का विग्रह प्रतिष्ठित रहता है वह गृह मानो भगवान्का मन्दिर और आवासस्थान बन जाता है। उसमें देवविग्रह रहनेके कारण लोग बहुत शुद्धि और शौचका विचार रखते हैं। विग्रहाशुद्धि तथा विग्रहकी अप्रतिष्ठाके भयसे किसी प्रकार अपवित्र वस्तु उस गृहमें आने नहीं देते हैं, जिससे गृहस्थके आबालवृद्ध-वनितामें आचारपरायणता और शौचकी प्राप्ति होती है। मन्दिरमें वृद्ध गृहस्थ लोग नित्य पूजा आदि करते हैं, जिनके आदर्शको देखकर गृहस्थके बालक बालिकाकी आस्तिकता, भक्तिभाव, पूजापरायणता, सच्चरित्रता, शीलता आदि सद्‌गुणावली गृहस्थ विना प्रयास ही प्राप्त कर लेते हैं। जिस घरमें देवप्रतिष्ठा हो उसमें बच्चोंको आचार और आस्तिकता सिखानी नहीं पड़ती है, वे स्वयं ही सीख लेते हैं। यही मूर्तिपूजाकी द्वादश उपकारिता है।

(१३) श्रीभगवान्की दैवी शक्ति विग्रहके द्वारा जिस परिवारके गृहमें प्रकट रहती है वहाँपर आसुरी शक्तिका प्रकोप नहीं हो सकता है। पिशाच आदिका अत्याचार, प्रेत आदिका उपद्रव और देशब्यापी कठिन

बीमारी (**epidemic**) आदि सभी आसुरी शक्तिके प्रकोपसे उत्पन्न होते हैं; परन्तु जिस परिवारके गृहमें दैवी शक्तिसे पूर्ण प्रतिमा विराजमान रहती है वहां पर ऐसे अत्याचार साधारणत: कभी नहीं हो सकते हैं। दैवीशक्तिके सात्त्विक भावका प्रभाव उस परिवारके अन्तर्जगतमें भी विराजमान रहनेसे उस परिवारके लोग प्राय: सच्चरित्र और कुकर्मसे विमुख होते हैं। वे उस प्रतिमाको जाग्रत और अन्तर्यामी समझकर पाप करनेसे सदा ही डरते रहते हैं।

उनके संकल्पके साथ उस गृहदेवताका भाव और दैवराज्यमें सम्बन्ध रहनेके कारण गृहस्थका हर एक प्रकारका कल्याण होता है। अनेक दैवीबाधा और अपत्तिसे गृहस्थ उस दैवी शक्तिके प्रभावसे बचते रहते हैं। गृहमें नित्य धूप दीप सुगन्ध द्रव्यादिका प्रज्वलन, हवन और पुष्पादिके द्वारा वहाँकी वायु शुद्ध रहती है, जिससे शुद्धवायुसे उत्पन्न रोग वहाँ कम उत्पन्न होते हैं और समस्त गृहस्थोंकी आरोग्यतामें सहायता मिलती है। इस प्रकार घर घरमें तथा पञ्चायतकी तरफसे देवमन्दिर देवविग्रह स्थापित होनेसे समस्त देशमें और देशके आबालवृद्धवनिताओंमें उपरोक्त सुफलोंकी प्राप्ति होती है, जिससे देशमें आधिभौतिक, आदिदैविक और आध्यात्मिक सुख सम्पत्ति, उन्नति और शान्ति सदैव विराजमान रहती है। देशव्यापी प्रारब्धजनित कुसंस्कारके भयसे कदाचित् कोई महामारी, जैसा—हैजा, प्लेग, चेचक आदि हो जाने पर भी दैवी अनुष्ठान तथा पूजा आदिके द्वारा सुसंस्कार उत्पन्न करनेसे ऐसे कठिन रोग दूर हो जाते हैं, इत्यादि सभी मूर्त्तिपूजाकी उपकारिता है।

(१४) प्रत्येक पदार्थ तभीतक अपनी निरोग अवस्थामें रह सकता है, जबतक उस पदार्थकी प्राणशक्ति की समतामें किसी प्रकारकी हानि उत्पन्न न हो। प्राणशक्तिके अधिक व्यय या अपव्ययसे उसकी समतामें हानि हो जाती है, जिससे कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दृष्टांतरूपसे समझ सकते हैं कि मनुष्यशरीरमें प्राणशक्तिकी समता रहनेसे

वात, पित्त, कफ और अन्यान्य धातुओंका भी सामञ्जस्य रहता है, जिससे मनुष्य शरीर नीरोग रहता है; परन्तु ब्रह्मचर्यनाश, अधिक परिश्रम, अधिक बोलना, काम मोह क्रोध आदि वृत्तियोंके वशीभूत होना आदि कारणोंसे मनुष्यकी प्राणशक्ति घट जाती है, उसकी समतामें विरोध पड़ता है, जिस कारण वात पित्त कफ और अन्यान्य धातुओंमें विकार उत्पन्न होकर शरीरको रोगग्रस्त तथा अल्पायु कर देता है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरमें है, ठीक उसी प्रकार समष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डशरीरमें जो प्राणशक्ति विद्यमान है, जिसकी समता और सामञ्जस्यके द्वारा ब्रह्माण्डशरीरान्तर्गत वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंकी समता रक्षित होकर ब्रह्माण्डशरीर नीरोग रहता है और उस नीरोगताके फलसे देशकालानुसार ऋतुओंका ठीक ठीक परिवर्त्तन, शस्य सम्पत्तिकी वृद्धि, प्रजाका सुख, दुर्भिक्ष आदिका अभाव, महामारी और देशव्यापी रोगोंकी अनुत्पत्ति आदि महत्फल उत्पन्न होते हैं, उस ब्रह्माण्डशरीर व्यापी प्राणशक्तिकी समता यदि किसी तरहसे बिगड़ जाय तो उसका परिणाम यह होगा कि ब्रह्माण्डके वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंमें विकार होगा, पंचतत्त्वोंमें विकृति उत्पन्न होगी, जिससे ब्रह्माण्डशरीर रोगग्रस्त होकर ऋतुविपर्यय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कुलक्षण, दुर्भिक्ष, महामारी आदि रोगोंको उत्पन्न करेगा।

पञ्चतत्त्वोंके जिस प्रकार परिणामके द्वारा सुजला सुफला वसुंधरा अपनी निर्दिष्टगतिको प्राप्त कर रही है और विराट् पुरुषका स्थूल ब्रह्माण्डशरीर नीरोगतापर प्रतिष्ठित है, उस प्राकृतिक गतिपर यदि बलात्कार किया जाय अर्थात् प्राकृतिक गतिको तोड़कर इच्छानुसार अप्राकृतिक बनाय जाय—जल जिस गतिके अनुसार चलनेसे जगद्जीवनकी रक्षा कर सकता है, वायु जिस गतिसे प्रवाहित होनेपर संसारकी स्थितिविधान कर सकता है, पृथ्वी जिस प्रकारसे परिसेविता होनेपर सुफल प्रदान कर सकती है, इन सबोंमें यदि बलात्कार द्वारा अप्राकृतिक अनुष्ठान किया जाय, तो पञ्चतत्त्वोंमें अवश्यही विकार उत्पन्न होकर ऋतुविपर्यय, महामारी, अतिवृष्टि अनावृष्टि, आदि दुर्लक्षण

प्रकाशित करेगा, जिससे समस्त जगत्‌की शान्ति नष्ट होकर अशान्ति और दुःख दारिद्र्य बढ़ जायगा। इसके सिवाय ब्रह्माण्डकी प्राणरूप वैद्युतिक शक्तिको तत्त्वोंके भीतरसे यदि खींचकर अन्यान्य कार्यमें लगा दिया जाय तो भी प्राणशक्तिहीन ब्रह्माण्डशरीर मृतवत् हो जायगा, इसकी जीवनी शक्ति घट जायगी जिससे इसमें उत्पन्न करनेकी शक्ति, उत्तम सन्तानोत्पादिका शक्ति ऋतुओंका क्रमविकाश आदि सभी नष्ट हो जायगा और विराट्‌धातुमें विकार और वात पित्त कफका सामञ्जस्य बिगड़कर देशमें महामारी, दुर्भिक्ष, संग्राम, दुःख, दारिद्र्य और अशान्ति फैल जायगी।

आस्तिकताविहीन आधिभौतिक विज्ञानोन्नति **(godless scientific improvement)** के फलसे ब्रह्माण्डकी प्राण शक्तिकी ऐसी ही हानि और पञ्चतत्त्वोंमें ऐसा ही वैषम्य **(elemental disturbance)** उत्पन्न होता है जिसको सभी लोग देख सकते हैं। इसमें ब्रह्माण्डव्यापिनी वैद्युतिक शक्ति आकर्षित करके अन्यान्य कार्यमें लगाई जाती है और स्वाभाविक रूपसे प्रवाहशील तत्त्वों पर बलात्कार करके उनको मनमाने कार्यमें लगाया जाता है अर्थात् उनकी प्राकृतिक गतिमें बाधा दी जाती है अतः आधिभौतिक विज्ञानोन्नतिके द्वारा विराट् धातुमें विकार उत्पन्न होकर देशमें संग्राम, दुर्भिक्ष, महामारी दारिद्र्य तथा अशान्ति आदिका उत्पन्न होना निश्चित है। संसारमें जिस जिस समय ऐसा संग्राम अथवा महामारी, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदिका प्रकोप देखा गया है, उसके मूलका अन्वेषण करनेसे अवश्यही पता लगेगा कि आसुरी शक्तिके अयथा प्रयोग द्वारा प्रकृतिराज्यमें वैषम्य, आसुरी अस्त्रोंके प्रयोग द्वारा पञ्चतत्त्वोंमें विकार अथवा ब्रह्माण्ड शरीरकी प्राणशक्तिनाश या प्राणवैषम्यके द्वारा ही ऐसी बहुदेशव्यापी दुर्घटनाएँ हुई हैं। महर्षि वशिष्ठजीने कहा है—

विराट्‌धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना ।
तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वैषमम् ।
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमानयति ।

विराट् शरीरमें तत्त्वविकार और धातुविकार तथा प्राणशक्तिके विषमस्पन्दनसे विराट्के अङ्गीभूत जीवोंकी प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होती है जिससे दुर्भिक्ष, कुग्रहोंका उदय, उल्कापात, धूमकेतु आदिका उदय, महामारी आदि उत्पात होने लगते हैं। प्राचीन कालमें आधिभौतिक विज्ञान (**material science**) की उन्नति पूर्णरूपसे होनेपर भी महर्षियोंकी दूरदर्शिताकारण वह इस प्रकारसे नहीं अनुष्ठित होती थी जिससे प्रकृति पर किसी प्रकारका बलात्कार हो। अवश्य आसुरी शक्तिका अत्याचार भी उस समय था जिससे विराट् धातुमें विकार, अनार्य अस्त्रप्रयोग आदिके द्वारा उत्पन्न होकर दुर्भिक्ष, कुग्रहोत्पात आदि दुर्घटनाओंकी उत्पत्ति करता था। इन सब आसुरी शक्तियोंके प्रकोपको दूर करनेके वास्ते ऋषिगण आवश्यकतानुसार कभी यज्ञ द्वारा, कभी दैवानुष्ठान और देवपूजा द्वारा या कभी अन्य प्रकारसे भी दैवीशक्ति उत्पन्न करके आसुरी शक्तिको दबाकर देशव्यापी अकल्याणको दूर कर देते थे। विचार कर देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि महर्षियोंके द्वारा प्रतिष्ठित गृहदेवता, ग्राम-देवता, वनदेवता आदिके मन्दिर तथा तीर्थादि, इसी प्रकारसे समस्त देशमें दैवीशक्तिके पोषण द्वारा प्रकृतिके शक्ति सामञ्जस्य विधानके लिये भी है; अर्थात् इन सब दैवीशक्तिके केन्द्रस्थानोंके द्वारा आध्यात्मिक आदि अन्य प्रकारके उपकार अनेक होनेपर भी समष्टि जगत्में शान्ति रक्षा भी इनका अन्यतम उद्देश्य है। शास्त्रमें तीर्थ दो प्रकारके कहे गये हैं। एक नित्यतीर्थ, दूसरे नैमित्तिक तीर्थ। नित्य तीर्थ वह है, जहाँ पर दैवीशक्ति स्वयं निकलती है और नैमित्तिक तीर्थ वह है जहाँ पर तपस्या, यज्ञ आदिके बलसे दैवीशक्तिका विकाश किया जाता है। भारतवर्षकी प्रकृति पूर्ण होनेसे भारतवर्ष पृथिवीके मर्मस्थान तुल्य है और इसी कारण यहाँ पर अनेक स्थानोंमें दैवीशक्ति स्वयंही निकलती है, वे सब नित्य तीर्थ कहलाते हैं, यथा- ज्वालामुखी, काशी, कामाख्या, प्रयाग आदि। पुराणोंमें जो आख्यायिका पाई जाती है कि जगदम्बा सतीका देह खण्ड खण्ड करके कामाख्या,

ज्वालामुखी आदि स्थानोंमें डाल दिया गया वे सब तीर्थ बन गये और इसी प्रकार शिवके लिङ्गको काट काट कर अनेक स्थानोंमें फेंक दिया गया और वे सब द्वादश ज्योतिर्लिङ्गनामसे प्रसिद्ध तीर्थस्थान बने; यह सब नित्यतीर्थोंकाही लौकिक वर्णन है; अर्थात् भानतवर्षके विशेष मर्मस्थान होनेसे शिवशक्ति और प्रकृतिशक्ति यहाँ नित्य स्थायिनी है। ये सब नित्यतीर्थोंके दृष्टान्त हैं। इन सब पीठोंसे प्रकाशित दैवीशक्ति द्वारा सदा ही आसुरी शक्तिका नाश और प्राकृतिक वैषम्य विदूरित होकर संसारमें शान्तिका विस्तार होता है।

इसके सिवाय महर्षिगण अपनी तपस्याशक्ति और यज्ञानुष्ठान द्वारा अनेक नैमित्तिक तीर्थ भी बनाया करते थे। नैमित्तिक तीर्थ वह है, जहाँपर दैवीशक्तिका विकाश पहले नहीं था परन्तु तपःशक्ति या यज्ञ आदि द्वारा वहाँपर दैवीशक्ति आकृष्ट की गई है और इससे दैवीशक्तिका आधारभूत वह स्थान तीर्थ बन गया है। इस प्रकारसे दैवी शक्ति जितनी ही प्रकट की जायगी उतना ही आसुरी शक्तिका प्रकोप ह्रास होगा और आधिभौतिक विज्ञान, आसुरी अस्त्रोंका प्रयोग, प्राकृतिक प्राणशक्तिका नाश आदि द्वारा जो संग्राम दुर्भिक्ष आदि विराट् शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जायंगे। गृह, ग्राम और देशमें मन्दिर बनवाकर प्रतिमावे द्वारा श्रीभगवान्की अथवा अन्य देवताकी दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा द्वारा भी उपरोक्त प्रकारसे आसुरीशक्तिका दमन होता है। अधिभौतिक विज्ञानकी प्रकृया द्वारा विकृत पञ्चतत्त्वोंकी विषमता दूर होकर देशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिका नाश होता है और अन्य कार्यमें नष्ट ब्रह्माण्डवत् प्राणशक्तिकी पुष्टि होती है जिससे इस प्रकार आधिभौतिक विज्ञानका प्रचलन रहने पर भी इसके द्वारा प्रकृति राज्यमें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती है।

वर्त्तमान समयमें आस्तिकताविहीन आधिभौतिक विज्ञान **(Godless science)** की उन्नति पराकाष्ठापर पहुँच रहीं है जिसके द्वारा स्थूल संसार कुछ उन्नतिपर प्रतीत होनेपर भी विराट् प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होकर संग्राम, महामारी, दुर्भिक्ष आदि अवश्यम्भावी है और

प्राचीन कालकी दूरदर्शिता जो महर्षि लोगोंमें थी, वह आज दिन होना कठिन ही है। अत: इस समय आधिभौतिक विज्ञानोन्नतिके समष्टिगत कुपरिणामका दूर करनेके लिये तीर्थ, मन्दिर, यज्ञ आदि द्वारा दैवीशक्तिका उत्पादन करना परमावश्यकीय है। भारतवर्षमें जितनी मन्दिरोंकी स्थापना शास्त्रानुसार होकर प्रतिमापूजन द्वारा दैवीशक्तिकी अनुकूलता होगी, तीर्थों का जीर्णोद्धार होकर जितनी तीर्थमहिमा बढ़ायी जायगी और यज्ञादि द्वारा दैवीशक्ति जितनी उत्पन्न की जायगी उतनीही वर्त्तमान समयमें भारतके लिये कल्याण और शान्ति प्राप्ति हो सकेगी। अथर्ववेदमें इसी सिद्धान्तका प्रकाशक एक मन्त्र आता है, यथा—

''न घ्नंसस्ततताप न हिमो जघान प्रनभतां पृथिवी जीरदानुः आपश्चिदस्मै धृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदगित् तत्र भद्रम्।''

इसका अर्थ निम्नलिखित है-(यत्र) जहांपर (सोम) प्रतिमानिहित दैवीशक्ति रहती है (तत्र) वहाँपर (सदमित्) सदाही (भद्रं) कल्याण होता है। (घ्नंस) सूर्य (न तताप) कठिन तथा दु:खदायी उत्ताप नहीं देता है (हिमः) शिलावृष्टि न जघान आघात नहीं करती है, पृथिवी (जीरदानु:) शीघ्र शीघ्र अन्न उत्पन्न करती है (आपश्चित्) जल भी (अस्मै) उपासकको (घृतमित्) घृत ही (क्षरन्ति) देता है (प्रनभताम्) हे सोम ! तुम आसुरीशक्तिका नाश करो। इस मन्त्रके द्वारा मूर्तिव्यापिनीदैवी शक्ति द्वारा पृथिवीका सम्पूर्ण कल्याण साधन तथा आसुरी शक्तिका नाश ऊपरलिखित वर्णनके अनुसार प्रमाणित होता है। अत: ऊपर लिखित मूर्त्ति विज्ञानके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त हुआ कि श्रीभगवान्‌के अनन्त भावोंमेंसे कुछ भावोंको लेकर प्रकृतिभेदानुसार साधारण अधिकारी साधकोंके कल्याणके लिये भावानुसार जो मूर्तिकी प्रतिष्ठा वेदादिशास्त्रानुसार सिद्ध होती है, उसके द्वारा समस्त मनुष्य ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकारके लाभको प्राप्त करते हुए अन्तमें निर्गुणोपासनाके अधिकारी बनकर ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं।

मन्त्रयोगके सिद्धान्त वर्णन प्रसङ्गमें पहले ही गया है कि समस्त संसार नाम तथा रूपमय होनेके कारण अविद्याग्रस्त जीव नाम और

रूपके द्वारा ही बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये जीवकी मुक्ति भी दिव्य नाम और दिव्यरूपकी सहायतासे होती है, दिव्य रूपकी सहायतासे किस प्रकारसे साधक भाव समाधि द्वारा उन्नत अधिकार लाभ करके मुक्त हो सकता है सो पहले ही वर्णित किया गया है। अब दिव्य नामकी सहायतासे मुक्तिका उपाय नीचे बताया जाता है।

शास्त्रमें मन्त्रको दिव्य नाम कहा गया है क्योंकि जिस प्रकार प्रकृतिके दिव्य भावोंके अनुसार बनी हुई मूर्ति दिव्यरूप कहलाती है, उसी प्रकार मन्त्र भी प्रकृतिके दिव्यराज्यका स्पन्दनजनित शब्द होनेसे दिव्यनाम कहलाता है। अब नीचे आदिमन्त्र ओङ्कारसे लेकर प्रकृति स्पन्दन द्वारा समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति बताई जाती है। योगशास्त्रमें लिखा है—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकम्
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा।
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी
शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः ।।
साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा ।।

जहाँ कुछ कार्य है वहाँ कम्पन अवश्य होगा, जहाँ कम्पन है वहां शब्द भी अवश्य होगा। सृष्टिक्रिया भी एक प्रकारका कार्य है। इसलिये सृष्टि कार्यके समय प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है, वही मङ्गलकारी ओंकाररूप प्रणव है। सत्त्व रज तम तीनोंकी साम्यावस्थासे जब वैषम्यावस्था होना प्रारम्भ हुआ, तो सबसे प्रथम हिल्लोल जो हुआ, जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुए उस हिल्लोलकी ध्वनिही ओंकार है। जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ओंकार है, उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके नाना शब्द हैं, वे ही नाना शब्द उपासनाओंके

अनेक बीजमन्त्र हैं। वेदमें ओंकारको उद्गीथ कहा गया है, यथा— छान्दोग्योपनिषद्में—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।

ओं इस उद्गीथ अक्षरकी उपासना करनी चाहिये। ओंकार इस शब्दको मुख्य रखकरही भगवान्‌की स्तुति होती है, इसलिये ओंकारका नाम उद्गीथ है। भगवान् शङ्कराचार्यजीने ने भी लिखा है—

ओं इत्यारम्भ हि यस्माद् उद्गायति अतः उद्गीथ ओंकार इत्यर्थः।

भगवान् पतञ्जलिजीने ओंकारको ईश्वरका वाचक कहा है, यथा योगदर्शनमें—

"तस्य वाचकः प्रणवः" "तज्जपस्तदर्थभावनम्"

"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

ओंकार ईश्वरका वाचक है, ओंकारका जप तथा अर्थभावनाके द्वारा ईश्वरप्राप्ति तथा विघ्नविनाश हुआ करता है। इसीके अनुसार श्रीभगवान् शंकराचार्यजीने लिखा है—

"तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहणेनेव लोकाः"

जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारनेसे लोग प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌का प्रिय नाम ओंकार उच्चारण करके उनको बुलानेसे भगवान् भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। ओंकार ही ईश्वरका मन्त्र है, यथा गीतामें—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

एकाक्षर ब्रह्ममन्त्र ओंकारका उच्चारण तथा भगवान्‌का स्मरण करते हुए जो साधक प्राणको त्याग देते हैं, उनको परमधाम प्राप्त हो जाता है।

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते"

ओंकार धनु, शर जीवात्मा और लक्ष्य ब्रह्म हैं।

"आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिं"

जीवात्माको पूर्वारणि और ओंकारको उत्तरारणि करके मंथन करनेसे ब्रह्माग्निकी उत्पत्ति होती है इत्यादि श्रुतिमन्त्रोंके द्वारा ओंकारको ईश्वरका मन्त्र कहा गया है, जिसके जप करनेसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं। माण्डूक्योपनिषद्‌में ओंकारको सार्द्धत्रिमात्रा कहकर तीन मात्राके साथ परमात्माकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिरूपी तीन दशाका सम्बन्ध बताकर शेष अर्द्ध मात्राके साथ तुरीयपदगम्य परमात्माका सम्बन्ध बताया गया है। इन सभोंका विस्तृत विवरण तथा ओंकारकी महिमा पूर्णरूपसे किसी आगेके अध्यायमें बताई जायगी। वर्त्तमान प्रबन्धका यह प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकारसे ऊपर लिखित वर्णनोंके अनुसार शब्द राज्यमें ओंकारके साथ ईश्वरका और अन्यान्य मन्त्रोंके साथ अन्यान्य देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध है जिस कारण ओंकारके जपसे ईश्वर तथा अन्यान्य मन्त्रोंके जपसे तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं। यह बात वेदसम्मत है कि, प्रलयके समय समस्त जीवोंका संस्कार प्रकृतिमें और प्रकृति ईश्वरमें लय हो रहती है। पुनः प्रलयविलीन जीवोंके समष्टि संस्कार फलोन्मुख होनेसे ईश्वरमें यह स्वतः इच्छा होती है कि, "मैं एकसे बहुत हो जाऊँ और संस्कारानुसार सृष्टि करूँ" उस समय भगवान्‌में सृष्टिका संकल्प उदय होते ही उनकी अद्वैतसत्तामें त्रिगुण समावेशके अनुसार ब्रह्मा विष्णु महेश्वररूपी त्रिभावकी सत्ता परिस्फुट होने लगती है और उनके संकल्पसे उत्पन्न प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डप्रकृतिमें जहाँपर अभीतक सत्त्वरजस्तमोगुणकी समता थी त्रिगुणका वैषम्य होने लगता है।

त्रिगुणमयी प्रकृतिका गुणसाम्य प्रलयदशाका लक्षण है और वैषम्य सृष्टिदशाका लक्षण है। अतः उस समय परमात्मासे सङ्कल्पके साथ-साथ मूल प्रकृतिमें कम्पन होने लगता है, जैसा कि योगशास्त्रमें कहा गया है कि जहाँ कार्य होता है, वहाँ कम्पन होता है और जहाँ कम्पन होता है, वहां शब्द होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार मूल प्रकृतिमें सृष्टिकार्यकी सूचना होते ही त्रिगुणमें कम्पन होता है और जिस प्रकार एक थालीमें जल रखकर थालीके हिलानेसे एक बार समस्त जल हिल

उठता है और पश्चात् जलके भिन्न भिन्न देशमें कम्पन होकर भिन्न भिन्न तरंग उठते हैं, उसी प्रकार सृष्टिकी सूचना होते ही समस्त ब्रह्माण्डकी मूल प्रकृतिके एकदम हिल जानेसे कम्पनजनित प्रथम एक शब्द होता है, उसीका नाम ओंकार है। इस कारण अधिदैव जगत्में प्रथम शब्द होनेसे ओंकारके साथ ईश्वरका वाच्य वाचक सम्बन्ध है। पहले कहा गया है कि सृष्टिके समय क्रम यह निश्चय हुआ—परमात्माके अन्तःकरणमें सिसृक्षा तदनन्तर त्रिगुणसमतायुक्त प्रकृतिमें वैषम्यजनित गुणस्पन्दन तथा ओंकार नादका प्रकाश, अतः ओंकारके साथ परमात्माका साक्षात् दैवसम्बन्ध है—मानो ओंकार उनका नाम ही है, क्योंकि गुणातीत साम्यावस्था प्रकृतियुक्त निष्क्रिय ब्रह्मभावमें जब सिसृक्षा उत्पन्न हुई तो वही भाव सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर भाव कहलाया। उसी भावके साथ जो साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला शब्द होगा सो अवश्य ही ईश्वरका वाचक अर्थात् प्रथम नाम होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्था प्रकृतिके प्रधान विभागोंके साथ जिन शब्दोंका सम्बन्ध है वे बीज मन्त्र हैं। यही ओंकारके अकार, उकार, मकारके साथ त्रिदेव सम्बन्ध और समस्त मन्त्रोंके साथ देवताओंके सम्बन्धका कारण है।

जब प्रकृति सृष्टि अभिमुखीन हो ही गई तो त्रिगुणोंमें पुनः स्पन्दन होगा; क्योंकि त्रिगुणोंके विकारके द्वारा ही समस्त सृष्टि होती है, अतः आधिभौतिक राज्यमें गुणस्पन्दन द्वारा पञ्चतत्त्व आदिके क्रमविकाशसे जड़चेतनात्मक जगत्की सृष्टि होगी और शब्दराज्यमें प्रकृतिके नाना प्रकारके स्पन्दनके द्वारा नाना प्रकारके शब्द उत्पन्न होंगे। यही सब शब्द प्रथम अवस्थामें नाना बीज मन्त्र और उसके बादके परिणाममें देवनागरी वर्णमाला और नाना भाषाके शब्द हैं। प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा ओं बीज उत्पन्न हुआ और तदनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें आठ प्रकृतिके अनुसार अष्ट बीजमन्त्रोंकी उत्पत्ति हुई। गीतामें लिखा है—

भुमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, परमात्माकी माया शक्ति इसी अष्टभागमें विभक्त है। इसी प्रकार प्रकृतिके अष्ट स्पन्दनानुसार अष्ट बीजमंत्र हैं और तदनंतर प्रकृतिके भिन्न-भिन्न अंगमें अनेक स्पंदन और तदनुसार अनेक मन्त्र होते हैं और इससे यह भी बात स्वत: सिद्ध हो जाती है कि, जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके स्पन्दनजनित शब्द ओंकारके साथ ब्रह्माण्डनायक ईश्वरका अधिदैव सम्बन्ध होनेसे ओंकार उनका मन्त्र है, उसी प्रकार प्रकृतिके जिस विभागके कम्पनसे जो मन्त्र उत्पन्न होंगे उस विभागके अधिष्ठाता देव या देवीके साथ उस मन्त्रका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे उस देवता या देवीके साधनके लिये वे ही मन्त्र होंगे। महर्षिगणने जिस प्रकार प्रकृतिके भिन्न-भिन्न विभागमें संयम करके तत्तद्विभागोंपर अधिष्ठात्री देवताओंकी मूर्ति बताई है, उसी प्रकार प्रकृतिके उन विभागोंके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्दोंको भी संयम द्वारा सुनकर तत्तद्देवताओंके मन्त्ररूपसे उन उन शब्दोंका विधान किया है। प्रकृतिका जो प्रथम स्पन्दन व्यापक प्रकृतिमें एक महान् शब्द उत्पन्न करता है, उसीके ही परिणामरूपसे अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं ऐसा सिद्धान्त ऊपर लिखित शब्दोत्पत्ति विज्ञानके द्वारा स्पष्ट होता है इसलिये प्रथम महान् शब्द ओंकारसे ही अन्यान्य समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है और संसारके जितने शब्द और वर्णमालाके वर्ण हैं सभी ओंकाररूपी महा शब्दके विकारसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा समझना शास्त्रसम्मत होगा।

केवल संस्कृत वर्णमालाके ककारादि शब्द प्रकृतिके साक्षात् स्पन्दनके साथ प्राकृतिक सम्बन्ध रखनेके कारण और बीजमंत्रोंके निकट होनेके कारण सभी बीजरूप हैं और संस्कृत भाषा संसारकी सभी भाषाकी जननीरूप है और अन्यान्य भाषाओंके शब्दोंके साथ प्रकृतिके दूर परिणामका सम्बन्ध होनेसे तथा साक्षात् सम्बन्धके अभाव होनेसे वे प्रकृतिका स्पन्दन न होकर विकृतिका स्पन्दन हैं और इसलिये वे बीजमंत्र नहीं हो सकते हैं। शास्त्रमें कहा गया है—

"मन्त्राणां प्रणवः सेतुः"

प्रणव मन्त्रोंका सेतु है अर्थात् जिस प्रकार सेतुके आश्रय मनुष्य नदी पार होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मंत्रके साथ ओंकारको मिलाकर उच्चारण करनेसे मन्त्र अपनी व्यापकशक्तिको प्राप्त कर सकता है इसलिये छान्दोग्योपनिषद्में वर्णित है—

"तद् यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोङ्कारेण
सर्वा वाक् संतृणा ओंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम्"

जिस प्रकार पत्रनाल द्वारा समस्त पत्र गुथे हुए रहते हैं, उसी प्रकार ओंकारके साथ समस्त शब्द गुथे हुए रहते हैं, ओंकार ही सब हैं। ओंकारमें समस्त मंत्रोंको सिद्धि प्रदान करनेकी शक्ति रहनेसे ही ओंकार परम मङ्गलकर कहा गया है, यथा, स्मृतिमें—

माङ्गल्यं पावनं धर्म्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ।।
आद्यमन्त्रोऽक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
सर्वमन्त्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते ।।
तेन संपरिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि ।
सर्वमन्त्राधियज्ञेन ओंकारेण न संशयः ।।

परब्रह्मरूप ओंकार समस्त मन्त्रोंका नायक, परम पवित्र, मंगलमय तथा सकल कामनाओंका साधक है। तीनों वेदोंकी प्रतिष्ठा इसी आदि मंत्रमें है और सकल मंत्रोंके प्रयोगमें ओंकारका प्रयोग प्रथम होता है। अन्य मंत्रोंके साथ प्रथम ओंकारका उच्चारण होनेसे मन्त्रोंका फल यथावत् प्राप्त होगा है। "संसारकी समस्त वाणी ओंकारमें ही संग्रथित है" छान्दोग्योपनिषद्के इस सिद्धान्तका बड़ा ही सुंदर वर्णन लिङ्गपुराणमें मंत्रोत्पत्तिके प्रसंगमें किया गया है, यथा—

तदा समभवत्तत्र नादो वै शब्दलक्षणः ।
ओमोमिति सुरश्रेष्ठाः सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः ।।
किमिदन्त्विति संचिन्त्य मया तिष्ठन् महास्वनम् ।
लिङ्गस्य दक्षिणे भागे तदाऽपश्यत् सनातनम् ।

आद्यं वर्णमकारन्तु उकारं चोत्तरे ततः ।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति ।।
सूर्यमण्डलवद्दृष्ट्वा वर्णमाद्यं तु दक्षिणे ।
उत्तरे पावकप्रख्यमुकारं पुरुषर्षभः ।
शीतांशुमण्डलप्रख्यमकारं मध्यमं तथा ।
तस्योपरि तदाऽपश्यच्छुद्धस्फटिकवत् प्रभुम् ।।
तुरीयाऽतीतममृतं निष्कलं निरुपप्लवम् ।
निर्द्वन्द्वं केवलं शून्यं बाह्याभ्यन्तरवर्जितम् ।।
अकारस्तस्य मूर्द्धा तु ललाटं दीर्घमुच्यते ।
इकारो दक्षिणं नेत्रमीकारो वामलोचनम् ।।
उकारो दक्षिणं श्रोत्रमूकारो वाममुच्यते ।
ऋकारो दक्षिणं तस्य कपोलं परमेष्ठिनः ।।
वामं कपोलमृकारो लृलॄनासापुटे उभे ।
एकारमोष्ठमूर्द्धञ्च ऐकारस्त्वधरो विभोः ।।
ओकारश्च तथौकारो दन्तपङ्क्तिद्वयं क्रमात् ।
अमस्तु तालुनी तस्य देवदेवस्य धीमतः ।।
काऽऽदिपञ्चाऽक्षराण्यस्य पञ्चहस्तानि दक्षिणे ।
चाऽऽदिपञ्चाऽक्षराण्येव पञ्चहस्तानि वामतः ।।
टाऽऽदिपञ्चाऽक्षरं पादस्ताऽऽदिपञ्चाऽक्षरं तथा ।
पकारमुदरं तस्य फकारः पार्श्व उच्यते ।
बकारो वामपार्श्वं वै भकारं स्कन्धमस्य तत् ।।
मकारं हृदयं शम्भोर्महादेवस्य योगिनः ।
यकारादिसकारान्ता विभोर्वै सप्तधादवः ।।
हकार आत्मरूपं वै क्षकारः क्रोध उच्यते ।।

सुव्यक्त और प्लुतलक्षण ॐनादका प्रकाश हुआ। लिङ्गके सर्वतः स्थित इस प्रकारके नादका स्वरूप निम्नलिखित है। इसका आद्यवर्ण अकार है जो कि दक्षिणकी ओर स्थित और सूर्यमण्डलवत्

दीप्तिमान् है। उत्तरकी ओर अग्निप्रभ उकारकी स्थिति है और मध्यस्थलमें चन्द्रमण्डलकी तरह तेजोमय मकारकी स्थिति है। इन तीनोंके ऊपर शुद्धस्फटिककी तरह भासमान ओंकाररूपी परम पुरुष विराजमान हैं। वे तुरीयातीत, अमृत, निष्कल, चाञ्चल्य और द्वन्द्वविहीन और आकाशवत् तथा बाह्य और अभ्यन्तरमें रहते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं। ॐकाररूपी उस परब्रह्मके विराट् रूपसे ही समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है, यथा— अकार उनका मस्तक और आकार उनका प्रशस्त ललाट है। इकार उनका दक्षिण नेत्र और ईकार वाम नेत्र है। उकार दक्षिण कर्ण और ऊकार वामकर्ण है। ऋकार दक्षिण कपोल और ॠकार वाम कपोल है। ऌकार ॡकार दोनों नासापुट हैं। एकार ओष्ठ और ऐकार अधर है। ओकार और औकार दोनों दन्तपंक्ति हैं। अं और अः उनके दो तालु हैं। कसे ङ तक पांच अक्षर उनके दक्षिण पांच हस्त और चसे ञ तक पांच अक्षर उनके वाम पांच हस्त हैं। टसे ण तक पांच अक्षर और तसे न तक पांच अक्षर उनके पाद हैं। पकार उनका उदर, फकार दक्षिण पार्श्व, बकार वामपार्श्व, भकार स्कन्ध और मकार हृदय है। यकारसे सकार तक ओंकाररूपी विराट् पुरुषके सप्त धातु हैं, हकार उनका आत्मारूप और क्षकार क्रोधरूप है। इस प्रकारसे ओंकारसे समस्त वर्णोंकी उत्पत्ति आर्यशास्त्रमें बताई गई है। यही सब वर्ण विराट् पुरुषके भिन्न भिन्न अङ्गसे उत्पन्न होनेके कारण प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्र हैं और इन मन्त्रोंके साथ तत्तत् प्रकृतिके देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध है। इसलिये जिस प्रकार समष्टि प्रकृतिके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द ॐ परमेश्वरका वाचक नाम है जिसके जप और अर्थभावना द्वारा परमेश्वर प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द भी तत्तत् प्रकृतिके देवताओंके वाचक नाम हैं। जिनके जप और अर्थभावना द्वारा तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं और दर्शन दिया करते हैं, यथा—योगदर्शनमें—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः।

स्वाध्यायके द्वारा इष्टदेवताका दर्शन होता है। यहां स्वाध्यायका अर्थ श्रीभगवान् वेदव्यासकृत योगदर्शनभाष्यमें मन्त्र-जप लिखा है। और भी सामवेद संहितामें—

उपह्वरे गिरीणाँ सङ्गमे नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।।

पर्वतप्रान्त तथा नदीसङ्गम स्थानपर स्तुति करनेसे इन्द्र प्रकट होते हैं। समष्टि प्रकृतिके साथ व्यष्टि प्रकृतिका एकत्व सम्बन्ध होनेसे समष्टि प्रकृतिके स्पन्दनजनित सारे शब्दोंका आविर्भाव व्यष्टि प्रकृतिके द्वारा भी अनुभव होता है; अर्थात् ओंकारसे लेकर समस्त वर्णोंका और मन्त्रोंका उच्चारण जीवशरीरके भिन्न भिन्न अङ्गों द्वारा होता है। जिस प्रकार समष्टि प्रकृतिका प्रथम स्पन्दन ओंकार समष्टि प्रकृतिके गर्भसे उत्पन्न होता है, उसी प्रकार व्यष्टि शरीरमें भी प्रकृतिका स्थान मूलाधारचक्रस्थित कुलकुण्डलिनीमें होनेके कारण आदि नाद प्रणवकी उत्पत्ति कुण्डलीनीसे होती है और अन्यान्य समस्त नाद वहांसेही निकलकर इडा, पिङ्गला और सुषुम्नारूपी त्रिविध योगनाडीके द्वारा भिन्न-भिन्न पथमें प्रवाहित होकर मन्त्र और वर्णन रूपसे हृदय, तालु, कण्ठ, जिह्वा, ओष्ठ, दन्त आदि स्थानोंके द्वारा प्रकट होते हैं, यथा-शारदातिलकमें—

भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः।।

कुण्डलीनीमेंसे प्रकाशित परा नाम्नी अविनाशी वाक्से शब्दकी उत्पत्ति होती है जो जीव शरीरमें अनेक प्रकारसे घूम करके गद्यपद्यादि भेदसे विविध वर्णमें प्रकाशित होता है। और भी—

स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः।।
स एव चोर्द्ध्वतां नीतः स्वाधिष्ठानविजृम्भितः।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्द्ध्वं शनैः शनैः।।
अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाऽभिधः।
तथा तयोरूर्द्ध्वगतो विशुद्धे कण्ठदेशतः।।
वैखर्य्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात्।।

कण्ठताल्वोष्ठकण्ठस्थः कण्ठौष्ठद्वयतस्तथा ।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि ।।

परमात्माकी इच्छाशक्तिरूपिणी मूलाधार पद्मस्थिता कुलकुण्डलिनीकी शक्तिसे उक्त पद्ममें प्रथमतः परानादकी उत्पत्ति होती है। तदनन्तर वह नाद स्वाधिष्ठान पद्ममें उठकर पश्यन्ती आख्याको प्राप्त होता है। तदनन्तर धीरे धीरे और भी ऊपर आकर अनाहत पद्ममें बुद्धितत्त्वके साथ मिलकर उस नादका नाम मध्यमा होता है। उसके ऊपर कण्ठस्थित विशुद्ध चक्रमें उस नादका नाम वैखरी होता है, यही शब्दनिष्पन्न वैखरी नाद कण्ठ, मस्तक, तालु, ओष्ठ, दन्त, जिह्वामूल, जिह्वाग्र, जिह्वापृष्ठ तथा नासाग्र द्वारा क्रमशः अग्रसर होता हुआ कण्ठ, तालु, ओष्ठ और कण्ठौष्ठद्वय द्वारा प्रकाशित होकर अकारसे क्षकार तक त्रर्णमालाओंका विकाश करता है। जीवशरीरमें कुलकुण्डलिनी णशक्तिरूप है। उसीके साथ इडा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सम्बन्ध है और इन तीनों नाडियोंके द्वारा ही प्राण, अपान, समान, उदान आदि दशविध वायुका प्रवाह समस्त शरीरमें व्याप्त होता है। प्राणशक्तिके द्वारा प्राणादिवायु सञ्चालित होकर समस्त शब्दोंको प्रकाशित करता है। उल्लिखित तीनों नाड़ियोंके साथ समस्त वायुका सम्बन्ध होनेसे प्रकृतिस्पन्दन जनित अकारसे लेकर क्षकार पर्यन्त समस्त वर्णमालाकी उत्पत्ति इन तीनों नाड़ियोंके द्वारा होती है, यथा-अ से अः पर्यन्त समस्त वर्णमाला इडा नाड़ीसे प्रवाहित होती है। क से म पर्यन्त समस्त वर्णमाला पिङ्गला नाड़ीसे प्रवाहित होती है और य से ज्ञ पर्यन्त समस्त वर्णमाला सुषुम्ना पथमें प्रवाहित होती है। इस प्रकारसे ॐसे लेकर समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति समष्टि प्रकृतिकी तरह व्यष्टिप्रकृतिमें होती है। ग;ग ल

इतनाही नहीं अधिकन्तु व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृतिकी ही प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब होनेसे समष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात व्यष्टि प्रकृतिमें और ब्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्तरका समसम्बन्ध समष्टि प्रकृतिके उसी अधिकारके स्तरके साथ रहता है। इसलिये इसके नादका प्रतिबिम्ब उसमें और उसके नादका प्रतिबिम्ब इसमें आ गिरता है। इसलिये साधक

अपनी व्यष्टि प्रकृतिके जिस जिस स्तरपर चित्तको संयत करता है, उसीमें ही समष्टि प्रकृतिके तत्तत् स्तरका नाद सुन सकता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृतिका प्रथम शब्द प्रणव होनेसे जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिको भी साम्यावस्था पर पहुँचावेंगे उसी समय अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके प्रथम नाद ॐकारको सुन सकेंगे। वह नाद मूलाधार चक्रस्थित कुलकुण्डलिनीसे निकलकर सहस्रारमें जा लय हो जायगा। उसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृतिको पूर्ण साम्यावस्थाके अतिरिक्त जिस जिस स्तरपर संयम करेंगे, उस स्तरके साथ समष्टि प्रकृतिके जिस स्तरका समसम्बन्ध है। उस स्तरके नादका प्रतिबिम्ब अपनी प्रकृतिमें अनुभव करेंगे। इसी प्रकारसे महर्षिगण अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके नादको सुनते हैं और उन्हीं नादोंके अनुसारही श्रीभगवान् तथा उनकी शक्तिस्वरूप भिन्न भिन्न देवताओंके साधनार्थ मन्त्रसमूह और संस्कृत वर्णमालाओंका आविष्कार उन सब अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंके द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणव यन्त्रकी उत्पत्तिके अनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें जो गीतोक्त वर्णनके अनुसार अष्ट प्रकृतिका कम्पन हुआ है, उससे प्रधान अष्ट बीजकी उत्पत्ति हुई है। इनके नाम मन्त्रशास्त्रमें, यथा—

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वे ततोऽष्टौ परिकीर्तिताः ।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत् ।।
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम् ।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता ।।

बीज मन्त्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं, यथा—गुरुबीज, शक्तिबीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज, शान्तिबीज और रक्षाबीज। क, ल, ई और मकारसे कामबीजका अनुभव होता है। क, र, ई और मकारसे योगबीजका अनुभव होता है। आ ए और मकारसे गुरुबीजका अनुभव होता है। हकार, रकार, ईकार और मकारसे शक्तिबीजका अनुभव होता है। शकार, रकार, ईकार और मकारसे

रमाबीजका अनुभव होता है। टकार, रकार, ईकार और मकारसे तेजबीजका अनुभव होता है। सकार, तकार, रकार, ईकार और मकारसे शान्तिबीजका अनुभव होता है और हकार, लकार, ईकार और मकारसे रक्षाबीजका अनुभव होता है, योगशास्त्रमें लिखा है—

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कारणब्रह्मणो यथा ।
याभिराविर्भवदिदं कार्यब्रह्म सनातनम् ।।
तथा प्रधानभूतानि बीजान्यष्टौ मनीषिभिः ।
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कार्यरूपस्य ब्रह्मणः ।।

जिस प्रकार कारण ब्रह्मकी आठ प्रकृति है, जिससे कार्यब्रह्म उत्पन्न हुआ है, वैसे ही शब्दब्रह्मके ये आठ बीज आठ प्रकृति हैं। येही प्रधान बीज कहलाते हैं। ये सब प्रकारकी ऊपासनामें कल्याणकारी हैं। शास्त्रान्तरमें इनके नामभेद भी पाये जाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृतिके विस्तारके साथ साथ अनेक मन्त्र निर्णीत किये जाते हैं जो भिन्न भिन्न देवताओंके प्रीत्यर्थ निर्दिष्ट हैं।

शास्त्रमें मन्त्रोंकी असाधारण शक्ति बताई गई है। जिससे भगवान् प्रसन्न, देवता वशीभूत और अनेक प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं, यथा योगशास्त्रमें—

मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्ध्या तपःसिद्ध्या हठान्वितः ।
ऐशी विभूतिमाप्नोति लययोगी च संयमैः ।।
मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम् ।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम् ।।

मन्त्रयोगी मंत्रसिद्धि द्वारा, हठयोगी तपःसिद्धि द्वारा और लययोगी संयमसिद्धि द्वारा ऐसी विभूतियोंको लाभ किया करते हैं। मन्त्रसाधन द्वारा देव देवीगण स्वतः ही वशीभूत हो जाते हैं और मन्त्रयोगकी सिद्धिप्राप्त योगीको संसारके सब वैभव सुलभ हो जाते हैं। श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा लिखा है, यथा—

"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः"

पूर्वकर्मके वेगसे कभी कभी जन्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है, औषधिक द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है और तपस्या और समाधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। प्रकृति श्रीभगवान्की शक्तिस्वरूपिणी होनेसे उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। उस शक्तिका विकाश सूक्ष्मसे स्थूलपर्यन्त समस्त प्राकृतिक पदार्थमें विद्यमान है। प्रत्येक वस्तुकी शक्ति जितनी ही वह वस्तु स्थूलसे सूक्ष्मताको प्राप्त होती उतनी ही विकाशको प्राप्त होती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि अन्तःकरणके विकाशरूप स्थूलदेहमें जितनी शक्ति है, उससे अनेकगुणी शक्ति सूक्ष्मदेह अन्तःकरणमें विद्यमान है। शरीर तीन वर्षमें जहांपर नहीं जा सकता है, मन शरीरसे सूक्ष्म होनेसे इतनी शक्ति रखता है कि एक पलमें ही वहाँपर चला जा सकता है। इस तरह अन्यान्य सूक्ष्म वस्तुमें भी समझ सकते हैं। जलमें जो शक्ति है, जलके सूक्ष्मपरिणामरूप बाष्प तथा बाष्पपुञ्जरूप मेघमें इससे अनेक अधिक शक्ति है, जो बिजलीके रूपसे मेघमालामें विलास किया करती है। जब प्रकृतिके विविध विकारके द्वारा उत्पन्न लौकिक शब्दके भीतर ही इतनी शक्ति विद्यमान है कि, उसके द्वारा मनुष्य वशीभूत होते हैं और केवल मनुष्य ही नहीं राग रागिनीके साथ उसे प्रयोग करनेपर क्रूर सर्प और मदमत्त हस्ती पर्यन्त वशीभूत हो जाते हैं, तो प्रकृतिके विशेष स्पन्दनके द्वारा उत्पन्न दिव्य शब्दोंके भीतर बहुत ही शक्ति होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है; क्योंकि प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्रसमूह प्रकृतिके सूक्ष्मराज्यका परिणाम है इसलिये सूक्ष्म दिव्य नामरूपी मन्त्रोंमें अनन्तशक्तिरूपिणी प्रकृति माताकी अनन्तशक्ति भरी हुई है। जिस प्रकार समस्त सूक्ष्म ब्रह्माण्डप्रकृतिको कँपाकर प्रणव नादकी उत्पत्ति होनेसे उसमें समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिकी अनन्त शक्ति भरी हुई है; उसी प्रकार अन्यान्य जो मन्त्र प्रकृतिके जिस विभागकी शक्ति निहित रहती है। प्रत्येक सूक्ष्मराज्यके विभागके जो अधिष्ठात्री देवता हैं वही उक्त राज्यसम्बन्धीय शक्तिके अधिनायक हैं; क्योंकि बिना दैवी सम्बन्धके शक्तिका प्रयोग

नहीं हो सकता है। पहले अध्यायोंमें सिद्ध किया गया है कि जड़ कर्मके चालक देवतागण हैं। दैवी सहायतासे ही शक्ति उत्पन्न होकर कर्मकी उत्पत्ति तथा कर्मफलकी प्राप्ति होती है। अस्तु, मन्त्रके साथ जब दैवीशक्तिका साक्षात् सम्बन्ध है तो मन्त्रकी सहायतासे यथावत् शक्तिका प्रकाश होना स्वतः सिद्ध है। यही मन्त्रोंसे शक्तिके आविर्भावका विज्ञान है।

जिन अक्षरोंके परस्पर समन्वयसे मन्त्र बनते हैं वे इस तरहसे मिलाये जाते हैं कि जिस प्रकार धातु और रासायनिक पदार्थोंको विचारपूर्वक मिलानेसे उसमेंसे बिजलीकी शक्ति प्रकाश होती है, उसी प्रकार शक्तिमान् उन अक्षरसमूहके सूक्ष्म विचारपूर्वक मिलनेके द्वारा अद्भुत दैवीशक्ति मन्त्रमें प्रकाशित हो जाती है। इसके सिवाय जिस प्रकार शब्दप्रयोक्ताकी प्राणशक्ति और हार्दिक शक्तिके द्वारा शब्दमें अपूर्व शक्ति आ जाती है, जिसके द्वारा श्रोताओंके ऊपर प्रभाव पड़ जाता है, उसी प्रकार साधकके अन्तःकरणकी शुद्धशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और संयमशक्तिके द्वारा मन्त्र प्रयुक्त होने पर उसमें असाधारण शक्ति बन जाती है, जिससे वह मन्त्र चाहे जहाँ पर प्रयोग किया जाय ईप्सित् फल प्रदान किये बिना नहीं रहता है; परन्तु जिस प्रकार शब्दमें शक्ति होने पर भी दुष्ट उच्चारण द्वारा तथा प्राणहीन, हृदयहीन मनुष्यके द्वारा उच्चारित होनेसे एतादृश फल प्राप्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार मन्त्र भी स्वरसे या वर्णसे ठीक ठीक उच्चारित न होने पर तथा मन्त्रप्रयोगकर्त्तामें प्राणशक्ति, संयमशक्ति और हार्दिकशक्तिकी हीनता होनेपर यथार्थ फलको नहीं दे सकता है, परन्तु उल्लिखित किसी प्रकारका दोष यदि न हो और अन्तःकरणकी पूर्णशक्तिके साथ साध्य वस्तुको लक्ष्य करके प्रयुक्त हो तो अवश्यही मन्त्र ईप्सित फलको उत्पन्न करेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। वर्त्तमान समयमें जो अनेक स्थल पर मन्त्र ठीक फल नहीं देता है इसके लिये ऊपर लिखित प्रयोग-दोष हीं कारण है। जिस साधकने पुरश्चरण आदि प्रक्रिया द्वारा मन्त्रचैतन्य करके ठीक ठीक साधन

किया है, वह अवश्य ही मन्त्रशक्तिको अपने अनुकूल करके संसारमें असाधारण दैवी शक्तियोंको प्राप्त करेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। वह अपनी प्राणशक्तिके साथ मन्त्रशक्तिका प्रयोग करके जो चाहे सो कर सकेगा। शास्त्रवर्णित सभी सिद्धियाँ इस तरहसे प्राप्त होती हैं। मन्त्रशक्तिके बलसे दैवजगत् पर प्रभाव डालकर तत्तत् प्रकृतिके अधिनायक देवताको इस प्रकार मन्त्रद्वारा वशीभूत किया जा सकता है और आसुरी प्रकृतिपर विराजमान पिशाच, दैत्य, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि तामसिक शक्तियोंको भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा साधक वशीभूत कर सकते हैं। इसके सिवाय विविध प्रकारकी अस्त्र सिद्धि भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा हो सकती है जैसा कि आर्यशास्त्रमें वर्णित किया गया है। रामायण और महाभारतमें जो दिव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि शस्त्रोंके प्रयोगका प्रमाण मिलता है, सो इसी प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा सिद्ध अस्त्रसमूह है। उन मन्त्र समूहको चैतन्य करके अपनी प्राणशक्तिके साथ शत्रुपर प्रयोग करनेसे प्राणशक्ति और मन्त्रशक्तिसे पूर्ण अस्त्रसमूह लक्ष्यस्थल पर जाकर अवश्य ही ईप्सित फल उत्पन्न करेंगे इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। कोई कोई अर्वाचीन पुरुष अस्त्रसिद्धि पर इस तरह कटाक्ष करते हैं कि, जब मन्त्रमें शक्ति है तो उच्चारण करनेवालोंकी जिह्वा क्यों नहीं जल जाती। उनके इस बालवत् प्रलापपर धन्यवाद है!! सामान्य दृष्टान्तके द्वारा समझ सकते हैं कि जिस प्रकार सूर्य्यकिरणमें दग्ध करनेकी शक्ति होने पर भी जहाँ तहाँ वह शक्ति दग्ध नहीं कर सकती है परन्तु आतसी काँचके द्वारा आकृष्ट होकर जहाँ पर वह शक्ति केन्द्रीभूत (**focus**) की जाती है वहाँ पर ही वस्तुको दग्ध कर सकती है, उसी प्रकार मन्त्रमें शक्ति होने पर भी वह शक्ति मन्त्रमें साधारणरूपसे व्याप्त रहती है परन्तु जिस वस्तु पर लक्ष्य करके अन्तःकरणकी एकाग्रता और प्राणशक्तिके द्वारा वह मन्त्र अस्त्रकी सहायतासे प्रयुक्त होता है, वहीं जलाना, मार देना, मुग्ध कर देना आदि अद्भुत क्रियाओंको कर सकता है। प्रत्येक मन्त्रकी सिद्धि,

साध्य वस्तु पर भावशक्तिके द्वारा केन्द्रीकरण (**focus**) होनेसे तब हो सकती है, जहाँ तहाँ नहीं हो सकती है। जिस साधकके अन्त:करणमें भावशक्ति तथा प्राणशक्तिकी जितनी प्रबलता होगी, मंत्रोंके द्वारा अस्त्रप्रयोग, मंत्रसाधन द्वारा आसुरी शक्ति तथा देवताओंका वशीकरण और श्रीभगवान् तककी भी प्रसन्नता प्राप्ति वह उतना ही कर सकेगा।

मंत्रयोगमें जो नाम तथा रूपके द्वारा साधनकी विधि बताई गई है उसमेंसे दिव्यनाम अर्थात् मन्त्रके द्वारा ऊपर लिखित उपायसे इष्टदेवकी साधना हुआ करती है। इष्टदेवको लक्ष्य करके इष्टदेवमन्त्रका जप तथा उसकी अर्थभावना करते करते साधक जिस प्रकृतिके साथ इष्टदेव तथा मंत्रका सम्बन्ध है, उसमें अपनी चित्तवृत्तिको विलीन कर सकते हैं। जिस प्रकार रूपके अवलम्बनसे भावमें और भाव द्वारा भावग्राही भगवान्में आत्मा विलीन होता है, उसी प्रकार मंत्रसाधन द्वारा मन्त्रमूलक प्रकृति और उस प्रकृतिके अधिनायक इष्टदेवतामें आत्मा विलीन होता है। इस प्रकारसे व्यापक प्रकृतिके साथ मंत्रके द्वारा जितनी अपने आत्माकी एकता होती है उतनी ही व्यापक प्रकृतिकी शक्तिको साधक प्राप्त कर सकता है और अन्तमें मन्त्र और देवताका भेद भूलकर दैवी प्रकृतिमें विराजमान इष्टदेवतामें साधकका आत्मा लवलीन हो भावसमाधिको प्राप्त करता है। जिस नाम तथा रूपके अवलम्बनसे जीव संसारमें बद्ध हो गया था। उसी नाम तथा रूपको दिव्यभावके साथ आश्रय करके जीव इस तरहसे नामरूपनिर्मुक्त ब्रह्मपदको प्राप्त करता है। नामरूपमय मंत्रयोगकी साधनाके द्वारा अन्तमें सविकल्प समाधिरूप महाभाव समाधिको प्राप्त करके साधक चिन्मय निराकार तथा निर्गुण ब्रह्मकी राजयोगोक्त साधनाका अधिकार लाभ करता है जिसके गुरुमार्गप्रदर्शित नियामत षोडशाङ्गके साधन द्वारा अंतमें निर्विकल्प समाधि पदवीको प्राप्त करके साधक मुक्त हो जाता है। यही सकल साधनाका अंतिम फल है।

मंत्रयोगोक्त नाम तथा रूपके आश्रयसे मायाबद्ध जीव किस प्रकारसे माया निर्मुक्त हो सकता है सो ऊपर बताया गया है। अब

नामरूपमय मंत्रयोगोक्त साधनप्रणाली कितने अंगोंमें विभक्त है सो बताया जाता है। मंत्रयोगकी साधनप्रणाली सोलह अंगोंमें विभक्त है, यथा-योगशास्त्रमें—

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोड़शाङ्गानि निश्चितम् ।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोड़श शोभनाः ।।
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम् ।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ।।
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः ।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश ।।

चन्द्रकी सोलह कलाकी तरह मंत्रयोग भी सोलह अंगोंसे पूर्ण है। ये सोलह अंग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, योग, जप, ध्यान और समाधि। नीचे संक्षेपसे प्रत्येक अंगका रहस्य वर्णन किया जाता है।

(१) भक्ति–भक्तिके तीन भेद हैं, यथा-वैधी, रागात्मिका और परा। इन तीनोंका पूर्ण रहस्य पहलेही पृथक् प्रबन्ध द्वारा बताया गया है। भक्त त्रिगुण भेदसे त्रिविध होते हैं, यथा-आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और चतुर्थ ज्ञानी जो त्रिगुणातीत हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें भी लिखा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।

ज्ञानी भक्त ही पराभक्तिका अधिकारी हो सकता है। त्रिगुणभेदसे उपासक तीन प्रकारके होते हैं। ब्रह्मोपासक सबमें श्रेष्ठ है। ब्रह्मबुद्धिसे सगुणोपासक और ब्रह्मबुद्धिसे अवतारोपासक इसी श्रेणीमें हैं। सकामबुद्धिसे ऋषि, देवता और पितरोंकी उपासना करने वाले द्वितीय श्रेणीके हैं। और क्षुद्र शक्तिओंकी उपासना करने वाले तृतीय श्रेणीके हैं। उपदेवता, प्रेतादिककी उपासना इसी निम्नश्रेणीमें समझी जाती है।

(२) शुद्धि–शुद्धिके शरीर, मन, दिक् और स्थान भेदसे चार भेद हैं। वेही स्थानशुद्धि, दिक्शुद्धि कायशुद्धि और आभ्यन्तर शुद्धि कहे जाते हैं।

दिक्शुद्धि

आसीनः प्राङ्मुखो नित्यं जपं कुर्याद् यथाविधि ।
रात्रावुदङ्मुखः कुर्याद् दैवकार्य सदैव हि ।।
दिक शुद्ध्या साधकः सिद्धिं साधने लभतेऽञ्जसा ।
मनश्च वश्यतां यातीत्यतः कार्या प्रयत्नतः ।।

योगसंहिता।

पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख बैठकर नित्य यथाविधि जप करें और रात्रिको उत्तर मुख बैठकर देवकार्य सदा करें। दिक्शुद्धि द्वारा साधकको साधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है और साधकका मन वशीभूत होता है। अत: दिक्शुद्धिका विचार अवश्य रखना चाहिये।

कायशुद्धि

साधन क्रियाके अर्थ मनुष्यको स्नान कार्य सबसे प्रथम करना चाहिये। शास्त्रमें सात प्रकारका स्नान कहा गया है—

मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।
वारुणं मानसं चैव सप्तस्नानं प्रकीर्त्तितम् ।।
आपोहिष्ठादिभि मान्त्रं भौमं देहप्रमार्जनम् ।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ।।
यत्तदातपवर्षेण स्नानं दिव्यमिहोच्यते ।
वारुणं चावगाहः स्यान्मानसं विष्णुचिन्तनम् ।।

योगसंहिता।

मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस—स्नानके सात भेद हैं। 'आपोहिष्ठा' आदि मन्त्र और जल आदिसे जो स्नान किया जाता है, उसको मान्त्रस्नान कहते हैं। शरीरको वस्त्रसे भली प्रकार पोछनेको भौम स्नान कहते हैं। भस्मधारण करनेसे आग्नेय स्नान कहा जाता है। गोरजको शरीर पर लेपन अथवा शरीरमें उसका स्पर्श वायव्य स्नान है। वृष्टिपात होते समय यदि सूर्यका आतप हो, तो उस समय वृष्टिजलमें स्नान करनेसे दिव्यस्नान कहाता है। जलमें डूबकर स्नान करनेसे वारुण स्नान

कहाता हैं और अनन्तसूर्यके समान प्रभायुक्त, चतुर्भुज सत्त्वगुणमय विष्णु भगवान्‌के रूपका ध्यान ही मानसस्नान है। इस प्रकार बाह्यशुद्धि द्वारा आत्मप्रसाद और इष्टदेवकी कृपा उपलब्ध होती है।

स्थानशुद्धि।

गोमयेन यथा स्थानं कायो गंगोदकेन च ।
पञ्चशाखायुतो देशस्तथा सिद्धिप्रदायकः ।।
गोशाला वै गुरोर्गेहं देवायतनकाननम् ।
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं सदा पूतं प्रकीर्त्तितम् ।।

योगसंहिता।

जिस प्रकार गङ्गाजलसे शरीरकी शुद्धि होती है और गोमयसे स्थानकी शुद्धि होती है, उसी प्रकार पञ्चशाखायुक्त स्थान अर्थात् अश्वत्थ, वट, बिल्व, आमलकी और अशोक यह पञ्चवृक्षयुक्त पञ्चवटीके नीचेका स्थान सिद्धियोंका देनेवाला है। गोशाला, गुरुगृह, देवमन्दिर, वनस्थान, तीर्थादि पुण्यक्षेत्र और नदीतीर ये सदाही पवित्र समझे जाते हैं। स्थानशुद्धिके द्वारा पवित्रता तथा पुण्यवृद्धि होती है।

अन्तःशुद्धि।

अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोग, निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति आदि जो गीताजीमें दैवी सम्पत्तिके लक्षण कहे गये हैं, उनके अवलम्बन द्वारा अन्तःशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण निर्मल हुआ करता है। गीतोक्त आसुरी संपत्तिको छोड़कर दैवीसंपत्तिका लाभ करना ही अन्तःशुद्धि है, जिसके द्वारा इष्टदेवका दर्शन तथा समाधिकी प्राप्ति होती है।

(३) आसन–मंत्रयोगमें हितप्रद होनेके कारण प्रधानतः दो आसन लिये गये हें, यथा—स्वस्तिक तथा पद्मासन। आसन भेद, आसनशुद्धि और आसनक्रिया इन तीनोंके द्वारा आसनसिद्धि होती है। सकाम निष्काम विचार, उपासनापद्धति और कामनाके तारतम्यसे आसनभेद निर्णीत हुए हैं। पट्टवस्त्र, कम्बल, कुशासन, सिंहचर्म और

मृगचर्मके आसन अतिशुद्ध कहाते हैं और ये सबही सिद्धिफलके देनेवाले हैं। काम्यकर्मके अर्थ कम्बलासन श्रेष्ठ है; परन्तु रक्त कम्बलनिर्मित आसन ही सबसे उत्तम समझा जाता है। कृष्णाजिन अर्थात् काले मृगके चर्मके आसनसे ज्ञानकी सिद्धि, ब्याघ्रचर्मसे मोक्षकी सिद्धि, कुशासनसे आयुकी प्राप्ति और चैल अर्थात् रेशमके आसनसे व्याधिका नाश हुआ करता है और प्रथम चैल उनके नीचे अजिन और सबसे नीचे कुशासन इस प्रकार गीतोक्त—

''चैलाजिनकुशोत्तरम्''

के क्रमसे आसन निर्माण करनेसे योगसाधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है। पृथिवीको आसन बनानेसे दु:खकी प्राप्ति, काष्ठासनसे दुर्भाग्यका उदय, वंशनिर्मित आसनसे दरिद्रता, पाषाणनिर्मित आसनसे व्याधिकी उत्पत्ति, तृणके आसनसे यशकी हानि, पल्लवके आसनसे चित्तविभ्रमकी प्राप्ति और वस्त्रनिर्मित आसनसे जप, ध्यान और तपकी हानि हुआ करती है, इस कारण ये सब आसन निषिद्ध हैं। सिंहचर्म, व्याघ्रचर्म और कृष्णसारचर्म पर गुरुदीक्षाविहीन गृहीको कदापि बैठना उचित नहीं है। ऐसे आसनों पर गृहस्थगण केवल गुरु आज्ञा पानेसे ही बैठ सकते हैं; परन्तु स्नातक ब्रह्मचारिगणको इन आसनों पर उदासीनके समान बैठना चाहिये। उचित आसन पर बैठकर पृथ्वी इस मंत्रके ऋषिका नाम उच्चारण पूर्वक, यथा-मेरु आदि क्रमसे छन्द आदिका उच्चारण कर-

''आसने विनियोग:''

मंत्रद्वारा आसनकी शुद्धि करके सुखपूर्वक जपपूजा आदि करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है और अन्यथा करनेसे साधनकार्य निष्फल हुआ करता है। इन सब विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(४) पंचांग सेवन—योगशास्त्रमें लिखा है—

गीतासहस्रनामानि स्तव: कवचमेव च।
हृदयं चेति पंचैते पंचागं प्रोच्यते बुधै: ।।

गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय इन्हें विद्वानोंने पंचाङ्ग कहा है। स्व स्व उपासना सम्प्रदायके अनुसार गीता और स्व स्व पद्धतिके अनुसार सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदयके प्रतिदिन पाठ करनेसे योगी कल्मषरहित होता हुआ योगसिद्धिको प्राप्त करता है। पंचोपासनाके अनुसार गीता पांच हैं—भगवद्गीता, (विष्णुगीता) गणेशगीता, (धीशगीता) भगवतीगीता, (शक्तिगीता) सूर्यगीता और शिवगीता (शम्भुगीता) इसी प्रकार सहस्रनाम भी पृथक् पृथक पांच हैं और अनेक पद्धतिके अनुसार स्व स्व उपासनामूलक स्तव, कवच और हृदय अनेक हैं, सो साधकका गुरूपदेशद्वारा प्राप्त करने योग्य हैं। सब गीताओंमें जगज्जन्मादिकारण विचारसे एक अद्वितीय ब्रह्मके विचित्र भावमय विज्ञानका वर्णन किया है, क्योंकि पञ्चोपासना ब्रह्मोपासना ही है।

(५) आचार–योगशास्त्रमें लिखा है—

आचारस्त्रिविधः प्रोक्तः साधकानां मनीषिभिः ।
दिव्यदक्षिणवामाश्चाधिकाराः सप्त कीर्त्तिताः ।।
सप्ताधिकारा विदुषः साधकस्य मता इमे ।
दीक्षा ततो महादीक्षा पुरश्चरणमेव च ।।
ततो महापुरश्चर्याऽभिषेकस्तदनन्तरम् ।
षष्ठो महाभिषेकश्च तद्भावोऽन्तिम ईरितः ।।

साधकोंके अर्थ त्रिविध आचारोंका वर्णन आचार्योंने किया है. यथा—दिव्य, दक्षिण और वाम। और साधकके अधिकार सात कहे गये हें, यथा दीक्षा, महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक, महाभिषेक और तद्भाव। आचारोंके विषयमें वर्णन पहले ही तन्त्रप्रकरणमें बहुत कुछ किया गया है। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। अब साधकके साथ अधिकारोंका वर्णन किया जाता है। जब गुरुदेव कृपा करके शिष्यको देवता तथा मन्त्रका उपदेश दें, तो वह संस्कार दीक्षा कहाता है। तदनन्तर साधकको उपयुक्त समझकर जब गुरुदेव साधनके साथ गुरुलक्ष्ययुक्त

योग क्रियाओंका उपदेश देना प्रारंभ करते हैं और शिष्यको प्रतिज्ञाबद्ध कर दिया करते हैं, तो वह दूसरा उन्नत अधिकार महादीक्षा कहाता है। जिस गुरुलक्ष्ययुक्त साधन द्वारा साधक क्रमशः मंत्रसिद्धिको प्राप्त करता है, उसे पुरश्चरण कहते हैं। ग्रहण आदि शुभकालोंमें जो साधारण रीति पर मंत्रपुरश्चरण किया जाता है वह क्रिया पुरश्चरण शब्दवाच्य है और विशेष क्रियासाध्य, कालसाध्य और उपदेशसाध्य जो पुरश्चरण होता है, उसको महापुरश्चरण कहते हैं। पुरश्चरण द्वारा सिद्धिलाभ करनेसे साधक उन्नत अधिकारोंको प्राप्त हो जाता है। जब गुरुदेव शिष्यको साधन सम्बन्धीय गुप्त रहस्योंके उपदेश देनेके उपयोगी समझते हैं, तो संस्कारोंके प्रदान द्वारा गुरुदेव उस शिष्यको गुप्त रहस्योंके भेद बताकर आनन्दराज्यका अधिकारी किया करते हैं। उस विधिको अभिषेक कहते हैं। पञ्चदेवात्मक पञ्चसम्प्रदायोंमें इस अभिषेकके स्वतन्त्र स्वतन्त्र नाम सुननेमें आते हैं। जब श्रीगुरुदेव उन्नत तम-संस्कार द्वारा साधकको अपने समान करके अपनेमें मिला लेते हैं, उसको महाभिषेक कहते हैं। कहीं कहीं इसको पूर्णाभिषेक भी कहा करते हैं। आध्यात्मिक उन्नति द्वारा जब उपासक सर्वोच्च अवस्थाको प्राप्त करके नामरूपकी ऐक्यता प्राप्त करनेको समर्थ होने लगता है, उसी सर्वोत्तम अधिकारको तद्भाव कहते हैं। इस भाव द्वारा साधककी अपने इष्टदेवके साथ एकता स्थापन होने लगती है और इसी अवस्थासे महाभावकी प्राप्ति हुआ करती है। इन सभीका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(६) धारणा–बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे धारणा दो प्रकारकी होती है। मन्त्रयोगमें धारणा परम सहायक है। बहिः पदार्थोंमें मनके योगसे बहिर्धारणाका साधन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्जगत्के विषयोंमें मनके योगसे अन्तर्धारणाका साधन होता है। धारणाकी सिद्धि श्रद्धा और योगमूलक हैं। योगशास्त्रमें लिखा है—

भक्तिर्जपस्य संसिद्धिराचारः प्राणसंयमः ।
साक्षात्कारो देवताया दिव्य देशेषु नित्यशः ।।

देवशक्तिविकाशो वैऽभीष्टदर्शनमेव च।
लभ्यन्ते धारणासिद्ध्या सर्वाणीति विनिश्चयः।।

धारणामें सिद्धि प्राप्त करनेसे योगी मन्त्रसिद्धि, भक्ति, आचार, प्राणसंयम, देवतासान्निध्य, दिब्यशक्तिका आविर्भाव और इष्टरूपदर्शन, यह सब प्राप्त करते हैं। मंत्रमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये मन्त्रोंका संस्कार और मन्त्रचैतन्य करना होता है, जो निम्नलिखित दश प्रकारसे हो सकता है। सरस्वती तन्त्रमें लिखा है—

मन्त्रार्थ मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति' यः।
शतकोटि जपेनापि तस्य विद्या न सिद्ध्यति।।

मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्राके न जाननेसे चैतन्यविहीन तथा संस्कारविहीन मन्त्रके शतकोटि जपके द्वारा भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। अत: मन्त्रोंका संस्कार अवश्य करना चाहिये। जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गुप्ति इन दशविध संस्कारोंके द्वारा मन्त्रकी सिद्धि हुआ करती है। योगशास्त्रोक्त मातृकायन्त्र द्वारा मन्त्र वर्णोंके उद्धारको 'जनन' कहते हैं। उद्धृत वर्णोंको पंक्तिके क्रमसे लिखकर प्रत्येक वर्णको प्रणव द्वारा पुटित करके एक एकको शतबार अथवा दश बार जप किया जाय, तो इ प्रकारकी जपक्रियाको 'जीवन' कहते हैं। मन्त्रके वर्णोंको पृथक् पृथ लिखकर 'बं' मन्त्र द्वारा चन्दनोदकसे दश अथवा शतवार ताड़न करनेको मुनिगण 'ताड़न' क्रिया कहते हैं। मन्त्रके वर्णोंको पृथक् पृथक रूपसे लिखकर मन्त्रवर्णोंकी संख्याके अनुसार रक्त करवीर पुष्पों द्वारा 'रं' इस मन्त्रसे मन्त्र वर्णोंको हनन करे तो इस क्रियाका नाम 'बोधन' होगा। मन्त्रवर्णोंको लिखकर मन्त्राक्षर संख्याके अनुसार रक्त करवीर पुष्पों द्वारा 'रं' इस मन्त्रसे एक एक बार वर्णोंको अभिमन्त्रित करके उस मन्त्रोक्तविधानके अनुसार अश्वत्थपल्लव द्वारा मन्त्रवर्णोंकी संख्याके अनुसार अभिसिञ्चित करनेसे अभिषेक क्रिया होती है। सुषुम्नाके मूलभाग और मध्यभागमें मन्त्रचिन्तन करके ज्योतिर्मन्त्र अर्थात् 'ओं ह्रौं' इस

मन्त्रसे मलत्रय दग्ध करनेको 'विमलीकरण' कहते हैं। स्त्रियोंसे जो मल उत्पन्न होता है, उसको 'मायिक', पुरुषोंसे जो मल उत्पन्न होता है उसे 'कार्म्मण' और दोनोंसे जो मल उत्पन्न हो उसे 'आनव्य' कहते हैं। ये मलत्रय साधनके बाधक हैं। तार=ओं, व्योम=ह, अग्नि=र, मनु=औ और दण्डी=म इन सबोंके मेलसे 'ओंह्रौं' हुआ करता है, जिसको ज्योतिर्मन्त्र कहते हैं। मन्त्र वर्णोंको स्वर्णके जलमें, कुशजलमें अथवा पुष्पजलमें पूर्वलिखित रीतिके मन्त्रसे अर्थात् ज्योतिर्मन्त्रसे विधिपूर्वक आप्यायन करनेको 'आप्यायन' कहते हैं। पूर्वकथित ज्योतिर्मन्त्र द्वारा जलसे मन्त्रपर तर्पण करनेको 'तर्पण' कहते हैं। शक्तिमन्त्रको मधुसे, विष्णुमन्त्रको कर्पूरमिश्रित जलसे और शिवमन्त्रको दुग्ध द्वारा तर्पण करनेकी विधि शास्त्रोंमें कथित है। तार=ओं, माया=ह्रीं और रमा=श्रीं इनके द्वारा अर्थात् "ओं ह्रीं श्रीं" इस मन्त्र द्वारा मन्त्रके दीपन करनेको "दीपन क्रिया" कहते हैं। और जिस मन्त्रका जप किया जाय उसे अति गुप्त रखनेको "गुप्ति क्रिया" कहते हैं। यही मन्त्रोंके दशसंस्कार हैं, जिनके द्वारा मन्त्रको संस्कृत और चैतन्ययुक्त करके जप करनेसे साधक इच्छित फलको प्राप्त कर सकता है।

(७) दिव्यदेशसेवन–योगशास्त्रमें लिखा है—

यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
पयोधरान्निःसरतीह केवलम्।
तथा परात्माऽखिलगोऽपि शाश्वतो
विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः।।

जिस प्रकार गौके सर्वशरीरमें दुग्ध व्याप्त रहनेपर भी केवल स्तन द्वारा ही क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्माकी शक्ति सर्वव्यापक होनेपर भी उसका विकाश दिव्यदेशोंके द्वारा ही होता है। योगशास्त्र में सोलह प्रकार के दिव्यदेश कहे गये हैं। यथा—

तन्त्रेषु दिव्यदेशाः षोडश प्रोक्ता यथाऽत्र कथ्यन्ते।
अग्न्यम्बुलिङ्गवेद्यो भित्तौ रेखाःतथा च चित्रं च।।

मण्डलविशिखौ नित्यं यन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च ।
मूर्त्तिर्विभूतिनाभी हृदयं मूर्धा च षोडशैते स्युः ।।

वह्नि, अम्बु, लिङ्ग, स्थण्डिल, कुड्य, पट, मण्डल, विशिख, नित्ययन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय और मूर्द्धा येही सोलह दिव्यदेश हैं। इन दिव्य देशोंमें किस प्रकारसे भगवत्शक्तिका विकाश होता है सो 'विग्रह' या प्रतिमारूप दिव्यदेशमें शक्तिविकाशके प्रसङ्गमें पूर्णरूपसे पहलेही वर्णन किया गया है। साधकके अधिकारानुसार इन दिव्य देशोंमें उपासना करनेका उपदेश उसको प्राप्त होता है। योगसिद्धि प्राप्त करनेमें ये सभी परम हितकर हैं। धारणाकी सहायतासे दिव्य देशोंमें इष्ट देवताका आविर्भाव होता है। मृण्मय आदि मूर्त्तियोंमें प्रथम देवताका आवाहन करके पूजा आरम्भ करना उचित है, परन्तु प्रतिष्ठित देवविग्रह, संस्कृत अग्नि अथवा जलमें आवाहन और विसर्जनकी आवश्यकता नहीं रहती।

(८) प्राण क्रिया–मन, प्राण और वायु ये तीन एक सम्बन्धसे युक्त हैं। वायु और प्राण, कार्य और कारणरूप हैं इस कारण प्राणायाम क्रियाके साथ न्यास क्रियाका एकत्व सम्बन्ध है। प्राणायामके विस्तारित भेद हठयोगके आचार्योंने वर्णन किये हैं, जो आगे बताये जायंगे। मन्त्रयोगमें सहित प्राणायाम ग्रहण किया गया है और सहज प्राणायामका भी उपदेश कोई कोई आचार्य करते हैं। न्यासके कई भेद हैं, उनमेंसे सात प्रधान हैं, जो यथाधिकार गुरुदेवसे सीखने योग्य हैं। साधारण उपासनामें करन्यास और अङ्गन्यास ही उपयोगी होते हैं। विस्तारित उपासनामें ऋष्यादिन्यास और मातृकान्यास अवश्य करणीय हैं। इन सबोंके प्रमाण और विस्तृत वर्णन योगशास्त्रमें द्रष्टव्य हैं।

(९) मुद्रा–योगशास्त्रमें लिखा है—

मोदनात्सर्वदेवानां द्रावणात्पाशसन्ततेः ।
तस्मान्मुद्रेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ।।

मुद्राओंके द्वारा देवताओंका आनन्दवर्द्धन होता है और साधकके पापोंका भी नाश होता है, इस कारण मुनियोंने इनकी मुद्रा संज्ञा की है।

पूजन, जप, ध्यान, आवाहन आदि कार्योंमें उन कार्योंके लक्षणानुसार मुद्राओंका प्रदर्शन करना उचित है। आवाहन आदि नौ प्रकारकी मुद्रा सर्वसाधारणी मानी गई है और षडङ्ग मुद्रा भी सब कामोंके लिये प्रशस्त है। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वेणु, श्रीवत्स, कौतुभ, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड़, नारसिंही, बाराही, हायग्रीवी, धनुष, बाण, परशु, जगन्मोहनिका और काम्यनाभिका, इन उन्नीस मुद्राओं द्वारा श्रीविष्णु भगवान्‌को आनन्द प्राप्त होता है। लिंग, योनि, त्रिशूल, माला, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल और डमरू ये दश मुद्रायें श्रीमहादेवको आनन्दित करनेवाली हैं। श्रीसूर्य उपासनाके अर्थ एकमात्र पद्ममुद्रा ही कही गई है। श्रीगणेशपूजाके अर्थ दन्त, पाश, अंकुश, विघ्न, परशु, लड्डुक और बीजपूरमुद्रा ये सात मुद्राएं वर्णित हैं और पाश, अंकुश, वर, अभय, खड्ग, चर्म, धनु, शर और मूसल ये नौ मुद्रा दुर्गा देवीकी अतिप्रिय हैं। पञ्चोपासनामें विहित इन मुद्राओंके अतिरिक्त अन्यान्य देवदेवियोंके प्रीत्यर्थ भी अनेक मुद्राओंका वर्णन शास्त्रमें पाया जाता है जो विस्तारभयसे नहीं दिया गया। ज्ञानमुद्रा, भक्तिमुद्रा, तपोमुद्रा, कर्ममुद्रा, दानमुद्रा इन सब मुद्राओंसे ऋषिगण प्रसन्न होते हैं। वरमुद्रा और अभयमुद्रा आदिसे ऋषि, देवता और पितर तथा लोकत्रयवासी प्रसन्न होते हैं। प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१०) **तर्पण**–योगशास्त्रमें वर्णन है, यथा—

तर्पणाद् देवताप्रीतिस्त्वरितं जायते यतः ।
अतस्तत्तर्पणं प्रोक्तं तर्पणत्वेन योगिभिः ।।

देवतागण तर्पण द्वारा शीघ्र तृप्त होते हैं, इस कारण इसका नाम तर्पण है। तर्पण निष्काम और सकाम भेदसे दो प्रकारका होता है। कामनाके अनुसार तर्पण करनेके द्रव्य भी स्वतन्त्र होते हैं। तर्पण मन्त्रयोगका एक प्रधान अङ्ग है। इष्ट तर्पणके अनन्तर ऋषितर्पण, अन्य देवतर्पण और पितृतर्पण करनेकी विधि है। तर्पणकी विशेषता यह है कि, विधिपूर्वक तर्पण करनेसे देवयज्ञ भूतयज्ञ और पितृयज्ञ करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अपने इष्टदेवको शीघ्र प्रसन्न करनेकी इच्छा यदि

कोई रक्खे ता विधिपूर्वक प्रतिदिन तर्पण किया करे। मधुसे तर्पण करनेसे सकल अभीष्ट पूर्ण होते हैं, मन्त्रकी सिद्धि होती है और सम्पूर्ण महापातक नष्ट हो जाते हैं। घृतसे तर्पण करनेसे पूर्ण आयु होती है। आरोग्य प्राप्तिके लिये दुग्धसे तर्पण करना चाहिये। नारिकेलजलयुक्त जलसे तर्पण करनेसे लिखिल अभीष्टोंकी सिद्धि होती है इत्यादि इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकार तर्पणके फल आर्यशास्त्रमें वर्णित किये गये हैं।

(११)–हवन-योगशास्त्रमें हवनविधि निम्नलिखित रूपसे वर्णित की गई है—

अर्घ्योदकेन सम्प्रोक्ष्य तिस्रो रेखाः समालि खेत् ।
विधिवदग्निमानीय क्रव्यादिभ्यो नमस्तथा ।।
मूलमन्त्रं समुच्चार्य्य कुण्डे वा स्थंडिलेऽपि वा ।
भूमौ वा संस्तरेद् वह्निं व्याहृतित्रितयेन च ।।
स्वाहान्तेन त्रिधा हुत्वा षड़ङ्गं हवनं चरेत् ।
ततो देवीं समावाह्य मेलेन षोडषाहुतीः ।।

अर्घ्योदकसे भूमिशोधन करके तीन रेखा खींचे और विधिपूर्वक अग्नि लाकर—क्रव्यादिभ्यो नमः इस मन्त्रका तथा मूलमंत्रका उच्चारण करके कुण्डमें, स्थण्डिलमें अथवा भूमिपर व्याहृतित्रयसे अग्नि स्थापन करे। स्वाहान्त मन्त्रसे तीन बार हवन करके षडङ्ग हवन करे और स्व स्व सम्प्रदयानुसार इष्टदेवका आवाहन करके मूलमन्त्रसे षोडश आहुति देवे। इस प्रकार हवन करके स्तुति करे और इन्दुमण्डलमें उसका विसर्जन कर देवे। नित्य होमके द्वारा इष्टदेव प्रसन्न होते हैं, सब देवियोंकी तृप्ति और अभीष्ट सिद्धि होती है। वैष्णव, शाक्त शैव आदि सभी सम्प्रदायोंके साधकोंको नित्य हवन करना उचित है। प्रथम इष्टदेवके प्रीत्यर्थ आहुति देकर अन्य देव देवियोंको इष्टदेवके अङ्गीभूत समझकर उनके संवर्द्धनार्थ भी आहुति प्रदान करना उचित है।

(१२) बलि–इष्ट उपासनामें बिना विघ्नोंकी शान्तिके सफलता नहीं होती। विघ्नोंकी शान्तिके लिये बलिदान किया जाता है। बलिके

साधनमें आत्मबलि सबसे श्रेष्ठ है। आत्मबलि द्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृतकृत्य होता है। बलिके साधनमें काम क्रोधादिक रिपुओंकी बलि द्वितीय स्थानीय हैं। ये सब अन्तर्यागसे सम्बन्ध रखने वाले विषय हैं। पूजाके अनन्तर अवशिष्ट द्रव्य द्वारा जो बलि दी जाय तो इष्टदेवकी प्रसन्नताके अर्थ उत्तम फलोंकी बलि दी जाती है। किसी किसी सम्प्रदायमें यज्ञपशुओंकी बलि देनेकी भी विधि प्रचलित है। ये सब बलिके भेद त्रिगुण भेदसे माने गये हें जिनका वर्णन और स्वरूपनिर्णय पहलेही किया जा चुका है। प्रथम विधिपूर्वक अपने इष्टदेवको बलि समर्पण करके अन्य देवताओंको बलि देवे और भक्तियुक्त साधक तदनन्तर पितरोंके तृप्त्यर्थ बलिदान करे। पुन: भूतोंकी तृप्तिके लिये, श्वा, श्वपच और पक्षियोंके तृप्तिके लिये भूमिपर अन्न रक्खे। यह वैश्वदेव विधि प्रात: और सन्ध्याके समय करना उचित है। प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१३) याग–अन्तर्याग और बहिर्याग भेदसे याग दो प्रकारका होता है। अन्तर्यागकी महिमा सर्वोपरि है। मानस याग, मानस जप और मानस कर्मके लिये कालशुद्धि, देशशुद्धि और शरीरशुद्धिकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती। वह सब समयमें समानरूपसे हो सकता है। षोडश दिव्यदेशोंमेंसे किसी देशके अवलम्बनसे यागका साधन करना उचित है। स्थूलदेशसे सूक्ष्म देश कोटिगुण फलप्रद है। यागकी सिद्धिके अनन्तर जपकी सिद्धिके साथ ही ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानकी सिद्धिसे समाधिकी प्राप्ति होती है। यागकी सिद्धिके द्वारा देवताका साक्षात्कार और दिव्यदेशोंमें इष्टदेवका आविर्भाव भी होता है।

बाह्यपूजामें प्रथम मूलमन्त्रका उच्चारण करके पुन: देयवस्तुका उच्चारण करे। पुन: सम्प्रदानका अर्थात् जिसको वस्तु समर्पण किया जाय उसका उच्चारण करके समर्पणार्थक पदका उच्चारण करे। इस प्रकार सब उपचार देवताको अर्पण करना चाहिये। पूजामें एकविंशति, षोडश, दश और पञ्च, इस प्रकार चार उपचारके भेद योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने किये हैं।

आवाहन, स्वागत, आसन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, माल्य, आर्ति, नमस्कार और विसर्जन ये एक विंशति उपचार हैं। आवाहन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, आरती, प्रणाम, ये षोडशोपचार पूजाकी सामग्री है, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, मधुपर्क, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य ये दश, उपचार हैं। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य, ये पञ्चोपचार हैं। प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१४) जप—योगशास्त्रमें लिखा है—

मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्त्तितः ।
जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः ।।

जो मनन करनेसे त्राण करे उसे मन्त्र कहते हैं, जप करते करते साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सांसारिक विषयोंसे मनको हटाकर मन्त्रके अर्थका अनुगमन करता हुआ और उच्चारणमें न बहुत शीघ्रता और न विलम्ब किन्तु मध्यम वृत्तिसे जप करे। मन्त्रका वार वार आवर्त्तन करनेको जप कहते हैं, वह तीन प्रकारका होता है, यथा-मानस, उपांशु और वाचिक। जिस मन्त्रको जप करनेवाला भी न सुन सके, वह मानसिक जप है। उपांशु जप उसे कहते हैं कि जो जप करनेवालेको सुनाई पड़े और जो मन्त्र वचनसे उच्चारण किया जाय और दूसरेको भी सुनाई पड़े, वह वाचिक जप है। वाचिक जपसे उपांशु जप और उपांशुसे मानस जप श्रेष्ठ है। अति शनैः शनैः जप करनेसे रोग होता है और अति शीघ्रतासे जप करनेसे धनक्षय होता है। अतः परस्परमें मिला हुआ मौक्तिक हारकी नाईं जप करे। जो साधक जप करते समय मन, शिव, शक्ति और वायुका संयम न कर सके, वह चाहे कल्प पर्यन्त क्यों न जप करे परन्तु सिद्धि दुर्लभ ही है। उपासकोंको उचित है कि देवमन्दिर अथवा साधन-उपयोगी पवित्र एकान्त घरमें बैठकर साधन करे। साधन स्थान गोमय, मङ्गजल आदिसे संशोधित रहना उचित है और उत्तम भावपूर्ण चित्रोंसे परिशोभित रहना उचित है

जिससे चित्तमें पवित्रता उत्पन्न हो। साधनगृहमें तामसिक और राजसिक कार्य तथा असत् पुरुषोंका प्रवेश होना उचित नहीं है। मोक्षाभिलाषी साधक गङ्गातट, पञ्चवटी, अरण्य, मशान, तीर्थ आदि प्रदेशोंको स्व स्व सम्प्रदायके अनुसार सेवन करके साधन करें। विशेष सिद्धि लाभ करनेकी इच्छा हो, तो भूगर्त्तमें योगगुहा बनाकर निरुपद्रव हो साधन करें।

विशेष प्रकारसे पुरश्चरण आदि द्वारा यदि मन्त्रसिद्धि न हो तो पुनः पूर्ववत् करे। उससे भी यदि न हो तो तृतीय वार करे। उससे भी यदि न हो तो शिवकथित प्रमाण, रोधन, वशीकरण, पीडन, शोधन, पोषण और दाहन इन सात प्रकारके उपायोंको क्रमशः अवलम्बन करें। ये सब उपाय गुरुमुखसे जानने योग्य हैं।

अपनी, स्थानकी, मन्त्रकी, पूजासामग्रीकी और देवताकी शुद्धि जबतक न कर लेवे, तबतक पूजा करना वृथा है। पञ्चशुद्धिरहित पूजा अभिचार मात्र है। स्नान, भूतशुद्धि, प्राणायाम और सकल षडङ्गन्याससे आत्मशुद्धि होती है। संमार्जन, लेपन, वितान, धूप, दीप, पुष्प, माला आदिसे शोभित और विविध वर्णोंसे भूषित करना, इस प्रकारसे स्थान शुद्धि होती है। मूल मन्त्रके अक्षरोंको मातृकावर्णसे संयुक्त करके दो बार क्रम और उत्क्रमसे पाठ करनेसे मन्त्रशुद्धि हुआ करती है। पूजापदार्थको जलसे धोकर और मूलमन्त्रसे विधिपूर्वक अभिमन्त्रित करके धेनुमुद्रा दिखालावे तो द्रव्यशुद्धि होती है। मन्त्रज्ञ साधक मूलमन्त्रसे पीठदेवीका प्रतिष्ठापन करे, पुनः पुष्पमाल्य धूप आदि समर्पण करके जलसे तीन बार उसे प्रोक्षण करनेसे देवशुद्धि होती है। इस प्रकार पञ्चशुद्धि विधान करके पूजा करनी उचित है।

उपासनाभेदसे बीजमन्त्र अलग अलग हैं, यथा—यथा कृष्णबीज, रमाबीज, शिवबीज, गणपतिबीज इत्यादि। ये सब आठ प्रकार मूलबीजसे अतिरिक्त हैं। पुनः बीजके साथ मूलबीज मिलकर अथवा एक बीजके साथ अन्यबीज मिलनेसे मन्त्रोंकी शक्तिका वैचित्र्य उत्पन्न होता है और पुनः मन्त्र शाखा पल्लवसे संयुक्त होनेपर

अन्यभावको धारण करता है। मन्त्रविशेषमें बीज शाखा और पल्लव तीनों होते हैं। शान्ति पुष्प है, इष्ट साक्षात्कार फल है, शाखा और पल्लव केवल भावमय हैं और शक्ति बीजमें निहित रहती है। दृष्टान्तरूपसे कहा जाता है कि जैसे "ओं क्लीं कृष्णाय नमः" इस मन्त्रमें ओं प्रणवरूप सेतु है, क्लीं बीज है, कृष्ण शब्द शाखा है और नमः पल्लव है। चित्तवृत्तिकी शान्ति साधकके लिये पुष्परूप है और श्रीकृष्णरूप इष्टदेवका साक्षात्कार फलस्वरूप है, यही मन्त्रविज्ञानका गूढ़ रहस्य है। कोई कोई मन्त्र बीजरहित और शाखापल्ल्वसे युक्त रहता है वह भावप्रधान मन्त्र कहा जाता है। साधकका प्रकृति, प्रवृत्ति उपासनाधिकार और चित्तसंवेगकी परीक्षा करके मन्त्रोपदेश देनेपर अवश्य ही साधकको पूर्ण फलकी प्राप्ति होती है। उपनिषद् और मन्त्रशास्त्रोंके ज्ञाता योगी ही मन्त्रका विस्तार ज्ञात करने और यथाधिकार उपदेश देनेमें समर्थ होते हैं। प्रणव, प्रधानबीज, उपासनाबीज, शाखापल्लवसंयुक्तबीज, बीजरहित शाखापल्लवयुक्त मन्त्र, इस प्रकार मन्त्रके पांच भेद हैं। साधककी प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकारकी परीक्षा द्वारा यथावत् मन्त्रोपदेश दिया जाता है। इन विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१५) **ध्यान**–अध्यात्मभावसे ही मन्त्रयोगके ध्यानोंका आविर्भाव हुआ है जैसा कि पहले विशदरूपसे वर्णन किया गया है। मन्त्रशास्त्रके अनुसार योगियोंने विष्णुकी पूजाके विषयमें प्रधानतः सात प्रकारके ध्यान कहे हैं। भगवतीके पूजनमें प्रधानतः चतुर्विंशति प्रकारके रूप और ध्यानकी कल्पना है। महादेवकी उपासनामें प्रधानतः पांच प्रकारके ध्यान माने गये हैं। सूर्य और गणेशकी पूजामें प्रधानतः दो प्रकारके ध्यान माने गये हैं। अपने अपने इष्टदेवके रूपको मनसे जाननेको ध्यान कहते हैं। ध्यानही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। जैसे जैसे मनुष्य आत्मध्यान करता है, वैसेही वैसे उसको समाधिकी प्राप्ति होती है। आत्मा केवल ध्यानहीके द्वारा वशीभूत होता है। इस प्रकार जिस मनुष्यकी आत्मा, जहाँ प्रसक्त होती है, वहीं उसे समाधि प्राप्त होती है।

नदीका जल जिस प्रकार समुद्रमें जानेसे समुद्रजलसे अभिन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मा ध्यानके परिणाममें तद्भाव प्राप्त करके परमात्मासे अभिन्न हो जाती हैं।

(१) **समाधि**–जिस प्रकार लययोगकी समाधिको महालय और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं, उसी प्रकार मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव कहते हैं। जबतक त्रिपुटी रहती है तबतक ध्यानाधिकार रहता है, त्रिपुटीके लय हो जानेसे महाभावका उदय होता है। मन्त्रसिद्धिके साथ ही साथ देवतामें मनका लय होकर त्रिपुटी नाश होने पर योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है। प्रथम मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध रहता है; परन्तु ये तीनों बोध एक दूसरेमें लय होते हुए ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटी लय हो जाती है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु और रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकाश होता है। क्रमशः मन लय होकर समाधिका उदय होता है। समाधि प्राप्ति द्वारा साधक कृतकृत्य हो जाता है। महाभाव प्राप्ति ही मन्त्रयोगका चरम लक्ष्य है।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुमका तृतीय खण्ड परिपूर्ण।

***